पत्थर के देवता

लेखक :

आर्थर कोयस्लर इगनेज़ियो सिलोने
रिचर्ड राइट आन्द्रे जींद
लूई फिशर स्टीफन स्पैण्डर

अनुवादक :

सीताराम गोयल

प्रकाशक :

प्राची प्रकाशन
१२, चौरंगी स्क्वायर,
कलकत्ता।

प्रकाशक—
प्राची प्रकाशन
१२, चौरंगी स्क्वायर,
कलकत्ता

प्रथम संस्करण
मई, १९५३
मूल्य एक रुपया

मुद्रक :—
उमादत्त शर्मा
रत्नाकर प्रेस
११।ए, सैयदसाली लेन,
कलकत्ता

पत्थर के देवता

पत्थर के देवता

लेखक:

आर्थर कोयस्लर **इगनेज़ियो सिलोने**
रिचर्ड राइट **आन्द्रे जींद**
लूई फिशर **स्टीफन स्पैण्डर**

अनुवादक:

सीताराम गोयल

प्रकाशक:

प्राची प्रकाशन

१२, चौरंघी स्क्वायर,
कलकत्ता

प्रकाशक—

प्राची प्रकाशन

१२, चौरंघी स्क्वायर,
कलकत्ता

प्रथम संस्करण,
मई १९५३
मूल्य एक रुपया
This Pdf: 2016

मुद्रक:—

उमादत्त शर्मा

रत्नाकर प्रेस

११। ए सैयदसाली लेन,
कलकत्ता

दो शब्द

मूल अंग्रेजी पुस्तक की भूमिका ब्रिटेन के वामपक्षी सोशलिस्ट लेखक एवं विचारक मिस्टर रिचर्ड क्रॉसमैन ने लिखी थी। हम उस भूमिका का सम्पूर्ण अनुवाद प्रकाशित करने में असमर्थ हैं, क्योंकि पुस्तक का आकार आशा के विपरीत बड़ा हो गया है। इसलिए हम मिस्टर क्रॉसमैन के व्यक्तिगत विचार यहाँ न देकर केवल सारांश में बता देना चाहते हैं कि यह पुस्तक लिखी जाने की योजना क्योंकर बनी।

मिस्टर क्रॉसमैन एक बार आर्थर कोयस्लर के घर ठहरे हुए थे। राजनैतिक वाद-विवाद में गरम होकर कोयस्लर ने कहा —"या तो आप समझ नहीं सकते या समझना नहीं चाहते। इङ्गलैंड के सभी कूपमण्डूक, आराम-तलब कम्युनिस्ट-विरोधियों की यह हालत है। आपको हमारी भविष्यवाणी से घृणा होती है और हमारा साथी कहलाने में आपको लाज आती है। किन्तु इतना याद रखिए कि आपके पक्ष में हम विगत-कम्युनिस्ट ही ऐसे लोग हैं, जो प्रस्तुत संघर्ष को समझते हैं।"

बातचीत का रुख बदल गया। वे चर्चा करने लगे कि अमुक व्यक्ति क्यों कम्युनिस्ट बना और अमुक व्यक्ति ने कम्युनिस्ट पार्टी क्यों छोड़ी अथवा क्यों नहीं छोड़ी। वाद-विवाद फिर गरम होने लगा, तो क्रॉसमैन ने कहा—"ठहरिए। मुझे ठीक-ठीक बताइए कि आपने जब पार्टी में नाम लिखाया, तब कैसा लगा था। आज आप पार्टी के सम्बन्ध में क्या सोचते हैं, सो मैं नहीं जानना चाहता। उस दिन कैसा लगा था ?"

कोयस्लर अपनी कहानी कहने लगे, तो क्रॉसमैन बोल उठे—"यह सब तो एक पुस्तक के रूप में आपको कहना चाहिए।"

इस प्रकार वे उन विगत-कम्युनिस्टों की चर्चा करने लगे, जो अपनी-अपनी आत्म-कथा कहने के लिए तैयार हो जाएँगे। पहले-पहले तो अनेक नाम उनके सामने आए, किन्तु रात खत्म होने के पूर्व उन्होंने छः लेखकों के

नाम पक्के कर लिए। वे कम्युनिस्ट–विरोधी प्रचार की मात्रा बढ़ाने की नहीं सोच रहे थे। उनका आशय था उस वातावरण का अध्ययन, जिसके कारण १९१७ और १९३९ के बीच कितने ही लोग कम्युनिस्त बने थे। उस वातावरण को कल्पना के बल पर अपने मानस में लौटा लाना प्रत्येक व्यक्ति के बस की बात नहीं। जो लोग आज भी क्रियात्मक राजनीति में लगे हैं, वे तो निश्चय ही ऐसा नहीं कर सकते; क्योंकि उनके आत्म–सम्मान की भावना उनको अपनी भूलें स्वीकार करने की इजाजत नहीं देती। इसलिए उन्होंने उन लेखकों को ही चुना, जो किसी राजनैतिक दलबन्दी में न पड़े हों।

हमें याद रखना चाहिए कि रूस की क्रान्ति होने के उपरान्त और स्टालिन–हिटलर समझौते तक, यूरोप तथा अमेरिका के अगणित साहित्यकार, मनीषी एवं बुद्धिवादी लोग कम्युनिज्म से आकर्षित हुए थे। प्रथम महायुद्ध ने यूरोप के आत्म–विश्वास पर भारी चोट मारी थी। उसके पश्चात् १९२९–३० की मन्दीने पूँजीवाद पर टिके यूरोप के गणतन्त्र को हिलाकर प्रायः धराशायी कर दिया था। मुसोलिनी और हिटलर का उदय, स्पेन का युद्ध, अबीसीनिया तथा चेकोस्लोवाकिया की हत्या—ये सब ऐसी घटनाए थीं, जिनका प्रत्युत्तर यूरोप के पुराने उदारवादी सत्ताधीश साहस के साथ नहीं दे सके थे। उदारवाद की असफलताओं से असन्तुष्ट कितने ही आदर्शवादी एक किनारा खोज रहे थे और बहुतों को सोवियत् रूस में एक नव–प्रभात की झलक दिखाई देने लगी। रूस में कुछ सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रयोग हो रहे थे और मास्को एक नए मानव और अभूतपूर्व मानव–समाज की सृष्टि का दावा करता रहता था। उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाली वैज्ञानिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति ने यूरोप के मानस पर एक भावी स्वर्ण–युग की आशा के बीज खूब गहरे बोए थे। विश्वास के पूरे और आँखों के अन्धे अनेक बुद्धिवादी मान बैठे कि वह स्वर्ण–युग रूस की ओर से उनके अपने देशों में आएगा।

एक और भी कारण था। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व रूस यूरोप की महाशक्तियों के लिए एक अछूत देश था। कम्युनिज्म का विरोध करनेवालों

में यूरोप के कट्टर पूंजीवादी, साम्राज्यवादी, फासिस्ट और नाज़ी लोग ही सबसे आगे थे। इस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के कारण भी बहुत से लोगों को रूस और कम्युनिज्म से सहानुभूति हो गई थी।

मास्को के मुकदमों में पहले-पहल स्टालिनशाही का काला चेहरा संसार को दिखाई दिया। १९३५-३८ के बीच स्टालिन ने लेनिन के प्रमुख सहकारियों को मौत के घाट उतार दिया। रूस के जिन लोगों को १९१७ की क्रान्ति और उस समय के आशा-विश्वास की याद थी, उन सभी को स्टालिन ने अपना शत्रु समझ लिया और रूस के भीतर अनवरत चलने वाले हत्या-काण्ड से उड़कर रक्त के कुछ छींटे लौहयवनिका के बाहर भी आ गिरे। इसके बाद स्टालिन ने हिटलर से समझौता करके नाज़ी जर्मनी को महायुद्ध के लिए प्रोत्साहित किया; पोलैण्ड की हत्या में हिटलर का हाथ बँटाकर लूट का आधा माल हड़प लिया तथा फिनलैण्ड जैसे दुर्बल देश पर बलात्कार करने में आगा-पीछा नहीं देखा। यह सब देखकर यूरोप के स्वप्नशील आदर्शवादी लोग, लेखक, विचारक तथा गणतन्त्र और समाजवाद के हिमायती रूस से विमुख हो गए।

१९४१ के जून में हिटलर ने रूस पर आक्रमण करके एक बार फिर रूस के प्रति सहानुभूति का वातावरण पैदा किया। किन्तु इस बार सहानुभूति करने वाले लोग दूसरे थे। चर्चिल ने नतमस्तक होकर मार्शल स्टालिन तथा लाल-फौज को प्रणाम किया और अमेरिका में रिपब्लिकन पार्टी के नेता वैण्डेल विल्की ने मुक्त-कण्ठ से रूस का गुण गान किया। हिटलर से त्रस्त इन लोगों के लिए स्टालिन एक "महान मित्र" बन गया। अमेरिका के पत्रकारों, राजनीतिज्ञों तथा रूस-भक्तों ने उस समय रूस और कम्युनिज्म की तारीफ़ में जिस साहित्य की रचना की थी, वह आज के कम्युनिज्म-विरोधी अमेरिकन-साहित्य से कुछ ही कम होगा।

द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार ने स्टालिन के रूस को आँखें भरकर देखने का अवसर पाया। पूर्वीय यूरोप के देशों को हिटलर से "मुक्त" करने के लिए आगे बढ़ी लाल सेना ने लौटने से इन्कार कर दिया। महायुद्ध के

समय किए हुए अनेक समझौतों को स्टालिन ने अपनी सुविधानुसार माना अथवा ठुकरा दिया। पूर्व जर्मनी, मान्चूरिया, रूमानिया, हंगरी इत्यादि को रूस ने जिस प्रकार लूटा-खसोटा, उसकी तुलना में यूरोप की पुरानी साम्राज्यशाहियाँ राम-राज्य बन गईं। रूस से संचालित यूरोप और एशिया की कम्युनिस्ट पार्टियों ने अचानक रंग बदलकर "क्रान्ति" के नारे लगाने शुरू किए। जापान द्वारा तहस-नहस राष्ट्रवादी चीन रूस के पेट में समा गया। बर्मा, मलाया, फिलिपाइन्ज, हिन्द-चीन इत्यादि में कम्युनिस्टों ने गृह-युद्ध की ज्वाला जलाई। यह था रूस का साम्राज्यवाद।

इसके सिवाय द्वितीय महायुद्ध ने कुछ दिन के लिए रूस की लौह-यवनिका को उठाकर रूस के नारकीय अभ्यन्तर का भी साक्षात्कार शेष संसार को करा दिया। रूस के अनेक नागरिक जर्मनी में कैद होकर आए थे अथवा लाल सेना के सिपाही बनकर रूस के बाहर निकले थे। पहले पहल बाहर का 'पूंजीवादी' संसार देखकर उनकी आँखें खुलीं और उन्होंने समझा कि रूस के सत्ताधीश बरसों से मिथ्या प्रचार कर रहे थे कि रूस के बाहर न रेलगाड़ियाँ हैं, न लिफ्ट, न भोजन, न वस्त्र। जीवन के साधन रूस से अधिक मात्रा में उन लोगों ने देखे, और देखा स्वाधीनता का वातावरण। उनमें से हजारों ने रूस में लौटने से इन्कार कर दिया और रूस के सम्बन्ध में सत्य का उद्‌घाटन किया। इसी प्रकार के बाहर के लाखों लोगों ने रूसियों के हाथों में पड़कर वहाँ की खुफिया फौज, गुलाम कैम्प तथा व्यापक भुखमरी से परिचय प्राप्त किया। उनमें से जो अभी तक लौट सके हैं, उनकी आपबीतियां भी उसी सत्य-साहित्य का एक अंग है जो पिछले कुछ वर्षों से हमारे सामने आ रहा है। आज यदि कोई रूस को समाजवादी अथवा गणतान्त्रिक देश कहना चाहे तो सिवाय गाली-गलौच के उसको कोई दलीलें ही नहीं मिल सकेंगी। रूस तथा अन्य कम्युनिस्ट देशों में छपे और हमारे फुटपाथों पर रद्दी के दाम बिकने वाले साहित्य का अवलोकन करके कोई भी देख सकता है कि वहाँ गाली-गलौज के सिवाय और क्या-क्या है। खैर।

हमारे देश में भी कम्युनिज्म का एक इतिहास है। १९४२–४५ के पूर्व भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी एक प्रकार से नदारद ही थी। कांग्रेस के भीतर घुसकर और राष्ट्रवादियों तथा समाजवादियों के अज्ञान और ईमान्दारी से लाभ उठाकर कम्युनिस्ट अपनी कुछ खिचड़ी कभी-कभी पका लेते थे। किन्तु देश की जनता में तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्ण-धारों में रूस और कम्युनिस्ट के प्रति सहानुभूति ही थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध हमारे "वन्देमातरम्" के जयघोष में "इन्क़लाब जिन्दाबाद" का रूसी स्वर भी मिल सकता था। उस स्वर का हमारे स्वर से कितना मौलिक मतभेद है, इसका अनुभव हमें सर्वप्रथम १९४२ की अगस्त क्रान्ति के दिनों में हुआ। चर्चिल, एमरी, लिनलिथगो और मैक्सवेल के स्वर में स्वर मिलाकर, "जनयुद्ध" के "रणबाकुरों" ने सहसा एक रहस्योद्घाटन किया—कि राष्ट्रपिता गांधी, जवाहरलाल नेहरू, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया इत्यादि सब "जनता" के शत्रु और न्यूनाधिक मात्रा में "फासिस्ट" हैं। इन्हीं दिनों में स्टालिन के ये सुपुत्र जिन्ना साहब के भक्त बने और पाकिस्तान की ऊटपटांग मांग को सिद्धान्त की रूपरेखा देकर जो धांधली फैलाई, उसका परिणाम तो हम अभी तक भुगत रहे हैं। आज भी अपने आपको उदारवादी और वामपन्थी कहनेवाला प्रत्येक भारतवासी "साम्प्रदायिकता" के भूत से डरकर खुराफात बकता रहता है।

किन्तु हमारी आँखें खुल चुकी हैं। हमने तेलंगाना में कम्युनिस्टों का ताण्डव नृत्य देख लिया है। आज कोई भी सच्चा राष्ट्रवादी अथवा समाजवादी कम्युनिस्टों के मिथ्या प्रचार का शिकार नहीं हो सकता। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि देश के भीतर कम्युनिज्म को पांव टिकाने के लिए तिलभर स्थान नहीं रह गया। आज भी कम्युनिस्ट पार्टी चुनाव लड़ती है और कहीं-कहीं सफलता भी प्राप्त करती है। आज भी कम्युनिस्टों के जलूस निकलते हैं, सभाएं होती हैं। क्यों? इसलिए कि आज भी कम्युनिस्टों को कुछ कठपुतलियां मिल जाती हैं। ये कठपुतलियां कौन हैं?

कुछ लोग कहेंगे कि हमारे किसान, मजदूर तथा निम्न मध्यमवर्ग के लोग कम्युनिज्म से आकर्षित होते हैं। हम कहना नहीं चाहते किन्तु हमें कहना पड़ रहा है कि आँखों के अन्धे ये लोग ही कम्युनिज्म के सबसे बड़े समर्थक हैं। ये लोग अपने आपको चाहे समाजवादी कहें चाहे कांग्रेसमैन चाहे और कुछ। एक झूठा तर्क देकर ये कम्युनिज्म को एक जनवादी सिद्धान्त बना डालते हैं, जब कि वस्तुतः कम्युनिज्म रूस के साम्राज्यवादी षडयन्त्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टी के जेनरल सेक्रेटरी कामरेड अजय घोष ने अभी दो-चार महीने पहले एक लेख लिखा था। उसनें उन्होंने स्वीकार किया है कि—"इधर कुछ दिनों में हमने खूब सफलता पाई है, तो भी मजदूरों और किसानों में हमारा प्रभाव अभी तक न कुछ-सा ही समझना चाहिए।" हमारी समझ में नहीं आता कि एक दिवालिया पार्टी की साहूकारी का ढिंढोरा गैर-कम्युनिस्ट क्यों पीटते हैं?

तो हमारे देश में कम्युनिज्म के समर्थक कौन लोग हैं, जिनकी ओर संकेत करके अजय घोष आत्मतृप्ति अनुभव करते हैं? यह जानने के लिए बहुत मनन और अध्यवसाय की जरूरत नहीं। बस आँखें खोलकर अपने चारों ओर जो दस-पाँच, बीस-तीस कम्युनिस्ट, रूसभक्त अथवा चीनभक्त हैं, उन्हीं को पहिचान लीजिए। यदि आप कलकत्ते, बम्बई जैसे बड़े शहर में रहते हैं तो दो-चार बार कम्युनिस्टों द्वारा आयोजित सिनेमाओं एवं प्रदर्शनियों में जाकर देखिए। कम्युनिस्ट पार्टी ने इस देश में अनेक गुप्त-अड्डे बनाए हैं, जिनमें प्रगतिशील लेखकसंघ, भारतीय गणनाट्यसंघ, महिला आत्मरक्षा समिति, भारत-चीन मैत्रीसंघ, सोवियत-यूनियन मित्रमण्डल इत्यादि को प्रायः सभी जानते हैं। इन सब अड्डों पर नित्यप्रति कुछ-न-कुछ होता ही रहता है। आप भी जाकर सब देख सकते हैं। आपको वहाँ मजदूर किसान नहीं मिलेंगे। वहाँ आप देखेंगे उच्च मध्यमवर्ग के सजधजवाले पुरुष और नारियां जो नई-नई मोटरों पर चढ़कर आते हैं। यही लोग रूस और चीन से थोड़ा सा अनाज लाने वाले जहाजों को माला पहिनाने के लिए दौड़ जाते हैं। इन्ही में से कुछ लोग "भारतीय जनगण के प्रतिनिधि"

बनकर मास्को, पैकिंग, वियना, बुडापेस्ट इत्यादि की सैर करते हैं और संसार को "शान्ति" का सन्देश सुनाते हैं।

ये लोग कौन हैं? ध्यान से देखिए। ये किसान नहीं, मजदूर भी नहीं। प्राय: सभी अंग्रेजी पढ़े-लिखे उच्च मध्यवर्ग के लोग हैं, जिनके हाथ में आज हमारे देश की राज्यसत्ता भी है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को भी पहिचानिए। उनमें अधिकतक जमींदारों, पूंजीपतियों, मन्त्रियों, गवर्नरों, जजों और राजदूतों के बेटे, बेटियां, भानजे, भतीजे इत्यादि हैं। इनमें से अधिकतर तो पैसे के बल पर इंगलैण्ड, अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस इत्यादि में उच्च शिक्षा प्राप्त करके लौटे हैं। इन लोगों ने अपने देश को कभी अपनी आँखों से नहीं देखा, यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और जनता को कभी अपना नहीं माना। अंग्रेजों के राज्य में ये ही लोग साहबियाना ठाटबाट से क्लबों में शराब पीना और जूआ खेलना जीवन कीं चरम उपलब्धि मानते थे। अंग्रेज कमजोर पड़े तो ये लोग हिटलर और जापान के भक्त बन गए। कांग्रेस के हाथ में सत्ता आने पर इन्होंने खद्दर पहिनकर गांधी टोपियाँ लगा लीं। अब कांग्रेस के विरुद्ध कुछ असन्तोष फैल रहा है और लाल चीन का नगाड़ा बज रहा है, तो ये मार्क्सवादी हो गए। सच पूछिए तो इन लोगों की अपनी जात ही नहीं है। जिधर ये लोग शक्ति देखते हैं, उधर ही इनको भगवान भी दीखने लगता है। शक्तिशाली की स्तुति करना ही इनका एकमात्र धर्म है।

हम यह नहीं कहते कि ये लोग ईमान्दारी नहीं। अधिकतर लोग ईमानदार ही हैं। किन्तु ईमान्दारी जब तक मूढ़ रहती है तब तक उसका घातक होना अनिवार्य है। आप पूछेंगे कि विलायत में पढ़े-लिखे लोग मूढ़ क्योंकर? हम कहेंगे, इसलिए कि अपने देश को जानने के लिए ये लोग लन्दन, न्यूयार्क, पैरिस, मास्को और पैकिंग में छपीं पुस्तकें पढ़ते हैं। किसी अंग्रेज ने यदि लिख दिया कि भारतवर्ष असभ्य देश है तो ये मान लेते हैं; 'टाइम' मैगजीन में छप गया कि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन प्रतिक्रियावादी और खूसट व्यक्ति हैं, तो ये टण्डनजी को देखने-सुनने की जरूरत नहीं समझते; स्टालिन ने कह दिया कि भारत स्वाधीन नहीं हुआ बल्कि १९५३ में भी एंग्लो-

अमेरिकन साम्राज्य का उपनिवेश है तो ये सड़क पर चलते-फिरते कुछ श्वेतांग लोगों की ओर उंगली उठा कर अथवा क्लाइव स्ट्रीट की दस-पाँच अंग्रेजी फर्मों के नाम गिना कर बात का अनुमोदन कर देते हैं; पैकिंग के किसी चीथड़े में छप गया कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू अमेरिकन "साम्राज्वाद" के "पागल कुत्ते" हैं तो इन्होंने जैसे वेदवाक्य सुन लिया; मास्को रेडियो ने यदि कह दिया कि नेताजी सुभाषचन्द्र "फासिस्ट गुण्डे" थे, तो इनको भी विश्वास होने लगता है। इन्हीं लोगों का सहारा पाकर बंगला के कम्युनिस्ट मासिक-पत्र "परिचय" को यह साहस हुआ कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ को खुलेआम "मागीर दालाल (वेश्याओं के दलाल)" कह दे। इसीलिए प्रेमचन्द के पुत्र अमृतराय द्वारा प्रकाशित कम्युनिस्ट पुराण "हंस" में योगीराज श्री अरविन्द को "घृणित जँगबाज़" बताया गया। "हंस" के उसी अंक में "कबीर" और "बाणभट्ट की आत्मकथा" के लेखक पण्डित हजारी प्रसाद-द्विवेदी ने कम्युनिस्टों की "शान्ति अपील" पर हस्ताक्षर करके जनता से अपने "पदचिन्हों" पर चलने की अपील की थी।

इन लोगों को सशक्त स्वर में बताना पड़ेगा कि भारत अब स्वाधीन हो गया है और स्वाधीन भारत के लोग अपने भले-बुरे को समझने की क्षमता रखते हैं। हमारे स्वाधीन देश में अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं; हम रूस और चीन की तरह कभी नहीं कहते कि हमारे देश में स्वर्ग आ गया है। किन्तु त्रुटियाँ होने का यह मतलब नहीं कि हम नाराज होकर स्टालिन और माओत्से तुँग को यहाँ बुलाने के लिए दौड़ जाएं। अपने देश में भुखमरी, अन्याय, पाप और दमन देखते रहना तथा रूस और चीन में स्वर्ग की झाँकी पाना—यह एक घातक देशद्रोह है। देशद्रोह करनेवाले अधिक दिन तक जनता से अपनी असलियत नहीं छुपा सकते, भले ही वे अपने-आपको गाँधीवादीं कहें, महात्मा कहलवाएँ अथवा अर्थशास्त्रज्ञ और दार्शनिक बने फिरें।

स्वाधीन भारत के गणतन्त्र में सबको अपनी बात कहने की छूट है। किन्तु उपरोक्त लोग उस छूट का एक ही उपयोग करते हैं—हमारे पुरुषार्थ

को झुठलाना, हमारे नेतृत्व को कोसना। यदि इन लोगों के माथे में आँखें हैं तो इन्हें स्वाधीन भारत में हुई प्रदति के आँकड़े खोजने और समझने चाहिएं। हमने अगणित शरणार्थियों की पुनर्वसति का दायित्व उठाया, जमींदारी को समाप्त किया, सामुदायिक योजनाए और बड़े-बड़े बाँध तैयार किए। हमारा उत्पादन १९४७ से लेकर अभी तक २५ प्रतिशत बढ़ गया और गणतन्त्र का अभूतपूर्व प्रयोग हमने अपने देश में किया। इन सब कामों पर कोई भी स्वाधीन देश गर्व से मस्तक ऊँचा कर सकता है। और ये सब काम करने के लिए हमने रूस और चीन की नाई करोड़ों मनुष्यों के प्राण नहीं लिए।

प्रस्तुत पुस्तक जनता के हाथों में देने का हमारा यही प्रयोजन है कि वे सत्य को जान कर मिथ्या का बहिष्कार कर सकें। और 'सत्यमेव जयते' तो हमारा राष्ट्रीय मन्त्र है ही।

कलकत्ता
२०-४-५३

सीताराम गोयल

पत्थर के देवता
प्रथम भाग

जो कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर रह चुके
उनकी आप-बीतियाँ

आर्थर कोयस्लर

संक्षिप्त जीवनी — इनका जन्म ५ सितम्बर सन् १९०५ में बुडापेस्ट[१] में हुआ था। पिता हँगेरियन थे और माता वीयना[२] की रहनेवाली। दो वर्ष तक पैलेस्टाइन में बेकार घूमने के पश्चात् ये बर्लिन के उदारवादी समाचार–पत्रों के संवाददाता नियुक्त हुए। यूरोप लौट आने पर १९३१ में ये जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर बने और १९३८ में पार्टी छोड़ दी। इसी बीच में ये स्पेन के गृह–युद्ध में भाग लेने के कारण फ्रैंको के कारागार की हवा भी खा चुके थे। इनकी पुस्तक ''स्पेनिश टेस्टामैन्ट'' में इस कारावास का ज़िक्र है।

१९३९ में इनको फ्रांस की सरकार ने गिरफ्तार कर लिया; किन्तु ये निकल भागे और १९४० में ब्रिटिश सेना में भर्ती हो गए। इन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें ''उजाले में अन्धेरा'' तथा ''योगी एवं कमीसार'' अधिक प्रसिद्ध हैं।

---

१. हँगरी की राजधानी। २. आस्ट्रिया की राजधानी।

तर्क द्वारा विश्वास नहीं उपजाया जा सकता। तर्क के बल पर न तो किसी में नारी-प्रेम जागता है और न मन्दिर में जाने की प्रेरणा। विश्वास और प्रेम इत्यादि का सम्बन्ध बुद्धि से नहीं, हृदय से होता है। इसीलिए, यद्यपि बने हुए विश्वासों को बनाए रखने के लिए बुद्धि से काम लिया जा सकता है, किन्तु नए विश्वासों को जगाने के लिए तो अन्तर में उथल-पुथल होनी चाहिए। अन्यथा बुद्धि के पैंतरे बेकार जाते हैं। विश्वास एक वृक्ष की नाईं उगता और पनपनाता है। उस वृक्ष की शाखाएँ बेशक आकाश की ओर फैली हों, उसकी जड़ें तो व्यक्ति के निगूढ़ मानस में ही रहती हैं। उस निगूढ़ मानस तक तर्क की पहुँच नहीं हो पाती। वहाँ तो मानव-जाति के युग-युगान्तर के संस्कार ही राज्य करते हैं।

इसलिए मैं नहीं कह सकता कि मैं बुद्धि से सोच-विचार कर कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर बना। वस्तुत: मैं एक बिखरती हुई समाज-व्यवस्था के बीच रहता हुआ किसी नए विश्वास की खोज में था। मार्क्स[१] और लेनिन[२] का नाम सुनने के बहुत दिन पहिले ही मेरे अन्तर में कम्युनिज्म के अंकुर फूट आए थे। जिस युग में वे अंकुर मेरे अन्तर में फूटे, उस युग में और भी अनेकों ने कम्युनिस्ट बनने की प्रेरणा पाई थी। इस प्रकार मेरी कहानी वास्तव में मुझ अकेले की कहानी नहीं है। इसीलिए मैं अपनी आप-बीती सुनाने का साहस भी कर रहा हूँ।

मेरे जन्म से लेकर १९१९ तक मेरा परिवार बुडापेस्ट में रहता था। उस साल में हम वीयना चले आए। प्रथम महायुद्ध तक मेरा परिवार भी यूरोप के अनेकों मध्यवित्त परिवारों की तरह खूब खुशहाल था। मेरे पिता हँगरी में कई जर्मन और ब्रिटिश कारखानेदारों के एजेण्ट थे। १९१४[३] में अचानक सब कुछ स्वाहा हो गया और फिर पिताजी नहीं सँभल पाए। उन्होंने कई बार सँभलने

---

१. कम्युनिज्म के जन्मदाता, एक जर्मन यहूदी।

२. रूस में १९१७ की क्रान्ति के कर्णधार।

३. प्रथम महायुद्ध।

का प्रयत्न किया, किन्तु बार–बार पराजित होने के कारण अन्त में आत्म–विश्वास भी गँवा बैठे। इक्कीस वर्ष की अवस्था में मैंने परिवार छोड़कर रोज़गार खोजा और तबसे मैं ही अपने परिवार का आर्थिक स्तम्भ रहा हूँ।

जिस समय हमारी आर्थिक अवस्था बिगड़ी, मैं नौ साल का था। तब तक खेलने–खाने में दिन बिताए थे। अचानक मुझे जीवन की ठोस समस्याओं का ज्ञान होने लगा। माता–पिता के लाड़–प्यार में कोई अन्तर नहीं आया, किन्तु मैं उनकी दयनीय अवस्था को समझने लगा था। मेरे पिता अत्यन्त उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। उनका कष्ट देखकर मुझे रुलाई आ जाती थी। उस दीन–दशा में जब भी वे मेरे लिए पुस्तकें और खिलौने खरीद लाते थे, तो आत्म–ग्लानि से मेरा सिर झुक जाता था। जब मैं कमाने लगा, तब भी अपने लिए सूट सिलवाते हुए मेरा मन मैला हो जाता था। मैं नहीं चाहता था कि घर खर्च भेजने में मेरी ओर से कभी भी कमी हो। साथ–ही–साथ मुझे अमीर लोगों से नफरत–सी हो चली। इसलिए नहीं कि वे मनचाही चीज़ें खरीद सकते थे, बल्कि इसलिए कि उनको रुपया खर्च करते समय मन मैला करने की आवश्यकता नहीं होती थी। इस प्रकार अपने मन की कुढ़न को मैंने समाज की विडम्बना बना डालने की तैयारी कर ली।

मेरी इस वेदना ने कई वर्ष तक किसी राजनीतिक मतामत का रूप धारण नहीं किया। किन्तु एक उथल–पुथल–सी मन में रहने लगी। जब–जब मैं गरीबों के बच्चों को देखता अथवा अपने पिता के पुराने कर्मचारियों की फाक़ामस्ती की बात सुनता, तब–तब मेरी आत्म–ग्लानि की मात्रा बढ़ने लगती। शायद मानस–शास्त्री कह दे कि मेरी आत्म–ग्लानि का कारण मेरे परिवार की दरिद्रता नहीं, बल्कि कोई और गहरा मानसिक द्वन्द्व था। किन्तु मैं इतना अवश्य कहूँगा कि इसी आत्म–ग्लानि ने मुझे आर्थिक प्रश्नों पर विचार करने की प्रेरणा दी।

इन्हीं दिनों मैंने सुना कि बाजारों में दर कायम रखने के लिए गेहूँ जलाया जा रहा है, फल नष्ट किए जा रहे हैं और जानवरों को पानी में डुबाकर मांस का उत्पादन घटाया जा रहा है। यह सब इसलिए कि पूँजीपतियों के मुनाफे में

कमी न होने पाए और उनकी ऐश-अय्याशी में खलल न आ जाए। समस्त यूरोप भूखों के करुण-क्रन्दन से त्राहि-त्राहि कर रहा था। अपने कमीज की फटी हुई बाहें मुझसे छुपाने के लिए पिताजी अपने हाथ मेज के नीचे कर लेते थे। यह सब मेरे सहन की सीमा के पार था। विद्रोह की ज्वाला ने मुझे आत्मसात् कर लिया। कम्युनिस्टों का अन्तर्राष्ट्रीय गान गाते समय मेरा मन गवाही देता था कि मैं संसार के पूंजीपितयों की भर्त्सना कर रहा हूँ।

हमारी तरह ही यूरोप के अधिकतर मध्यवित्त लोग बरबाद हो चुके थे। यूरोप का पतन शुरू हो रहा था। मध्यम श्रेणी के लोग विद्रोह कर उठे और उन्होंने दक्षिण अथवा वाम-पन्थी राजनीतिक दलों का आश्रय लिया। इस सामाजिक उथल-पुथल का हिटलर एवं स्टालिन ने प्राय: बराबर-बराबर फायदा उठाया। जिन्होंने यह मानने से इन्कार कर दिया कि सब कुछ खोकर वे मजदूरों की अवस्था में पहुँच गए हैं और जो अपनी कुलीनता के मुरदे से चिपटे रहे, वे नाज़ी पार्टी में भर्ती होकर वरसाई सन्धि[१] और यहूदियों को कोसने लगे। बहुतों से इतना भी नहीं बन पड़ा और वे एक छिन्न-भिन्न वर्ग के खण्डहर बने यूरोप के इतिहास से लुप्त हो गए। इसके विपरीत कुछ लोगों ने वाम-पन्थ का आश्रय लिया और मार्क्स की उस भविष्य-वाणी को पूरा किया, जिसके अनुसार मध्यवित्त के लोग धीरे-धीरे बरबाद होकर मजदूर वर्ग में नया जागरण उपजाते हैं। इन्हीं दिनों में मैंने भी मार्क्स का घोषणा-पत्र[२] पढ़ा। इसके पूर्व दो वर्ष तक भूखों मरकर भी मैं यह समझता रहा था कि शीघ्र ही मेरे भाग्य में परिवर्तन आएगा। कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र पढ़ने के समय तो मैं फिर से कमाने-खाने लगा था।

मार्क्स और एंजेल्स[३] के शब्द पढ़कर मेरे मानस में एक नई आशा उठने लगी। बुद्धि आनन्द से विभोर हो गई। मेरे मध्यवित्त संस्कारों के बन्धन ढीले

१. प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी पर लादी हुई सन्धि।

२. १८४८ में लिखा यह घोषणा-पत्र मार्क्सवाद की आधारशिला है।

३. मार्क्स के अन्तरंग मित्र, इंग्लैण्ड के कारखानेदार। मार्क्स के सिद्धान्तों तथा कार्यो के विकास में इनका हाथ सदैव रहता था। कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र के ये भी सहसम्पादक थे।

पड़कर खुलने लगे। आज जब कि मार्क्सवादी दर्शन एक 'पोप लीला' बनकर रह गया है और जब कि मार्क्स का कार्यक्रम भ्रष्ट होकर कुछ का कुछ बनता जा रहा है, उस आत्म-तृप्ति और भावना की अनुभूति लौट नहीं पाती। इसलिए इतना ही कह सकता हूँ कि १९१४ के पूर्व का हमारा संसार तहस-नहस हो जाने के उपरान्त हमारे पास यह नए जीवन का संकेत देवदूत बनकर आया होगा। १९३१ में मैं कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बन गया।

मैं अकेला नहीं था। १९३० और १९३९ के बीच यूरोप के अनेक बौद्धिक, दार्शनिक और साहित्यिक महारथी उस ओर बह गए थे। फ्रांस में बारबूस, रोम्यांरोलाँ, आन्द्रेजीद और मालरो; जर्मनी में पिस्काटर, बेख़र, रेन, ब्रेख्त्, ईज्लर, सैघर्ज इत्यादि; इंग्लैण्ड में औडन, ईशरवुड, और स्पैण्डर; अमरीका में डोस् पैसोस्, अपटन सिंकलेअर और स्टाइनबैक — सबने चाहे कम्युनिस्ट पार्टी में दीक्षा नहीं ली, तो भी सबकी सहानुभूति उसी ओर थी। उन दिनों प्रगतिवादी लेखकों की सभाएं जुड़तीं, नाटक खेले जाते, शान्ति के लिए और फासिज्म के विरोध में समितियों का गठन होता, और रूस के साथ मेल-जोल बढ़ाने के लिए रूस में बने सिनेमा देखे जाते तथा पत्र-पत्रिकाएं पढ़ीं जाती। महायुद्ध के परिणाम स्वरूप क्लान्त, बाजारों की मन्दी तेजी के कारण आलोड़ित, बेकारी और अविश्वास से जर्जर, यूरोप एक किनारा खोज रहा था। उसी समय पूर्व के आकाश में एक आशा का तारा चमक उठा और उसी पर आँखें जमा कर हम स्वर्णभूमि की खोज में चल निकले।

मैं उन दिनों बर्लिन[१] में रहता था। पाँच वर्ष तक विविध स्थानों में उल्स्टाइन समाचार-पत्रों की सेवा करने के बाद मुझे बर्लिन स्थित हैड ऑफिस में सम्पादक मण्डली का सदस्य बना लिया गया था। उनके पांच दैनिक तथा एक दर्जन से अधिक साप्ताहिक एवं मासिक पत्र-पत्रिकाएँ बर्लिन से प्रकाशित होते थे। इसके अतिरिक्त उनका अपना संवाद-प्रतिष्ठान, यात्रासहायक प्रतिष्ठान एवं पुस्तक प्रकाशन का बहुत बड़ा काम था। उल्स्टाइन परिवार के पाँच भाई मिल-जुलकर सब चलाते थे। इस यहूदी

१. जर्मनी की राजधानी।

परिवार में उदारवाद का राज्य था। वे कट्टर राष्ट्रीयता एवं युद्धवाद के सर्वथा विरुद्ध थे। उन दिनों जर्मनी के राजनीतिक मतामत पर इस परिवार का विशेष प्रभाव देखा जाता था। राज–काज के महत्वशील मामलों में भी उनकी सलाह को सुना और माना जाता था। इस परिवार को एक राजकीय विभाग कह देना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

१४ सितम्बर १९३०, जिस दिन मैं बर्लिन में पहुंचा, एक अत्यन्त महत्व का दिन था। उस दिन जर्मन धारा सभा का चुनाव हो चुका था, जिसके फलस्वरूप नाज़ी[१] पार्टी के प्रतिनिधियों की संख्या चार से एक सौ सात हो गई। कम्युनिस्ट प्रतिनिधियों की संख्या भी बढ़ी। किन्तु गणतन्त्रवादी दलों का कचूमर निकल गया। वाइमर प्रजातन्त्र[२] अन्तिम सांसें ले रहा था। जर्मनी के लिए नाज़ी अथवा कम्युनिस्ट बनने के सिवाय कोई चारा नहीं रह गया था।

मैं अपने लेख लिखता रहता था, किन्तु घटनाक्रम द्रुतगति से बढ़ रहा था। जर्मनी के एक तिहाई मजदूर बेकार थे और एक गृहयुद्ध होना अवश्यम्भावी हो चुका था। प्रत्येक व्यक्ति के सामने प्रश्न था कि वह हाथ–पर–हाथ धरे इस गृहयुद्ध के झंकोरों में थपेड़े खाए अथवा कमर कस कर एक पक्ष की ओर से लड़े। समाजवादी[३] दल अपनी अवसरवादिता के कारण मर चुका था। एक कम्युनिस्ट पार्टी ही ऐसी पार्टी दीख पड़ती थी जो कि नाज़ियों का सामना कर सके और उनका मुँह मोड़ दे। कम्युनिस्टों की पीठ पर सोवियत् रूस का हाथ था। किन्तु मैंने इस प्रकार हार–जीत का हिसाब लगा कर कम्युनिस्ट पक्ष नहीं चुना। अपने काम से थक कर मार्क्स, एंजेल्स और लेनिन पढ़ने में मुझे वस्तुतः आनन्द मिलता था। पढ़ते–पढ़ते एक दिन सहसा मेरे विश्वास की भींत खड़ी हो गई। डूबते को मानो किनारा मिल गया।

१. हिटलर द्वारा संगठित दल।

२. प्रथम महायुद्ध के उपरान्त और हिटलर के उदय से पूर्व जर्मन शासन का नाम।

३. सोशलिस्ट पार्टी।

नए विश्वास के पहले दिनों की अनुभूति लेखनी द्वारा आंकी नहीं जा सकती। अन्तर एक आलोक से भर उठता है। जैसे किसी भूल-भुलैया में फँसे हुए व्यक्ति को सहसा बाहर निकलने का रास्ता मिल जाए। समस्त ब्रह्माण्ड की दौड़-धूप एकबारगी समझ में आ जाती है। समस्त प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है, संशय और द्वन्द्व बीते युग की यादगार बन कर रह जाते हैं। उस बीते युग की विश्वासहीन, अज्ञानपूर्ण, निरानन्द घड़ियों को याद करके व्यक्ति सिहरने लगता है। विश्वास मिलने के बाद विश्वासी के मन की शान्ति आसानी से भंग नहीं हो पाती। एकमात्र भय यही रह जाता है कि कभी विश्वास फिरसे टूट कर वह पुनः उसी बीहड़ में न भटक जाए, जहाँ से भाग कर उसने इस शीतल तरुका सहारा लिया था। शायद इसी कारण १९५३[१] के साल में भी कम्युनिस्ट लोग रूस के विषय में कठोर सत्य जान-सुन कर भी, आँखें और मस्तिष्क रखते हुए भी, टससे मस नहीं होना चाहते।

३१ दिसम्बर सन् १९३१ को मैंने जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी में भर्ती होने के लिए आवेदन-पत्र लिख डाला। नया साल आने पर एक नवीन जीवन बिताने की आकांक्षा मुझ में जागी थी। आवेदन-पत्र में मैंने लिख दिया कि पार्टी की चाहे जो सेवा करने के लिए मैं सर्वथा तत्पर हूँ। साधारणतया कम्युनिस्ट पार्टी में भर्ती होने के लिए आवेदन-पत्र लिखने की आवश्यकता नहीं होती। मैंने तो कुछ मित्रों की सलाह से ऐसा किया था। अन्यथा साधारणतया पार्टी के किसी एक सैल का[२] मेम्बर बन कर ही पार्टी में भर्ती होने का रिवाज है। सैल दो प्रकार के होते हैं। किसी कारखाने, आफ़िस अथवा अन्य व्यवसाय में काम करनेवालों का सैल वर्कशाप सैल कहलाता है और किसी मोहल्ले के निवासियों का सैल स्ट्रीट सैल, चाहे मोहल्ले के विभिन्न काम ही क्यों न करते हों। अधिकतर मजदूर दोनों प्रकार के सैल में मेम्बर बन जाते हैं। जहाँ

---

१. लेखक ने १९४९ वर्ष कहा है, जब कि उन्होंने लिखा था। १९५३ हम कह रहे हैं।
२. स्थानीय शाखा।

वे काम करते हैं, वहां के वर्कशाप सैल में और जहाँ उनका घर होता है वहां के स्ट्रीट सैल में। कम्युनिस्ट पार्टियों की यह संसार–व्यापी व्यवस्था है। कोई कम्युनिस्ट चाहे कितना ही ऊँचा स्थान क्यों न रखता हो, उसे एक सैल का मेम्बर होना ही पड़ता है। हमें बताया गया था कि मास्को की क्रैमलीन (जहाँ स्टालिन तथा रूसी सरकार के अधिकारी रहते हैं) में भी एक वर्कशाप सैल है; जिसमें पोलिटब्यूरो (रूसी पार्टी का नीति बनानेवाली समिति) के मेम्बर, सन्तरी और नौकर–चाकर एक साथ बैठकर चर्चा करते हैं। वहां स्टालिन भी यदि अपना चन्दा इत्यादि देना भूल जाए, तो सैल का मामूली–सा सदस्य उसके विरुद्ध शिकायत कर सकता है।

जिस मित्र ने मुझे पार्टी में भर्ती होने के लिए प्रोत्साहन दिया था, उसका पूरा नाम मैं नहीं बताना चाहता। बहुत दिन हुए वह स्वयं पार्टी छोड़ चुका है और अब एक ऐसे देश में रहता है, जहाँ कि कम्युनिस्टों का राज्य है। उसके अतीतकाल की बात जान कर कम्युनिस्ट सरकार उसको घोर मुसीबत में डाल सकती है। इसलिए मैं उसे मित्र ही कह कर काम चलाऊंगा। मित्र ने मुझे एक साधारण सैल में प्रवेश पाकर पार्टी का मेम्बर बनने से मना किया। मित्र स्वयं एक प्रसिद्ध राजनीतिक लेखक था। एक मिस्तरी की शागिर्दी करते–करते वह पढ़ने का शौकीन हो गया और रातों में जाग कर उसने बहुत–कुछ पढ़ डाला था। वह मार्क्स और लेनिन को आद्योपान्त जानता–समझता था और उसके साथ चर्चा करके किसी का भी प्रभावित हुए बिना रहना कठिन बात थी। उसने समझाया कि यदि मैंने सैलका मेम्बर बनने की बेवकूफी की, तो बात फैलेगी और उल्स्टाइन परिवार को मेरी हरकत जानने में देर नहीं लगेगी। उल्स्टाइन के समाचार–पत्रों में काम करना पार्टी के लिए अत्यन्त महत्व की बात थी और मैं जल्द–बाज़ी में वह काम खो सकता था। काम पर मेरी दिनोंदिन उन्नति हो रही थी। मैं उल्स्टाइन के प्रमुख राजनीतिक पत्र का विदेश–सम्पादक बन चुका था और इस पद पर रहते हुए मुझे केवल राजनीतिक खोज–खबर पाने का ही नहीं बल्कि राजनीतिक घटनाचक्र पर प्रभाव डालने का भी पर्याप्त अवसर मिला था।

अतः मैंने मित्र के कहने से पार्टी को आवेदन-पत्र भेज दिया। एक सप्ताह बाद मुझे एक टाइप किया हुआ पन्ना मिला, जिस पर भेजने वाले का नाम पता कुछ नहीं था। पत्र में लिखा था : —

महोदय,

आपका ३१ दिसम्बर का पत्र मिला। यदि आप अगले सोमवार को तीन बजे स्टाइडेमुल कागज-कारखाने में हमारी फर्म के प्रतिनिधि हर श्नैलर से मिलने जाएँ, तो हमें खुशी होगी।

आपका

(अस्पष्ट हस्ताक्षर)

यह कागजका कारखाना जर्मनी में विख्यात था, किन्तु मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सका था कि उसका कम्युनिस्ट पार्टी से कोई सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध का क्या स्वरूप था, यह मैं आज भी नहीं कह सकता। हाँ, इतना मैंने देखा कि उस कारखाने के बर्लिन स्थित सारे दफ्तर कम्युनिस्टों की गुप्त मन्त्रणाओं के काम में आते थे। उस समय मैं यह चोरा-छिपी नहीं समझ सका था। फिर भी मैं गर्व से फूल उठा। जब मैं नियुक्त समय पर कागज के कारखाने में पहुँचा और हर श्नैलरसे मिलने का प्रस्ताव किया, तो इन्क्वायरी पर बैठी लड़की ने मुझे खूब घूर-घूरकर देखना शुरू कर दिया। बहुत बार मैंने ऐसे मौकों पर लोगों को घूरते देखा है। जब भी किसी भ्रातभावके प्रदर्शन को भय अथवा संशय के कारण छुपाना पड़ता है, तब ऐसा ही हुआ करता है।

लड़की ने पूछा—"आपका एंर्स्ट से मिलने का समय तय हुआ है क्या।"

"नहीं। मैं हर श्नैलर से मिलने आया हूँ।—मैंने उत्तर दिया।

शायद मेरी मूर्खता ने उसको मेरे ऊपर विश्वास करने की प्रेरणा दी हो। उसने बतलाया कि हर एंर्स्ट श्नैलर के आने में कुछ देर थी और मुझ से बैठकर प्रतीक्षा करने के लिये कहा। मुझे आध घण्टे से अधिक प्रतीक्षा करना पड़ी। प्रथम बार मुझे अनुभव हुआ कि कम्युनिस्ट पार्टी के अधिकारी

लोग ठीक समय पर आने की परवाह नहीं करते। रूस के लोग तो स्वभावतः ही इस विषय में कच्चे हैं और रूसियों की देखा-देखी ही यह आदत समस्त कम्युनिस्ट पार्टियों में फैल गई है।

अन्त में श्नैलर साहब तशरीफ लाए और हम दोनों ने अपना-अपना नाम लेकर एक-दूसरे से परिचय किया। देर से आने के लिये एक झूठी-सी शर्म जताकर वे मुझे सड़क के पार एक होटल में ले गए। वे कोई पैंतीस वर्ष के एक दुबले, हडियल से व्यक्ति थे। उनकी हँसी कुछ बेढंगी-सी थी। व्यवहार और भी बेढ़ंगा। प्रतिपल वे कुछ बेचैन से दीख पड़ते थे। पहले तो मैंने सोचा कि वे पार्टी के कोई मामूली कार्यकर्त्ता होंगे। अभी मुझे यह जानना बाकी था कि श्नैलर साहब सेन्ट्रल कमिटी[१] के सदस्य और पार्टी प्रचार-विभाग के प्रमुख थे। बहुत दिन बाद मैंने यह भी जाना कि वे कम्युनिस्ट पार्टी की चार-पाँच गुप्तचर संस्थाओं में से एक संस्था के भी प्रमुख थे। साधारण पार्टी मेम्बर इन गुप्तचर संस्थाओं के विषय में कुछ नहीं जानता। वे पार्टी से विभिन्न, पार्टी के उच्चाधिकारियों द्वारा अथवा रूस की गुप्तचर पुलिस द्वारा चलाई जाती हैं। श्नैलर की गुप्तचर संस्था जर्मन सेना में जासूसी करती थी या जर्मन कारखानों में, यह मैं आज भी नहीं जानता। श्नैलर को बाद में नाज़ियों ने पकड़कर छः वर्ष का कठोर कारावास दण्ड दिया और जेल में ही वे मर गए अथवा मार डाले गए।

जब मैं कागज-कारखाने के मैले-कुचैले दफ्तर में उस मैले-कुचैले, दुबले-पतले आदमी से मिला करता, तो मैं यह सब बातें नहीं जानता था। मेरे लिये श्नैलर साहब पार्टी से सम्बन्ध स्थापित करने के साधन मात्र थे। उस दिन होटल में उनसे मेरी जो बातें हुईं, उनमें एक-दो मुझे अभी तक याद हैं। उन्होंने बताया था कि वे शाकाहारी हैं और कच्ची तरकारी तथा फल खाकर रहते हैं। मुझे मानों उनके दुबले-पतले होने का कारण मिल गया। जब मैंने पूछा कि उन्होंने अमुक पत्र में मेरा अमुक लेख पढ़ा है या नहीं, तो उन्होंने

---

१. प्रत्येक कम्युनिस्ट पार्टी की एक केन्द्रीय समिति रहती है।

उत्तर दिया कि वे बुर्जुआ[१] पत्र नहीं पढ़ते, उनके लिए पार्टी के पत्र काफी हैं। यह सुनकर मुझे और भी विश्वास हो गया कि पार्टी ने मेरे पास एक संकुचित विचारों वाले तुच्छ व्यक्ति को भेजा है। पार्टी का प्रचार-प्रमुख केवल अपनी पार्टी के पत्र ही पढ़ता है, यह मैं कैसे सोचता? यह बेवकूफी तो मुझे उस दिन जान पड़ी, जब कि श्नैलर का असली भेद मुझ पर खुला।

श्नैलर साहब ने मुझ से बहुत पूछ-ताछ नहीं की। उल्स्टाईन फर्म के भीतर मेरे पद के विषय में वे विस्तार-पूर्वक जानना चाहते थे। मैंने उन्हें बताया कि मैं वह काम छोड़कर केवल पार्टी का प्रचार-कार्य करना चाहता हूँ, अथवा सोवियत रूस में जाकर ट्रैक्टर[२] चलाना चाहता हूं। इस समय रूस में खेती का एकीकरण हो रहा था और रूसी समाचार-पत्रों में ट्रैक्टर चलाने वालों की माँग नित्य-प्रति निकला करती थी। मित्र ने मेरी रूस जाने की बात सुनकर मज़ाक उड़ाया था और समझाया था कि पार्टी के किसी कार्यकर्त्ता से यह कहने पर मुझे मूर्ख बनना पड़ेगा। यह सब बातें, मित्र की राय में, बुर्जुआ स्वप्नशीलता थी, जिससे पार्टी को कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। किन्तु मित्र की बात पर मुझे विश्वास नहीं हुआ था। मैं समझ ही नहीं सकता था कि एक-दो साल रूस में रहकर वहां के समाजवादी नव-निर्माण में हाथ बँटाने की बात किसी प्रकार भी हास्यास्पद हो सकती है।

श्नैलर ने बड़ी नम्रता से मुझे समझाया— "प्रत्येक कम्युनिस्ट का प्रथम कर्त्तव्य अपने देश में विपल्व उठाना है। रूस में जाना और सफल विपल्व की झाँकी पाना तो परम सौभाग्य की बात है। यह अधिकार बहुत दिन तक काम पर चुकनेवाले कम्युनिस्ट नेताओं को ही प्राप्त हो सकता है। अपना काम छोड़ देना भी आपके लिये बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। आप यदि अपना काम करते रहें और अपने राजनीतिक विश्वास के विषय में चुप रहें, तो पार्टी का काम अधिक हो सकता है।" मैंने जानना चाहा कि वह कौन-सा काम था।

---

१. गैर-कम्युनिस्ट व्यक्ति, जाति, देश तथा संस्थाओं के लिये प्रयुक्त कम्युनिस्ट शब्द। फ्रेंच भाषा के इस शब्द का असली अर्थ है, पूँजीवादी व्यवस्था में सत्ता प्राप्त वर्ग।

२. मशीन का हल

आखिर मैं न तो उल्स्टाइन समाचार-पत्रों को कम्युनिस्ट-पत्र बना सकता था और न ही उल्स्टाइन की नीति पर कोई प्रभाव डाल सकता था। श्नैलर ने कहा:— "आपका सोचने का तरीका अधकचरा है। समाचार-पत्र की नीति पर प्रभाव डालने के अनेक तरीके हैं। उदाहरणार्थ आप खूब ज़ोर-शोर से लिख सकते हैं कि चीन पर जापान का आक्रमण संसार की शान्ति के लिये खतरनाक है।" पाठकों को याद रहे कि उस समय रूस भी जापानी आक्रमण के भय से आतंकित था।

श्नैलर ने आगे कहा—"सब बातों पर चर्चा करने के लिए प्रत्येक सप्ताह में एक बार मिल लेना अच्छा रहेगा। आप चाहें तो मैं खुद आ सकता हूं। अन्यथा अच्छा तो यह होगा कि कोई और सदस्य जो मेरी तरह मसरूफ नहीं रहता, किसी भी समय आकर आपसे मिल जाया करे। वह आपको रास्ता दिखाता रहेगा तथा आपके पास पार्टी के काम की जो भी खोज-खबर होगी, वह ले जाया करेगा। पार्टी को शायद जल्दी ही गैर-कानूनी बना दिया जाये। ऐसे समय में आप जैसे लोग जो अच्छे पद पर नियुक्त हैं और जिन पर किसी को सन्देह नहीं, बहुत काम कर सकते है।" फासिज्म और साम्राज्यवाद के विरुद्ध जीवन-मरण की लड़ाई छिड़ी थी। मुझे श्नैलर की बातें जँच गई। आरम्भ में मुझे जो ग्लानि हुई थी वह भी श्नैलर के सुन्दर और सीधे तर्क सुन कर मिट गई। मैंने अगले सप्ताह में मिलने का वायदा किया। उस दिन श्नैलर नए साथी से मेरा परिचय करा देंगे। मेरे पूछने पर श्नैलर ने बताया कि नए साथी का नाम था एडगर।

श्नैलर से बिदा लेने पर मुझे याद आया कि पार्टी में भर्ती होने की बात तो रह ही गई। मैं कम्युनिस्ट बन गया कि नहीं, यह तो अनिश्चित ही रह गया। मैंने भाग कर फिर श्नैलर को पकड़ा और उनसे यह प्रश्न पूछ डाला। वही बेढंगी हँसी हँस कर उन्होंने उत्तर दिया कि यदि मैं हठ करूं तो पार्टी का सदस्य बनाया जा सकता हूं, किन्तु इस शर्त पर कि मेरी सदस्यता की बात गुप्त रहे और मैं किसी सैल का सदस्य न बनूं। पार्टी में मेरा परिचय भी दूसरे नाम से देना होगा। मैंने बात मान ली, किन्तु मुझे दुःख हुआ कि सैल में

जाकर मैं पार्टी के जीवन और वातावरण से घनिष्टता प्राप्त नहीं कर सकूंगा। श्नैलर ने पूछा कि मेरा छद्म नाम क्या रहेगा, ताकि अगली बार वह पार्टी का कार्ड अपने साथ लेता आए। तुरंत ही मेरे मन में जो नाम आया वह था—ईवान स्टा-इनबर्ग। ईवान रूसी नाम था, शायद इसीलिए। स्टा-इनबर्ग मेरे एक मानस शास्त्री मित्र का नाम था, जो मुझे तेलअवीव[१] में मिला था, किन्तु जिसके विषय में कई साल से मैंने कुछ भी नहीं सुना था। वह मित्र सदा मुझे समझाया करता कि मुझे अपनी शिक्षा पूरी करनी चाहिए। यदि शिक्षा पूरी नहीं हुई तो उसके मतमें, मैं सदा आवारा बना फिरूंगा और चाहे कितना ही ऊँचा पद क्यों न प्राप्त कर लूं, लोगों को मुझ में आवारापन की बू आती रहेगी।

एक हफ्ते बाद फिर उसी स्थान पर श्नैलर से मेरी भेंट हुई। किन्तु एडगर के स्थान में उनके साथ एक लड़की थी, जिसका पौला नाम से उन्होंने परिचय दिया। वह एडगर की सहकारिणी थी, सांवली, मोटी-ताजी, एक आँख से भंगी और आयु में प्राय: पच्चीस वर्ष की। श्नैलर ने मुझे समझाया, "पौला आपके और एडगर के बीच समाचार ले जाने-लाने का काम करेगी। एडगर का मिलना कठिन बात है, किन्तु पौला को किसी समय भी टेलीफोन किया जा सकता है। पौला सब समय एडगर तक पहुँच सकती है।" कहने का अभिप्राय यह था कि एडगर का पता-ठिकाना जानने योग्य विश्वास पात्र मैं अभी नहीं बन पाया था।

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि इस समय—जनवरी १९३२ में—जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी पर कोई कानूनी पाबन्दी नहीं थी। श्नैलर इत्यादि कम्युनिस्ट प्रतिनिधि जर्मनी की धारा सभा में बैठते थे, कम्युनिस्ट समाचार-पत्र नित्यप्रति हड़ताल और क्रान्ति की आवाज उठाते थे, कम्युनिस्ट सभाओं पर पुलिस का पहरा रहता था, ताकि नाज़ी लोग उन्हें भंग न कर दें, और पार्टी की अर्ध-सैनिक संस्था आर०एफ०बी० उन चार

१. इज़राइल की राजधानी।

संस्थाओं में से थी, जिनको कानून काम करने का अधिकार देता था। तीन और ऐसी ही संस्थाओं पर क्रमशः नाज़ी पार्टी, राष्ट्रवादियों और समाजवादियों का प्रभुत्व था।

फिर भी पार्टी गैरकानूनी बनने के लिए तैयारी कर रही थी और पार्टी की प्रायः समस्तः कार्यवाही गैरकानूनी थी। पार्टी के नए रंगरूट को ऐसा लगता था, मानो सहसा वह किसी अजीब दुनिया में चला आया है, जहाँ कि अजीब प्रकार के व्यक्ति अजीब-अजीब काम करते रहते हैं। एक तो इन सब आदमियों के पूरे नाम नहीं जाने जा सकते थे। यहाँ सभी एडगर, पौला और ईवान मात्र थे, उनके पैत्रिक नाम अथवा उनका पता-ठिकाना जानना असम्भव था। कुछ ऊलजलूल-सा वातावरण था। एक तो इतनी भारी भाईबन्दी, और दूसरी ओर इतना बड़ा पारस्परिक सन्देह! पार्टी का मानो एक मौन आदेश था—"अपने कामरेड से प्रेम करो, किन्तु उसका विश्वास मत करो। यह तुम्हारे लिए अच्छा है, क्योंकि कामरेड तुम्हें धोखा दे सकता है। यह कामरेड के लिए भी अच्छा है, क्योंकि उसे इस प्रकार किसी को धोखा देने का अवसर नहीं मिलता।" शायद खुफिया संस्थाओं के लिए यह सब जरूरी हो, किन्तु इस बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया कि इस प्रकार के वातावरण में देर तक रहने से व्यक्ति के चरित्र और स्वभाव पर क्या असर पड़ता है। खैर।

श्नैलर से यह दूसरी मुलाकात आखिरी थी। मैंने उनके साथ उसी होटल में जाकर पौला का टेलीफोन नम्बर लिख लिया और दो दिन के बाद मेरे घर पर उसे निमन्त्रित किया। तब श्नैलर ने मेरा पार्टी कार्ड पेश किया। उस पर मेरा नाम ईवान स्टाइनवर्ग लिखा था। श्नैलर ने हाथ मिलाया, तो उसी बेढंगेपन से और पौला की आँखों में भी मेरे प्रति वही अविश्वास था, जिसकी झांकी मुझे सर्वप्रथम कागज के कारखाने वाली लड़की में मिली थी। ये लड़कियां सभी एक ही प्रकार की थीं। सबके वस्त्र अस्तव्यस्त, और मुख की देख-रेख के प्रति अवज्ञा—मानों सुन्दर दीख पड़ने की चेष्टा को वे एक बुर्जुआ रिवाज मान कर तिरस्कृत कर रही हों। किन्तु सबकी आँखों में

एक मुस्तैदी–सी झलकती थी, मानो वे कह रही हों कि उनको मूर्ख बनाना टेढी खीर है।

विदा लेने से पूर्व श्नैलर ने बे–रुखी हँसी हँस कर कहा—"अब आप पार्टी के सदस्य बन गए हैं। अब मुझे और पौला को 'आप' कह कर पुकारने की जरूरत नहीं। हम दोनों को आप 'तू' कह कर पुकार सकते हैं"—गर्व के मारे मेरी छाती फूल गई।

दो दिन बाद पौला और एडगर ठीक समय पर मेरे घर पधारे। वे टैक्सी में बैठ कर आए थे और पौला अपना टाइपराइटर भी लाई थी। एडगर एक साफ–सुथरा, गोरा चिट्टा, तीस वर्ष का हँसमुख नौजवान था। हमारे बीच राजनीतिक चर्चा होने लगी। मुझे पार्टी की नीति पर कुछ सन्देह था। पार्टी हिटलर के विरुद्ध समाजवादी पार्टी से एकता क्यों नहीं कर लेती ? हम समाजवादियों को फासिस्ट इत्यादि कह कर गाली क्यों देते हैं? गाली देने से वे रुष्ठ होते हैं और उनके साथ एकता असम्भव हो जाती है। एडगर ने मुझे बड़े धैर्य के साथ समझाया—"एकता तो कम्युनिस्ट भी चाहते हैं; किन्तु एकता ऊपरसे न होकर नीचे से जनता के बीच होनी चाहिए। समाजवादी नेता तो गद्दार हैं और उनके साथ यदि पार्टी कोई समझौता करे, तो वे निश्चय ही धोखा देंगे। एकता स्थापित करने का एकमात्र तरीका है समाजवादी नेताओं की नकाब फाड़ कर उनका असली रूप उनके अनुयायियों के आगे रखना और जनता को उन नेताओं के धोखे से बचाना।"

एडगर तर्क करना जानता था। पाँच मिनट में ही मैं मान गया कि नाज़ियों के विरुद्ध मजदूरों की दो पार्टियों के बीच एकता की बात उठाने वाला कोई महामूर्ख ही हो सकता है। एडगर ने कहा कि मुझे और कोई संशय हो, तो मैं स्पष्टतया कह सकता हूं। मैंने उसे जता दिया कि मेरे सारे संशय मिट चुके। एडगर ने सुख की सांस ली और मुझसे अनुरोध किया कि यदि मैंने उल्स्टाइन दफ्तर में किसी प्रकार की राजनीतिक चर्चा अथवा कानाफूसी सुनी हो तो उसे बता दूं। मैं बात कहने लगा। बीचमें रोक कर एडगर ने जताया कि यदि मुझे आपत्ति न हो तो पौला अपने टाइपराइटर पर मेरी कही

बातों की रिपोर्ट ले ले। इससे सुविधा रहेगी और समय बच जाएंगा। मुझे कोई आपत्ति नहीं थी।

इसके बाद मैं कई सप्ताह तक हफ्ते में एक-दो बार पौला को रिपोर्ट देता रहा। पार्टी का और कोई काम मैंने नहीं किया। बीच-बीच में एडगर भी आ जाता था और कमरेमें चुपचाप टहलता हुआ सब कुछ सुनता रहता था। मुझे भी किसी से कुछ लिखवाते समय टहलने की आदत है और कई बार हम दोनों एक-दूसरे का रास्ता काटते निकल जाते थे। हमारे बन्धुत्वका यही एक प्रदर्शन था। और किसी प्रकार की घनिष्ठता प्राप्त करने का अवसर पार्टी ने मुझे इन दिनों नहीं दिया।

और पौला ने तो मानों मुंह खोलने की कसम खा रक्खी थी। एकाध बार उसने अपने किसी मित्र को टेलीफोन किया तो भी पूरे शब्द नहीं बोली, कुछ इशारे से करके ही उसने काम चला लिया। टेलीफोन करते समय वह कुछ बदल अवश्य जाती थी, मानों उसमें जीवन पड़ गया हो। मुझे उसके शरीर के प्रति तो कभी आकर्षण हुआ ही नहीं। और मैं जानता था कि मनका गाढ़ा सम्बन्ध मेरे साथ स्थापित करने के लिये पौला तैयार नहीं होगी। मैं तो उसके संसार के बाहर था। मैं पार्टी का सदस्य बनाया गया था सिर्फ इसलिए कि मुझसे पार्टी काम निकाल सकती थी। न जाने पार्टी मुझ पर कहां तक विश्वास करती थी? पौला के लिए तो मैं पूँजीवादी संसार का एक पथ-भ्रष्ट व्यक्ति था। वह कभी मेरे घर कुछ खाने-पीने के लिए राज़ी नहीं हुई। हम होटल में मिले तो वह सदा हठ करके अपने पास से बिल चुकाती थी और एक दिन जब मैंने उसको हाथ धोने के लिए अपना बाथरूम दिखया, तो उसमें टंगे मेरे ड्रैसिंग गाउन को उसने जुगुप्सा की दृष्टि से देखा।

एडगर का व्यवहार कुछ अच्छा था। किन्तु कभी-कभी जब मैंने घर तक पहुँचाने के लिए उसे अपनी कार में बैठाया, तो वह कोई न कोई बहाना बनाकर सड़क पर ही कहीं न कहीं उतर गया। अपना बासा कभी मुझे नहीं दिखाया। होटल में भी जब-जब हम मिले, तो बातें समाप्त होने पर वह पहले उठ कर चला जाता था और मुझ से पाँच मिनट बाद उठने का अनुरोध

कर जाता था। शायद उसे भय था कि कहीं मैं उसके पीछे–पीछे जाकर उसका घर न देख लूँ। एडगर कहता था कि यह सब एहतियात रखना पार्टी के प्रत्येक सदस्य ता कर्त्तव्य है। मुझे इन छोटी–छोटी बातों का ख्याल नहीं होना चाहिए। कुछ दिन बाद मैं स्वयं भी यह सब करना सीख जाँऊगा।

किन्तु मुझे एक पराजय की भावना ने धर दबाया। षड्यन्त्रकारी के रूप में काम करने के लिए स्वीकृति देकर भी मैं पार्टी से घनिष्टता बढ़ाना चाहता था, ताकि पार्टी का काम और भी बखूबी कर सकूँ। किन्तु मैं जितना ही पार्टी के पीछे भागता था, पार्टी उतनी ही मुझसे दूर होती जाती थी। इसलिए किसी तिरस्कृत प्रेमी की तरह मैं नित्यप्रति सोचने लगा कि क्या उपहार देकर, किस नई सेवा द्वारा पार्टी का दिल पिघलाऊं? मैंने अपना काम छोड़कर एक गरीबी का जीवन बिताते हुए रूस की धरती पर ट्रैक्टर चलाने का प्रस्ताव किया था। पार्टी ने उसे बुर्जुआ भावुकता कहकर ठुकरा दिया। मैंने जोर देकर एडगर से कहा था कि मुझे मेरे बनावटी नाम से ही किसी न किसी सैल की मीटिंगों में उपस्थित रहने की आज्ञा दी जाए। किन्तु एडगर को भय हुआ कि मेरा भेद खुल जाएगा और पार्टी के लिए मैं सर्वथा बेकार हो जाऊंगा। हारकर मैंने एडगर से पूछा कि मैं क्या करूं? उसने सोचकर उत्तर देने का वचन दिया। किन्तु सप्ताह पर सप्ताह बीतने लगे और एडगर ने कुछ भी नहीं बतलाया।

इसी समय मेरे समाचार–पत्र में काम करने के लिये एक नवयुवक और नियुक्त हुआ। उसको मैं फान कहकर ही पुकारूंगा। वह एक उच्च–स्थित जर्मन राजदूत का पुत्र था। आयु होगी कोई इक्कीस साल। पत्रकार का काम सीखना चाहता था। वह एक नाममात्र वेतन पर मेरे पत्र के विदेश विभाग में शागिर्दी करने आया था। दो–चार महीने के लिए। वह मेरे पास ही बैठने लगा। हम एक साथ ही काम करते और एक साथ ही खेलते–कूदते थे। हमारी अवस्थाओं में पांच वर्ष का अन्तर तो था ही। शीघ्र ही हम दोनों मित्र बन गए। मैंने उसे मार्क्सवाद पर उपदेश देना शुरू किया और मेरा शागिर्द होने के कारण उस पर असर पड़ने लगा। पन्द्रह–बीस दिन की पढ़ाई

के बाद मुझे विश्वास हो गया कि वह पार्टी की सेवा के लिए तैयार है। मैंने उसे बताया नहीं कि मैं पार्टी का मेम्बर हूँ, किन्तु इतना जता दिया कि पार्टी में मेरे कई मित्र है, जिन तक मैं समय-समय पर राजनीतिक गपशप पहुंचा देता हूं। अपनी जासूसी को इस प्रकार के शब्दों में ढकना अब मुझे खलता नहीं था। मेरी अन्तरात्मा पर नए मज़हब का रंग पूरी तरह चढ़ चुका था।

फान के परिवार में जर्मनी के बहुत से पदाधिकारी और राजदूतों का आना-जाना था। मैंने फान से कह दिया कि कान खोलकर रक्खे और जो-कुछ दिलचस्प गप-शप सुने वह पार्टी की सेवा के लिए मुझ तक पहुँचा दे। उस गपशप में सोवियत रूस के विरुद्ध जर्मनी की सैनिक तैयारी की खबर खास महत्व रखती थी। उस नवयुवक ने बड़े चाव के साथ यह काम अपने सिर ले लिया।

इस प्रकार कुछ दिन तक पौला अपने टाइप-राइटर पर बहुत अच्छी रिपोर्ट ले जाने लगी। मजेदार विदेशवार्ता, सेना सम्बन्धी खबर-खोज, जर्मनी की राजनैतिक दल-बन्दियों में खींच-तान—ये सब मसाला फान आसानी से जुटा देता था। एक बात मुझे अभी तक अच्छी तरह याद है। कई हफ्ते तक कम्युनिस्ट पार्टी कहती रही थी कि जर्मन प्रान्त प्रश्या[१] की समाजवादी सरकार वास्तव में फासिस्ट होने के कारण नाज़ियों के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाना चाहती और नाज़ी लोग खुले आम बलवा करने की तैयारी कर रहे हैं। हम सब यह दलील मान बैठे थे। एक दिन मैंने अपने दफ्तर के एक ऊंचे कर्मचारी से सुना कि अगले दिन प्रातःकाल छः बजे प्रश्या की पुलिस नाज़ियों के अड्डों पर धावा मारकर उनके हथियार और कागज़-पत्र पर कब्ज़ा करेगी और नाज़ी पार्टी पर पाबन्दी लगाई जाएगी। ऐसा ही हुआ। किन्तु जब कि सारे बर्लिन में यह चर्चा हो रही थी कि समाजवादी सरकार और नाज़ी पार्टी के बीच गृह-युद्ध अनिवार्य है, तो कम्युनिस्ट दैनिक-पत्र में वही पुरानी तोता रटन्त ही छपी कि समाजवादी सरकार का तो नाज़ियों से

१. जर्मनी का सबसे बड़ा प्रान्त, जिसकी राजधानी बर्लिन जर्मनी की भी राजधानी है।

गहरा सम्पर्क है। पुलिस जब छापा मार रही थी, तो यह अखबार छप रहा था। इस प्रकार कम्युनिस्टों का काफी मज़ाक बना। मैंने खबर पौला और एडगर तक पहुंचा दी थी, तो भी ऐसा हुआ। मैंने एडगर से कारणा पूछा। उसने समझाया कि समाजवादी-फासिस्टों के सम्बन्ध में पार्टी का एक दृष्टिकोण है, जो ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं से नहीं बदल सकता। मैंने कहा कि पार्टीके अखबार ने पहले सफे पर जो कुछ छापा है, उसका एक-एक अक्षर इस घटना से झूठा हो गया। एडगर मुस्कराया। कहने लगा— "विचार करने का अपना पुराना तरीका तुमसे छोड़ा नहीं गया। एक नए तरीके से सोचने की जरूरत है। तुम्हें समझना चाहिए कि यह पुलिस का धावा वास्तव में दोस्ती को छुपाने का एक षड्यन्त्र है। नाज़ी और समाजवादी नेता एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। लेकिन जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए लड़ाई का दिखावा करते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी जानती है कि मजदूरों के नेतृत्व में समाजवादी पार्टी उसकी घोर शत्रु है।" मुझे उसकी बातें जंच गई। फिर भी मैंने कह डाला कि १९१९ में मजदूरों में जो फूट पड़ी, उसका तो यही कारण था कि कम्युनिस्ट सोशलिस्ट पार्टी से अलग हो गए थे। एडगर ने कहा— "फिर वही बात। यह समझना बहुत जरूरी है कि मजदूरों की सच्ची रहनुमाई केवल कम्युनिस्ट पार्टी ही कर सकती है। १९१९ में सोशलिस्ट पार्टी के भीतर हमारा बहुमत नहीं था। हमारी बातें न मानकर सोशलिस्टों ने हमको उनसे अलग होने पर मजबूर कर दिया। इसलिए मजदूर आन्दोलन में फूट पैदा की सोशलिस्टों ने। हमारी बात मानते रहते तो अलग होने का सवाल ही नहीं उठता।"

इस प्रकार धीरे-धीरे अपनी विचार-शक्ति पर से मेरा विश्वास उठने लगा। रह-रहकर कठोर सत्य पर मेरी आँखें जाती थीं, लेकिन पार्टी की आवाज़ कहती रहती थी कि मुझे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं करना चाहिए, बल्कि जो कुछ पार्टी मुझे दिखाना चाहती है, वही देखने कि आदत डालनी चाहिए। यह एक प्रकार से तो बड़े मजे की अवस्था थी। मुझे सत्य

को जानने-पहिचानने के लिए अब कष्ट उठाने की जरूरत नहीं रह गई। पार्टी को सब कुछ मालूम था। पार्टी की बात हमेशा युक्ति-संगत थी। पार्टी का आदेश निभाना ही एकमात्र कल्याण का मार्ग था। स्वयं इतिहास ने पार्टी को अपना रहनुमा बनाया था और इतिहास की मंजिल भी केवल पार्टी को ही मालूम थी। फिर पार्टी इतिहास को उसकी मंजिल तक ले जाने के लिये जो कुछ भी करे उचित था। वह मंजिल थी मजदूरों का राज्य। भला कोई किस प्रकार पार्टी का विरोध कर सकता था। पार्टी का विरोध करने वाले पुराण-पन्थी और अपने आपको सोशलिस्ट कहने वाले फासिस्ट भी, एक सामाजिक वातावरण के प्रतीक थे। पूँजीवादी समाज की सडांध ही उनके विचारों में पाई जा सकती थी और पार्टी में रहने के बाद जो पार्टी को छोड़कर चले जाते थे, उनकी तो कोई गति ही नहीं थी। वे तो अध:पतन की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। उनसे बात करनो तो दूर उनके मुंह से निकली बात सुनना भी गुनाह था, पार्टी के साथ गद्दारी भी।

जर्मनी में वाइमर प्रजातन्त्र अन्तिम साँसें गिन रहा था और कम्युनिस्ट पार्टी के सब सदस्यों के भाग्य में लिखा था कि शीघ्र ही नाज़ियों की जेलों और बन्दी-शिविरों में बुरी मौत मारे जाएँ; किन्तु हम सब तो अपने अन्ध-विश्वास के कारण एक दूसरी ही दुनिया में रह रहे थे। हमको असली दुनिया से क्या सरोकार था। हमारी आँखों में नाज़ी तो जानवर थे, उनको जनता जानती थी। हमें तो ट्राट्स्की के अनुयायियों और सोशलिस्टों की नकाब फाड़नी थी। १९३१ के चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी ने प्रश्या की सोशलिस्ट सरकार के विरुद्ध नाज़ियों से गुटबन्दी की थी। १९३२ में बर्लिन के यातायात मजदूरों की हड़ताल में भी वैसी ही मित्रता निभाई गई। कुछ दिन पहले कम्युनिस्ट नेता हाञ्ज न्यूमान ने नारा उठाया था कि नाज़ी जहाँ मिले, वहीं उसका खून पी लो। न्यूमान को उनके पद से हटा दिया गया और बाद में इस अपराध के कारण रूस में उनको मौत की सज़ा भी मिली। पार्टी तो नाज़ियों के निकट सरकती जा रही थी। पार्टी का विश्वास था कि १९३२ में

जर्मनी में मजदूर-क्रान्ति होकर रहेगी। विश्वास के सामने सत्य क्या काम आता। विश्वास का तो अपना अलग नशा होता है। दुनिया को गली-सड़ी बताकर अपने-आपको धर्मात्मा मानने वालों को कौन समझाता?

एक दिन अचानक एडगर मुझसे पूछ बैठा कि मैंने जापान देखा है या नहीं। मैंने सिर हिला दिया। उसने फिर पूछा कि क्या मैं जापान जाना चाहता हूँ। मैंने कहा कि अवश्य जाना चाहता हूँ, क्योंकि यात्रा मुझे पसन्द आती है। एडगर जानना चाहता था कि क्या उल्स्टाइन फर्म मुझे अपना प्रतिनिधि बनाकर जापान नहीं भेज सकती। मुझे कोई आशा नहीं थी; क्योंकि जापान में हमारा आफिस जमा हुआ था और मुझ-जैसे अनजान आदमी को वहाँ भेजकर क्या होता। किन्तु एडगर की राय थी कि पार्टी के लिए मेरा जापान में होना अधिक लाभदायक होता। उसने सुझाया कि मैं किसी और समाचार-पत्र का प्रतिनिधि बनकर जापान पहुँचने की कोशिश क्यों न कर देखूँ। मुझे बात मुश्किल मालूम पड़ी। मैंने पूछा कि जापान जाकर मुझे करना क्या होगा। एडगर को मेरे सवाल से मानो दुःख पहुँचा। कहने लगा कि कोई खास काम तो नहीं था। जैसे बर्लिन में, वैसे ही जापान में मैं अपना काम करता रहूँ और रुपए कमाता रहूँ। बस, जो खोज-खबर मिले, वह उन लोगों तक पहुँचा दूँ, जिनके साथ कि जापान में मेरा परिचय करा दिया जाएगा। उसने मुझे सोचकर देखने के लिए कहा। मैंने उत्तर दिया कि इसमें सोचने की क्या बात है। पार्टी जहाँ भी मुझे भेजना चाहे जाने के लिए मैं तैयार था; किन्तु असली समस्या थी, किसी अच्छे समाचार-पत्र का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की। इसकी मुझे कोई आशा नहीं थी। एडगर ने एक क्षण विचार किया और फिर बोला कि यदि पार्टी वह सब इन्तजाम मेरे लिए कर दे, तो क्या मैं तैयार हूँ। मुझे सोचकर उत्तर देने के लिए उसने अपना आग्रह दोहराया। किन्तु मैं तो उल्लसित हो उठा था। मैंने कहा कि सोचने की मुझे कोई जरूरत नहीं, पार्टी जहाँ भी कहेगी मैं चला जाऊँगा। एडगर ने दो-चार दिन बाद मुझे पक्की बात बतलाने का वायदा करके वह चर्चा बन्द कर दी। उसने फिर कभी वह चर्चा नहीं चलाई और मैंने भी पार्टी के अनुशासन के अनुसार कोई कौतूहल इस विषय में नहीं दिखाया।

किन्तु एक अजीब घटना कुछ दिन बाद घटी। आफिस में बैठा था कि कोई मिस मेयर मिलने आ पहुँची। उसने बाहरसे जो पर्चा लिख कर मुलाकात के लिए इजाजत माँगने के वास्ते भेजा था, उसमें लिखा था कि वह मेरी एक पुरानी परिचित हैं। किन्तु मैंने उसे देखा तो पहचान नहीं सका। कभी देखा ही नहीं था। वह छोटी–सी, सीधी–सादी लड़की थी। किन्तु उसका रंग–ढंग और अकड़कर चलने का तरीका देखते ही मैं समझ गया कि पार्टी की सदस्या है। उसने मुझे एक नई समाचार एजेन्सी का सम्पादकीय उत्तरदायित्व सँभालने के लिए अनुरोध किया। जर्मनी में इस उत्तरदायित्व के मायने खाली अपना नाम दे देना ही होता है, काम सँभालना नहीं पड़ता। किसी अच्छे व्यक्ति का नाम पाकर और लोग काम चलाते रहते हैं। मैनें मिस मेयरसे कहा कि उस एजेंसी के विषय में कुछ अधिक जान पाऊँ, तो उत्तर दूँ। वह धैर्य खोकर बोली कि मुझे नासमझ नहीं बनना चाहिए। कहने लगी कि हमारे बन्धुओं ने उसे भेजा है और मुझे हस्ताक्षर करने में कोई आनाकानी नहीं होनी चाहिए। मैंने "हमारे बन्धुओं" का परिचय पूछा। तब उसे और भी ताव आ गया। वह कुछ सनकी–सी जान पड़ती थी। मध्य–श्रेणी की बहुत–सी लड़कियाँ अपने–आपको मजदूर श्रेणी का समझते–समझते प्रायः सनकी हो जाती है। मैंने "बन्धुओं" का नाम जानने का हठ किया, तो बोली— "जार्ज को तुम नहीं जानते?" साथ ही उसने संशय से मेरे आफ़िस में इधर–उधर देखा जैसे कोई माईक्रोफोन[१] वहाँ पर छुपा होने की उसे आशंका हो। मैं मुसीबत में पड़ गया। जार्ज नाम के किसी व्यक्ति को मैं पार्टी में नहीं जानता था। मेरा परिचय केवल तीन व्यक्तियों से था—श्नैलर, पौला और एडगर। मैंने गर्दन हिला दी। वह आग–बगूला होकर बोली कि उसे मुझ–जैसे आदमियों के पास भेजकर उसका समय नष्ट किया गया है और धड़धड़ाती हुई मेरे आफिस से निकल गई। अगली बार मैंने पौला से इस घटना का ज़िक्र किया। वह कुछ असमंजस में पड़ गई और बोली कि ठीक

१. एक मशीन, जिसमें बोलनेवाले की आवाज का रिकार्ड भर लिया जाता है।

पता लगाकर शायद वह कुछ बतला सकेगी। दोबारा मिलने पर पौला ने कहा कि खोज–खबर लेने का समय ही उसे नहीं मिला। तीसरी बार मैंने फिर पूछा तो कुछ तमककर उसने मुझे फिजूल का बातें करने से मना कर दिया। बोली कि कहीं कुछ भूल–चूक हुई होगी और मुझे अपना सिर खपाने की कोई जरूरत नहीं। किन्तु इसी प्रकार की और भी कई घटनाएँ हुई, सब–की–सब अजीब। मैं कुछ नहीं समझ सका। शायद टोकियो जाने की वह बात एडगर ने मेरा इम्तिहान लेने को चलाई थी। शायद वह सच्ची बातें कह रहा था और उससे ऊपरवाले पार्टी के अधिकारी उसकी बात नहीं माने। शायद मिस मेयर को एडगर ने ही भेजा हो और मिस मेयर एडगर को जार्ज के नाम से जानती हो। शायद वह पार्टी के किसी दूसरे जासूसी–विभाग से आई हो, जो एडगर के कार्य–क्षेत्र में दखल देना चाहते हों। कम्युनिस्ट पार्टी के बारे में झूठ–मूठ ही यह प्रसिद्ध है कि उनकी व्यवस्था में कोई गड़बड़ी और भूल नहीं हो पाती। जर्मनी में काम करते हुए और बाद में रूस में जाकर भी मैंने देखा कि पार्टी के पास न तो उतने साधन ही हैं, जितने कि अन्य लोग समझ बैठे हैं और न पार्टी का काम ही बहुत सफाई से होता है। इसके विपरीत तीन मनोवैज्ञानिक तथ्योंपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। वे हैं पार्टी के सदस्यों की आदर्शवादिता, मूर्खता और कुछ भी कर–गुजरने के लिए तत्परता।

श्नैलर के जासूसी–विभाग से मेरा सम्पर्क दो ही तीन महीने तक रह सका। वह सम्पर्क बाहर–ही–बाहर रहा और पार्टी के गूढ़तम षड्यन्त्रों में मैं नहीं खिंच पाया। यह भाग्य की ही बात थी, मेरी किसी बुद्धिमानी के कारण नहीं। मैं तो पूर्णतया पार्टी पर कुर्बान होने के लिए तैयार था, उस नई–नई प्रेमिका की नाईं, जो अपने प्रेमी को तन और मन सोंप देने में आगा–पीछा नहीं देखती। और ऐसा करने के लिए उद्यत मैं अकेला रहा हूँ, यह नहीं कहा जा सकता। उस समय मध्य यूरोप में मुझ जैसे मूर्ख आदर्शवादी नौजवान अनेक थे। उन्हीं नौजवानों के सहारे कमिन्टर्न[१] और रूस की खुफिया पुलिस अपनी करतूतों का जाल चारों ओर फैला सकी थी।

---

१. रूस से संचालित एवं नियन्त्रित अन्तर्जातीय संस्था, जिसमें कि विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ स्थायी शाखा के रूप से संगठित हैं। अब इस संस्था का नाम बदलकर कामिनफार्म रख दिया गया है।

मुझे फान के भोलेपन ने बचाया। वह छोटी उम्र का था और गुरु मानकर मुझसे खूब प्यार करता था। कई हफ्तें तक इसी तरह चलता रहा। अचानक मैंने देखा कि फान मुझसे कुछ खिंचा-खिंचा रहने लगा है। मैंने अधिक ध्यान नहीं दिया। कई बार उसने कहा भी कि वह मुझसे दिल खोलकर बातें करना चाहता है। किन्तु उन दिनों एक तो मेरे पास काम बहुत था और ऊपर से चढ़ा था मेरे नए प्रेम का नशा। इसके सिवाय वह गुरुआई भी मैं निभा नहीं पा रहा था। मुझे ऊब-सी होने लगी थी। इसलिए मैं उसे टालता रहा। यह वह भूल थी, जो कभी-कभी सौभाग्य का कारण बन जाती है। जैसे कि कोई देर से पहुँचने के कारण उस वायुयान में न बैठ पाए, जो कि कुछ दूर जाकर गिरनेवाला हो।

एक दिन जब मैं आफिस में टाइपिस्ट को चिट्ठियाँ लिखवा रहा था, तो अचानक फान भीतर चला आया और बोला कि उसे तुरन्त ही मुझ से अकेले में कुछ जरूरी बात करना है। उसकी दाढ़ी बढ़ी थी, आँखे लाल होकर सूज गई थीं और वह कुछ ऐसा-भयावह-सा लग रहा था कि टाइपिस्ट तो घबड़ाकर भाग गई और मैंने भी घबड़ाकर पूछा कि बात क्या है? उसने कहा कि उसके सामने दो रास्ते रह गए हैं—या तो हमारी कार्यवाही का भण्डा फोड़ दे या गोली खाकर आत्म-हत्या कर ले। मैंने पूछा कि उसका मतलब किस कार्यवाही से है। "देश-द्रोह"—उसने संक्षिप्त सा उत्तर दिया। और फिर उसने सारा किस्सा सुनाया। कहने लगा—"एक सप्ताह पूर्व मेरे मन में, मैं जो कुछ कर रहा था, उसके बारे में आशंकाएँ उठने लगीं। पिछली रात को मैं सो भी नहीं सका हूँ। मुझे विश्वास हो गया है कि मैं एक देश-द्रोही जासूस के सिवाय कुछ नहीं। अब या तो मुझे आत्म-हत्या कर लेनी चाहिए, या सारी बातें बतलाकर जो दण्ड मिले भुगतना चाहिए।"

"तुम फिजूल की बातें कर रहे हो।"—मैने समझाया—"जासूस तो वह होता है जो सेना के गुप्त कागज-पत्र अथवा राज्य के भेद किसी विदेशी सरकार के पास पहुँचाए। तुमने सिवाय मामूली गप-शप के मुझे कुछ भी नहीं बतलाया। और मैं तो तुम्हारा दोस्त हूँ।"

“आप बता सकते हैं कि मुझसे सुनी बातों को आपने कहाँ पहुँचाया है?”—फानने क्रोध से फफकारते हुए पूछा।

“मैंने अपने मित्रों को बतला दिया। बतलाने को था ही क्या?”—मैंने उत्तर दिया।

“बड़े आए मित्र! विदेशी जासूस क्यों नहीं कहते?”

“लेकिन भाई, कम्युनिस्ट पार्टी तो जर्मन मजदूरों की संस्था है।”—मैं उसे समझाने लगा—“ठीक नाज़ी अथवा कैथोलिक पार्टियों की तरह।”

“नहीं, मैं कभी नहीं मान सकता।”—फानने जलकर उत्तर दिया—“सब जानते हैं कि कम्युनिस्ट रूसी सरकार के कठपुतले हैं।”

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि उसे हो क्या गया है। क्या एक ही रात में वह नाज़ी हो गया? किन्तु उसने बतलाया कि उसकी सहानुभूति तो पहले की तरह मजदूरों के ही साथ है। और बोला—

“लेकिन सोशलिस्ट अथवा मार्क्सवादी होना एक बात है। किसी विदेशी सरकार की जासूसी करना दूसरी बात है। शायद बाल की खाल निकालें, तो कहा जा सकता है कि हम दोनों जासूस नहीं है। किन्तु हमारी अन्तरात्मा गवाही देगी कि हम दोनों ने बेईमानी और गद्दारी का काम किया है। मैं तो अब सब कुछ खोले बिना जिन्दा रहने के लिए तैयार नहीं हूँ। मैंने सब कुछ लिखकर तैयार कर लिया है। बस, आपकी राय जानने आया हूँ।”

उसने एक हाथ से लिखा हुआ आठ पन्ने का पत्र मेरे सामने रख दिया। वह उसने उल्स्टाइन के मैनेजिंग डाइरेक्टर के नाम लिखा था। उसने मुझसे वह पत्र पढ़ने का अनुरोध किया।

मैंने दो-तीन लाइनें पढ़ी। लिखा था—“मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि नीचे लिखी बातों पर आपका ध्यान आकर्षित करूँ.....................

और आगे मुझसे नहीं पढ़ा गया। लड़का मेरे सामने खड़ा था। उसने बैठने से इन्कार कर दिया। गोरे चेहरे पर दाढ़ी के काले डंठल और लाल, फूली हुई आँखें उसकी मुद्रा को भयावह बना रही थीं। यह तो मैं समझ गया कि वह यह सब करके कुछ नाटकका-सा आनन्द ले रहा है। जवान ही तो

था न। लेकिन मैं यह भी जानता था कि वह साधारण लड़का नहीं है। वह अवश्य ही अपनी बातपर अड़कर आत्म-हत्या करने की क्षमता रखता है।

मुझे हँसी भी आ रही थी। बुरा भी लग रहा था। हँसी इसीलिए कि फान अपने आपको और अपनी कही बातों का मनमाना महत्त्व दे रहा था। उसने मुझसे कोई विशेष महत्त्व की बात तो कभी कहीं नहीं थी। फिर भी मैं उसके साथ बहस कैसे करता? मेरे अपने भविष्य का सवाल उठ खड़ा हुआ था। पीछे चलकर जब मैंने सब हाल एडगर को बतलाया, तो उसने ताज्जुब किया कि मैंने चिट्ठि पढ़ कर क्यों न देखी। शायद इसीलिए पार्टी ने मुझे निकम्मा समझकर छोड़ भी दिया। आज मैं मामला बखूबी समझता हूँ। चिट्ठि में मेरी करतूतों का रोजनामचा लिखा था। मैं अपने-आपको तर्क द्वारा बहकाकर किसी प्रकार अपने मन का संशय मिटा लेता था। वह पत्र पढ़ने की शक्ति कहाँ से लाता? उस समय मुझे विश्वास था कि मैंने कोई बुरा काम नहीं किया, सिर्फ एक गधे से पाला पड़ गया है। फिर भी उस लड़के की आँखों में मैं कसूरवार तो बन गया था। कल्पना में मैंने उसे गोली खाकर मरते हुए देखा। मैं सिहर उठा। उसकी जेब में पत्र वापिस ठूंसते हुए मैंने कह दिया कि मेरी ओर से वह जहन्नुम में जा सकता है।

"तो क्या आप सहमत हैं कि यह पत्र मैं पते पर पहुंचा दूँ?" फॉन ने पूछा। मैंने देखा कि उसे मेरी हिम्मत पर ताज्जुब हो रहा है। वह मरना नहीं चाहता था। एक बार तो मैंने मन में कहा कि बेवकूफी करने से कोई फायदा नहीं। थोड़ा समझा-बुझा कर उसे रास्ते पर ले आना चाहिए। लेकिन मेरा जी नहीं चाहा। गुरुपद का मेरा आत्मविश्वास खोखला हो चुका था। जाते-जाते फॉन एक बार फिर लौटकर मेरे पास आया और बड़े तपाक से हाथ मिलाकर बाहर निकल गया। उस क्षण में उसकी मुद्रा और भी भयावह हो उठी।

इस प्रकार उलस्टाइन से मेरा पत्ता कट गया। इसके बाद मुझे सात साल तक फिर धूल फाकनी पड़ी। मैं पार्टी के लिए काम छोड़ने को सदा तैयार था, लेकिन ऐसी बेवकूफी करके काम गँवा देने का पछतावा मन में बना रहा।

पार्टी के उस जासूसी विभाग से भी मेरा सम्पर्क टूट गया। अब मैं उनके किस काम का रहा था। फिर कभी एडगर और पौला से मेरी मुलाकात नहीं हुई। पीछे चलकर मुझे मालूम हुआ कि पौला को तो नाज़ियों ने कैद में मार डाला है। एडगर के सम्बन्ध में मैं आजतक कुछ नहीं जान पाया।

उलस्टाइन ने मुझे जिस ढ़ग से जवाब दिया, उसको भद्रता अथवा बूर्जुआ ढोंग, दोनों ही कहा जा सकता है। आप के दृष्टिकोण पर निर्भर है कि आप क्या कहेंगे। फॉन के मेरे कमरे से चले जाते ही मैं बुलाया जाने के लिए तैयार होकर बैठ गया था। मन ही मन मैंने अपना बचाव भी सोच लिया था। मैं मानने के लिए तैयार था कि उस लड़के से गपशप सुनाने का अनुरोध मैंने किया था और कुछ गपशप मैं कम्युनिस्ट पार्टी में अपने मित्रों को भी सुना देता था, किन्तु इसमें दोष की क्या बात थी? सभी तो राजनीतिक चर्चा करते हैं और अपने मित्रों में बातें सुनते सुनाते हैं। मेरे राजनीतिक विश्वासों से भला फर्म को क्या मतलब था। मैं जब तक अपना काम अच्छी तरह करता रहूं, तब तक........इत्यादि, इत्यादि। किन्तु कई दिन तक कुछ भी नहीं हुआ। इस बीच मैंने एडगर से भी सलाह ले ली। उसे भी मेरी दलीलें पसन्द आईं। धीरे-धीरे मेरे मन से भय निकल गया और एक नैतिक कठोरता उमड़ पड़ी। मुझे ऐसा लगने लगा कि झूठमूठ मुझ पर लाञ्छन लगाने की तैयारी हो रही है।

आठ दस दिन बाद एक सुबह मुझे अपनी मेज पर एक पत्र मिला। मालिकों का पत्र था। उसमें बहुत विनीत शब्दों में लिखा था कि मन्दी आने के कारण स्टाफ में छंटाई करना अनिवार्य हो गया है और मेरी सेवाओं से वे और अधिक लाभ नहीं उठा सकते। अब मैं चाहूं तो एक साथ हरजाने की रकम ले सकता हूँ अथवा एक बंधे हुए मासिक पारिश्रमिक पर उनके पत्रों में कुछ लेख आदि लिखता रह सकता हूँ। पत्र में फॉन अथवा कम्युनिस्ट पार्टी के विषय में एक शब्द भी नहीं था। स्पष्तया उलस्टाइन कोई शोर-गुल नहीं खड़ा करना चाहते थे। पार्टी भी नहीं चाहती थी कि कोई हंगामा हो। एडगर ने मुझे हरजाना लेकर अलग हो जाने की सलाह दी। और यह आखिरी आदेश देकर वह जो गया सो फिर जीवन में मुझे कभी नहीं मिला।

अपना काम खोकर मैं आखिरकार पूंजीवादी संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त था। उलस्टाइन से जो हरजाने का रुपया मिला वह मैंने पिताजी को भेज दिया। वह दो–तीन साल तक उनके लिए काफी था। और इतने दिनों में तो मुझे क्रान्ति हो जाने की आशा थी। क्रान्ति के बाद तो फिक्र की कोई बात ही नहीं थी। इस प्रकार मैं उस ओर से निश्चिन्त हो गया। मैंने अपने लिए सौ सवा सौ रुपय बचा लिए, ताकि पार्टी की आज्ञा मिलते ही मैं सोवियत भूमि की यात्रा कर सकूँ। अपना बढ़िया बंगला छोड़कर मैं एक सस्ते से घर में चला आया। वहाँ अधिकतर भुख–मरे कलाकार बसते थे। उन सबके क्रान्तिकारी विचार होने के कारण उस बस्ती का नाम ही "लाल मोहल्ला" पड़ गया था। वहाँ जो तीन मास मैंने बिताए, वे पार्टी में मेरे सात सालों के सबसे सुख के दिन थे।

अब पार्टी ने मुझे इजाजत दे दी कि मैं सेल में भर्ती होकर पूरे तौर से पार्टी के सदस्य का जीवन बिताऊँ। उलस्टाइन से जवाब मिलने के कुछ दिन पूर्व ही एडगर ने मुझे ईवान स्टाइनवर्ग के नाम से "लाल मोहल्ले" के सेल में नाम लिखवाने की अनुमति दे दी थी। शायद पार्टी ने मेरी पिछली सेवाओं का यह इनाम मुझे दिया था। सैल में नाम लिखाते समय मैं "लाल मोहल्ले" से दूर अपने बंगले पर ही रहता था। इसलिए ईवान स्टाइनवर्ग का असली भेद खुलने का कोई डर नहीं था। किन्तु पार्टी ने भूल की थी। पहिले ही दिन जब कामरेड ईवान का परिचय कराया गया, तो आधे दर्जन जाने–पहिचाने चेहरों पर मुस्कान फैल गई।

अब मुझे पार्टी से अपना नाता छुपाए रहने की कोई जरूरत नहीं थी। मैंने तन–मन से सेल का काम करना शुरू कर दिया। सैल में प्राय: बीस सदस्य थे, जो हफ्ते में एक–दोबार जरूर मिल कर बैठते थे। सैलका नेतृत्व तीन आदमियों के हाथ में था। एक राजनीतिक नेता, दूसरा व्यवस्थापक और तीसरा प्रचारक। राजनीतिक नेता का नाम था अलफ्रेड कांटारोविच जो आज–कल बर्लिन के एक रूसी समाचार–पत्र का सम्पादन करता है। तीस साल का, लम्बा, फुर्तीला जवान था। उसका काम था कभी–कभी

अखबारों में विवेचना अथवा निबन्ध लिखना। पार्टी को विश्वास था कि हमारे युग का एक जीवन्त उपन्यास उसके हाथों लिखा जाएगा। आज तक तो वह उपन्यास उसने लिखा नहीं। खैर। वह अत्यन्त ही मीठा और निःस्वार्थ व्यक्ति था। उसके व्यवहार में आत्मसम्मान की छाप थी। हसमुख तो था ही। उसमें एकमात्र कमी थी, नैतिक बलका अभाव। हम बहुत दिनों तक एक साथ रहे। पेरिस में जाकर जब मैंने पार्टी से संबंध तोड़ा तो वही एक ऐसा साथी था, जिसने मुझ पर थूका नहीं। आज वह रूस के मातहत एक बड़ा साहित्यिक माना जाता है। मेरी कामना है कि उसका भोलापन और पार्टी के प्रति फरमाबरदारी उसे उन हथकण्डों से बचाए रहे, जिनमें फँस कर अनेक कम्युनिस्ट साहित्यकार पिस चुके हैं।

हमारे व्यवस्थापक का नाम था मैक्सश्रोडर। पन्द्रह वर्ष पूर्व जब उसकी आयु उन्नीस वर्ष की थी, तो उसने दो-चार सुन्दर कविताएं लिख कर जो यश कमाया था, वही अभी तक उसकी जमा पूंजी थी। वह भला आदमी था। पार्टी को ऐसे बहुत लोगों की सेवा मिलती है जो कि साहित्य, धनार्जन और प्रेम इत्यादि में असफल रह कर कुछ आवारा से हो जाते है।

प्रचार का काम मेरे सैल में प्रवेश पाने के कुछ दिन बाद ही मेरे जिम्मे आया। मैंने जो दो-चार परचे और इशतिहार लिखे, उनमें क्रान्तिकारी कारुण्य की छाप थी। सैल के दूसरे सदस्यों में से मुझे डाक्टर विलहेम रीख भी याद पड़ते हैं। उन्होंने यौन-राजनीति के नाम पर एक संस्था स्थापित की थी। वे फ्रायड[१] और मार्क्स दोनों के भक्त थे। उन्होंने एक पुस्तक लिख कर यह प्रतिपादन किया था कि मजदूरों की यौनवासना पूरी न होने के कारण उनकी क्रान्तिकारी चेतना पनप नहीं पाती। मुक्त भाव से यौन-वासना को तृप्त करके ही मजदूर श्रेणी अपना क्रान्तिकारी कर्त्तव्य निभा सकती है और इतिहास की सेवा कर सकती है। हिटलर की जीत होने के बाद उसने नाजियों की प्रबृतियों का विश्लेषण करते हुए एक चटाकेदार किताब लिख

---

१. मनोविश्लेषण नामक मनोविज्ञान के अधिष्ठाता जिनको मार्क्सवादी "बूर्जआ सडाँध" कह कर तिरस्कृत करते हैं।

मारी। पार्टी ने पुस्तक का खण्डन किया और डाक्टर रीखने खीज कर पार्टी से विदा ले ली। आजकल वे अमेरिका मे किसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला के संचालक हैं। इनके अतिरिक्त सैल में कई प्रकार के नाटय-कार भी थे। इनमें कई लड़कियाँ थीं जो बुद्धिशाली होने का दम भरती थीं। एक था इन्शयोरेन्स के एजेन्ट मोहल्ले के कुंजड़े का लड़का और दो-चार मजदूर भी इस नाटक मण्डली में शामिल थे।

सैल के आधे काम तो कानून के मुताबिक होते थे और आधे गैर-कानूनी। सब सभाओं के आरम्भ में एक राजनीतिक भाषण होता था। वह पार्टी के जिला कार्यालय से सीख कर या तो सैल का राजनीतिक नेता देता था, अथवा जिला कार्यालय से इसी काम के लिए आया हुआ एक प्रतिनिधि। उस समय की समस्त समस्याओं पर पार्टी की नीति समझाने का काम इसी भाषण द्वारा होता था। १९३२ के उन भयानक दिनों में कई चुनाव हुए, जिनसे देश में भूकम्प-सा आ गया। आठ महीने में ही गृह-युद्ध की घटाएं घिर आईं। हमने भी घर-घर जाकर, पार्टी का साहित्य बेच कर और पर्चे बांट कर चुनावों में भाग लिया। लोगों को समझाने का काम सबसे कठिन था। प्रायः रविवार की सुबह हम यह काम करने निकलते थे। उस समय लोग अपने-अपने घर पर मिल जाते थे। हम घन्टी बजाते और द्वार खुलते ही भीतर सिर डाल कर अपना लेक्चर शुरू कर देते। पार्टी का साहित्य घरवाले की ओर बढ़ा कर बहस करने के लिए उसे ललकारते। हम विश्व-क्रांति उसी प्रकार बेचना चाहते थे, जैसे कि झाड़ू बेचे जाते हैं। लोगों का व्यवहार अच्छा कभी नहीं होता था। कभी-कभी वे लाल-पीले भी हो जाते थे। बहुत बार मुझे धकेल कर द्वार बन्द किया गया, किन्तु मार-पीट की नौबत कभी नहीं आई। हाँ, हम नाजियों के घरों से दूर-दूर रहते थे। हमारे मुहल्ले के नाजियों को हम पहिचानते थे और वे भी हमको जानते थे। हमारी तरह मोहल्ले-मोहल्ले में उनकी भी शाखाएँ थीं। समस्त जर्मनी में इस प्रकार दो पार्टियों का जाल बिखरा हुआ था। मेरा विश्वास है कि यदि मास्कोकी दखलअन्दाजी हमारे हाथ नहीं बाँध देती, तो पांसा हमारी तरफ ही पड़ता। हमारे पास आदर्श था, बलिदान की भावना थी और था जनता का समर्थन।

फिर भी हमने मैदान हारा। हम झूठमूठ समझ बैठे थे कि हम शिकारी हैं। असली शिकारी तो मास्को में बैठे थे और हम बिचारे तो उनके कांटे की ओर लपकने वाली की अनजान मछलियाँ थीं। यह हमारी समझ में इसलिए नहीं आया कि अनुशासन के डण्डे से हमारी कपाल-क्रिया करके हमें मास्को की इच्छा को अपनी इच्छा मान लेने का पाठ पढ़ाया गया था। हमने सोशिलस्टों से मिल कर चुनाव में राज्यप्रमुख के पद के लिए एक व्यक्ति ठीक करने से इन्कार कर दिया। हार कर सोशलिस्टों ने हिन्डनबर्ग[१] को चुना। हमने तुरन्त ही उसके विरुद्ध थेलमैन[२] का नाम दे दिया। थेलमैन के चुने जाने की कोई गुञ्जायश नहीं थी और यह निश्चित था कि मजदूर-श्रेणी के वोट फूट कर हिटलर को विजयी बना देंगे। पार्टी में से कुछ ने कहा कि सोशलिस्ट आखिर हिटलर से तो कम बुरे हैं। तुरन्त ही पार्टी ने हमें लैक्चर पिलाया कि "थोड़ा बुरा" जैसा कुछ नहीं होता और जो इस प्रकार की मीन-मेख निकालते हैं, वे वास्तव में ट्राटस्की[३] के अनुयायी, पार्टी में फूट डालने वाले, क्रान्ति के शत्रु हैं। बात हमें जंच गई और "थोड़ा बुरा" की बात करनेवालों से हमें भी नफरत होने लगी। हमारी समझ में हि नहीं आया कि इस प्रकार के ओछे विचार हमारे बीच उठे ही क्योंकर। लंगड़ा भला अपाहिज से अच्छा कैसे हो सकता है। असली क्रान्तिकारी नीति यह नहीं कि सोशलिस्टों को सहायता देकर गणतन्त्र को लंगड़दीन बनाया जाए। क्रान्ति का अर्थ था गणतन्त्र की दोनों टांगे तोड़ डालना। विश्वास में वस्तुतः बड़ी ताकत होती है। मसीह ने कहा था कि राई भर विश्वास पहाड़ को हिला

---

१. प्रथम महायुद्ध में ख्यातनामा जर्मन जेनरल।

२. जर्मन कम्यूनिस्ट पार्टी के नायक जिनको पीछे चल कर मास्को ने अपराधी ठहराया। ये हिटलर की जेल की में मरे।

३. लेनिन का साथी और स्टालिन का प्रतिद्वन्दी जिसको १९२८ में रूस से बहिष्कृत किया गया। १९४० में मैक्सीको में स्टालिन के एक एजेन्ट ने इसकी हत्या कर डाली। स्टालिनवादी कम्युनिस्ट ट्राटस्क़ी से उतनी ही घृणा करते हैं, जितनी की ईसाई लोग शैतान से।

सकता है। हम भी अपने विश्वास के जादू से चुहिया को रेस का घोड़ा बनाने पर तुले थे।

हमारी विचार-शक्ति ही नहीं, हमारा शब्दकोश तक फेर में पड़ चुका था। कुछ शब्द जैंसे कि "थोड़ा बुरा" इत्यादि मुँह पर लाना गुनाह था। कुछ और शब्दों और नारों का मन्त्र की तरह जाप करना पड़ता था। लेनिन ने कहीं अपने लेख में हैरोस्ट्रेट्स नाम के एक ग्रीक व्यक्ति का नाम लिया है। उस बिचारेने और किसी भी प्रकार प्रसिद्धि प्राप्त न होते देख कर एक मन्दिर में आग लगा दी थी। बस हैरोस्ट्रेट्स नाम ले-लेकर हम अपने विपक्षियों पर गालियों का धुंआधार उड़ाने लगे।

शब्दों का प्रयोग सुन कर ही हम समझ जाते थे कि कौन ट्राटस्की मतानुयायी है, कौन सुधारवादी और कौन ब्रैन्डलर* अथवा व्लाड्क* इत्यादि झूठे धर्म-गुरुओं का चेला। इसी प्रकार कम्युनिस्टों की भाषा सुन कर पुलिस भी उनको भाँप लेती थी। पीछे चलकर हमारी विशेष प्रकार की भाषा ने हमको हिटलर की गेस्टापो[१] द्वारा पकड़वाने का काम भी किया। मुझे एक लड़की का उदाहरण याद आता है, जिसको बिना किसी सबूत के ही गेस्टापी ने पकड़ लिया था। वह उसे छोड़ने ही वाले थे कि उसके मुख से एक शब्द निकल गया—"ठोस बात"। गेस्टापो का दारोगा जो अपने आदमियों की बेवकूफी पर बिगड़ रहा था, चमक कर उठ बैठा। आँखें निकाल पर उसने लड़की से पूछा, "यह शब्द तुमने कहा से सीखा?" लड़की के होश गुम हो गए। उसे घबराया देख कर पुलिस ने और धर दबाया और बिचारी का सारा भेद खुल गया।

साहित्य, कला और संगीत सम्बन्धी हमारी मान्यताओं पर भी पार्टी ने ऐसा ही जादू कर दिखाया। लेनिन ने कहीं लिखा होगा कि उसने फ्रांस के सम्बन्ध में फ्रेंच उपन्यासकार बाल्जाक से जो सीखा वह इतिहास के समस्त

---

* मार्क्सवाद के विराधी समाजवादियों के नाम।

१ हिटलर कीं खुफिया पुलिस।

ग्रन्थ उसे नहीं सिखा सके। बस, बाल्जाक सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार बन गया, जब कि अन्य लेखक तो गली–सड़ी पूँजीवादी व्यवस्था में उगे हुए विषवृक्ष मात्र थे ! कला के क्षेत्र में हम "क्रान्तिकारी प्रगतिवाद" के भक्त बन गए। जिस चित्र में कारखाने की चिमनी अथवा मशीन का हल न आंका जाए, वह चित्र पलायनात्मक ठहराया जाता था। इस तरह कई प्रकार की बेढंगी, भोंडी चित्रकारी की हम प्रगतिवाद के नाम पर उपासना करने को तैयार हो गए। कई वर्ष बाद इस "क्रान्तिकारी प्रगतिवाद" की भी शामत आई और "समाजवादी यथार्थवाद" का बोलबाला हुआ। तब तो कोई भी नई अथवा आधुनिक तस्वीर पूँजीवाद के थोथेपन का प्रतीक बन गई। संगीत में सम्मिलित गान को उन दिनों श्रेष्ठ माना जाता था, क्योंकि पार्टी की दृष्टि में व्यक्तिगत गान पूँजीवाद की निशानी थी। किन्तु व्यक्तिगत गान को मंच पर से सर्वथा हटाना असम्भव था। इसीलिये जरूरत के अनुसार नए शब्द गढ़कर उसकी मार्जना की जाने लगी। मानस–शास्त्र में केवल दो ही भावनाएँ सत्य मानी जाती थीं, वर्ग–एकता और यौन–वासना। शेष सब भावनाएँ बुर्जुआ तत्ववाद कहकर झुठला दी गयीं। पूंजीवादी समाज में प्रतिस्पर्द्धा का कारण महत्वाकांक्षा, ईर्ष्या, शक्तिलोलुपता इत्यादि अनेकों मिथ्या भावनाएं जन्म लेती हैं, यह हमें भली–भांति समझा दिया गया।

यौन–वासना के सम्बन्ध में एक मजेदार दृष्टिकोण मैंने देखा। एक पत्नित्व एवं परिवार–पोषण की प्रणाली को पार्टी, पूँजीवादी व्यवस्था की प्रतीक मानती थी। पार्टी का मत था कि इनसे व्यक्तिवाद की भावना जन्म लेती है और व्यक्ति पाखण्ड का आश्रय लेकर वर्ग–संघर्ष से जी चुराने लगता है। अतः कन्युनिस्टों के लिये ये सब रीति–रिवाज कानी–कौड़ी का भी मूल्य नहीं रख सकते। पूंजीवाद के अन्तर्गत विवाह–पद्धति को पार्टी, वेश्यावृत्ति का ही दूसरा रूप मानती थी। किन्तु पार्टी उच्छृङ्खलता के भी विरुद्ध थी। बहुत दिन तक रूस में और कम्युनिस्ट पार्टियों में उच्छृङ्खलता का बोलबाला रहा था। प्रसिद्ध कहावत थी कि नर–नारी का यौन सम्बन्ध उतना ही महत्त्व रखता है, जितना की गिलास भरकर पानी पी लेना। लेनिन ने इस मान्यता की

निन्दा की थी। इस प्रकार पूंजीवादी की नैतिकता और उच्छृङ्खलता दोनों ही बुरी माना जाती थीं। मजदूरों को इस प्रश्न पर एक नए दृष्टिकोण को अपनाने की जरूरत थी। उन्हें विवाह करके अपनी स्त्रियों प्रति प्रेम दिखाना चाहिये और बच्चे पैदा करके मजदूर-कुल की उन्नति करनी चाहिये। यदि पार्टी से पूछा जाता कि इस नैतिकता और पूँजीवाद की नैतिकता में क्या अन्तर है, तो उत्तर मिलता कि जो अन्तर नहीं देख पाते, उनकी विचार शक्ति को लकवा मार गया है। किसी पुलिस वाले के हाथ में बन्दूक हो अथवा किसी क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग के हाथों में—इन दोनों बातों में तो बहुत बड़ा अन्तर है। पुलिसमैन बन्दूक से क्रान्ति की हत्या करके पूँजीवाद और शोषण की रक्षा करता है, जब कि क्रान्तिकारी मज़दूर उसी बन्दूक से जनता के मुक्ति-संग्राम को आगे बढ़ाते हैं। बस पूँजीवादी नैतिकता में और मजदूरों की नैतिकता इतना फर्क है। वही विवाह-प्रणाली जो पूँजीवादी समाज में पतन की प्रतीक है, मजदूरों के समाज में एक स्वस्थ एवं सुन्दर प्रणाली बन जाएगी। यह समझाने के बाद कहा जाता—"यदि बात जँची न हो तो कुछ और ठोस उदाहरण देकर समझाने की चेष्टा की जा सकती है।" किन्तु प्राय: हम पार्टी की बात इतने ही में समझ जाते थे।

एक ही बात को बार-बार दोहराना, एक बड़ा-सा प्रश्न पूछकर उत्तर देते समय प्रश्न कीं भाषा को एक बार फिर से कह डालना, कुछ खास विशेषणों को बार-बार काम में लाना और दूसरे की बात का उत्तर न देकर मज़ाक उड़ाने की चेष्टा करना—स्टालिन की शैली के ये कुछ ऐसे अंग हैं, जिनको प्रत्येक कम्युनिस्ट सीख लेता है और जिनका सुनने वाले पर असर हुए बिना नहीं रहता। दो घण्टे तक एक सधे हुए कम्युनिस्ट से बात करने के बाद यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि सुनने वाला स्वयं लड़का है अथवा लड़की और सत्य जानने के लिये फिर स्टालिन के सिवाय कोई शरण नहीं रह जाती। एक ही साथ आपको परस्पर विरोधी बातों पर विश्वास करना पड़ता है। एक ही साथ आप मानने लगते हैं कि सोशलिस्ट (क) आपके सबसे बड़े शत्रु है और (ख) आपके अचूक मित्र हैं। आपको

विश्वास होने लगता है कि (क) पूंजीवादी और समाजवादी देश शान्ति से साथ–साथ रह सकते हैं और (ख) ये दो तरह के देश कभी शान्ति से साथ–साथ रह ही नहीं सकते। आपको साबित करना पड़ता है कि जब एन्जेल्स ने साफ–साफ लिखा था कि एक देश में समाजवाद का गठन नहीं हो सकता, तो वस्तुतः उसका अभिप्राय ठीक इसका उल्टा था, अर्थात् समाजवाद एक देश में स्थापित हो सकता है।

सबसे बढ़कर आपको एक बात में से दूसरी और दूसरी में से तीसरी निकालने की कला आ जाती है। किसी व्यक्ति का फासिस्टों ने मार–मार कर कचूमर निकाल दिया हो, तब भी आप इस कला द्वारा सिद्ध कर सकते हैं कि वह व्यक्ति फासिस्टों का दलाल हैं। सीधी–सा बात है। यदि वह व्यक्ति पार्टी से सहमत नहीं है, तो पार्टी को कमजोर करता है। पार्टी कमजोर होने से फासिस्टों की विजय की सम्भावना बढ़ जाती है। बस हो गया फ़ासिस्टों का दलाल। इस प्रकार पार्टी में गणतन्त्र, स्वाधीनता, दलाल इत्यादि आमफहम शब्दों का एक विशेष अर्थ होता है जो कि साधारण लोग नहीं समझ सकते और पार्टी भी इन शब्दों के क्या माने लगाती है, यह निर्भर करता है किसी समय की पार्टी लाईन[१] पर। पार्टी लाइन बदली और सारे शब्दों के अर्थ भी एक साथ बदल गए!

जिन दिनों की मैं बात कह रहा हूं, उन दिनों पार्टी में मजदूरों के प्रति श्रद्धा दिखाने और शिक्षित समाज को गाली देने का फैशन था। मध्यम श्रेणी से आए हुए तमाम कम्युनिस्टों को एक कुढ़न रहती थी कि वे मजदूरों के घर क्यों नहीं पैदा हुए। उनको पार्टी सिखाती थी कि उनका कम्युनिज्म तो बस दिखावे भर का है, असली कम्युनिस्ट बनने का अधिकार तो उन्होंने अपने जन्म के दिन गंवा दिया था। लेनिन ने कहा था कि इन मध्यम श्रेणी से आए कम्युनिस्टों से पार्टी को काम निकालना पड़ेगा और रूस में भी अभी तक डाक्टर, इञ्जीनियर, वैज्ञानिक इत्यादि लोगों की जरूरत थी। इसलिए पार्टी

१ पार्टी की नीति और कार्यक्रम को पार्टी लाइन कहा जाता है। वह समय–समय पर बदलती रहती है।

किसी न किसी तरह हमारे प्रति एक सहनशीलता दिखाने का उपक्रम करती थी। हिटलर ने कुछ काम के यहूदियों को जर्मनी में रहने का इजाजत दी थी। किन्तु उनका कहीं आदर–सम्मान नहीं था और एक विशेष प्रकार का बिल्ला हाथ पर बाँधकर वे घर से निकलते थे। ठीक वही हालत पार्टी में हम पढ़े–लिखे लोगों की थी। पार्टी का मेम्बर बनने से पहले हमारी वंश–परम्परा और दादा–परदादा तक की टोह ली जाती थी। पार्टी में शोधन[१] होता तब सबसे पहले हमीं पढ़ें–लिखों की शामित आती थी। सच्चे मजदूर तो रूस के मजदूर ही माने जाते थे। उनमें सर्वश्रेष्ठ मजदूर थे, लेनिनग्राड[२] स्थित पुटीलोव के लोह कारखाने में काम करने वाले अथवा बाकूके कुओं से तेल निकालने वाले। जो–जो किताबें हम पढ़ते उन सबमें इस आदर्श मजदूर का चित्र मिलता था। उसके कन्धे प्रशस्त, मुख पर ढीठता और नख–शिख सामान्य। वह अपने वर्ग का अनन्य भक्ति करता और अपनी काम–वासना को काबू में रखता। वह मजबूत किन्तु चुप रहनेवाला, दयालु किन्तु अवसर पड़ने पर घोर निर्दयता दिखा सकने वालो होना आवश्यक था। उसके पांव बड़े–बड़े, गठीले हाथ और खुला हुआ कण्ठ होता, जिससे कि वह क्रान्ति के गीत उच्च स्वर में गा सके। जो मजदूर कम्युनिस्ट नहीं बनते, उनको मजदूर कहना ग़लत माना जाता था। या तो वे कंगाली मवाली कहे जाते अथवा सरदार मजदूर।

मध्यम श्रेणी का शिक्षित कम्युनिस्ट पूर्ण मजदूर बनने की तो आशा ही नहीं रख सकता था, किन्तु उसका कर्त्तव्य अवश्य था कि पूर्णता के निकट

---

१ बार–बार कम्युनिस्ट पार्टी में छँटाई होती है, जिसके फलस्वरूप बहुत से नेता और कार्यकर्त्ता और साधारण सदस्य पार्टी से निकाल दिये जाते हैं, अन्यथा स्टालिन को साष्टांग प्रणाम करते हुए अपनी भूलें मान लेते हैं। हमारे देश में तेरह वर्ष की लीडरी के बाद पूर्णचन्द जोशी को रणदिवेने पदच्युत किया और रणदिवे स्वयं आज पार्टी की नजरों में गिरे हुए हैं।

२. रूस की पुरानी राजधानी जिसका नाम क्रान्ति से पहले पैट्रोग्राड था। यहीं लेनिन ने पहले–पहले अपने हाथ दिखाए थे। किन्तु बाद में पैट्रोग्राड के क्रान्तिकारी मजदूरों से डरकर लेनिन राजधानी को मास्को ले गए और ट्राट्सकी ने पैट्राग्राड के नाविकों के खून से नगर को रंग डाला।

पहुंचने का प्रयत्न करे। कितने ही लोग टाई पहनना छोड़कर, गन्दे कपड़े पहनकर और नाखून बढ़ाकर मजदूर बनने की चेष्टा करते थे। पार्टी इस पाखण्ड और स्वांग भरने के विरुद्ध थी। सही रास्ता तो यह था कि ऐसी कोई बात न लिखे, न बोले, न सोचे, जो कि कुली-कबाड़ी की समझ में न आ सके। जिस प्रकार एक डूबते हुए जहाज के यात्री अपना असबाब फेंककर बोझ घटाना चाहते हैं, उसी प्रकार हम भी शिक्षा और संस्कारों को तिलाञ्जलि देकर दस-पाँच नारों से काम चला लेने की आदत डाल लेते थे। स्टालिन के धर्म की एक भाषा है, जो समस्त संसार में बोली और समझी जाती है। बस उस भाषा में जो कहा न जा सके अथवा सोचा न जा सके, उसको कहने विचारने की कुचेष्टा, अथवा किसी समस्या पर पार्टी के दिये हुए दृष्टिकोण के अतिरिक्त किसी अन्य दृष्टि कोण से विचारने का मिथ्या प्रयास—इन झांसों से हमें हमेशा सतर्क रहना पड़ता था। बुद्धिवाद की कबर खोद कर ही हम रूस में रहने वाले आदर्श मजदूर की नकल पर सकते थे।

× × ×

सेल में हमारी सभाएँ पार्टी लाइन के सम्बन्ध में एक या दो लैक्चर से शुरू होती थीं। इसके बाद वाद-विवाद होता था। किन्तु यह वाद-विवाद एक-खास किस्म का था। कम्युनिस्ट पार्टी का यह कड़ा कायदा है कि किसी समस्या पर एक बार नीति-निर्धारित करने के बाद उसकी आलोचना को द्रोह कहा जाता है। किन्तु चूंकि नीति के विषय में सारे फैसले ऊपरवाले पार्टी के साधारण सदस्यों को पूछे बिना ही कर लेते हैं, इसलिये साधारण सदस्यों को अपनी राय प्रकट करने का कभी अवसर ही नहीं मिलता। नेता लोगों को भी जनता के मनोभाव को जानने का मौका नहीं मिल पाता। जर्मन पार्टी में तो कहावत थी कि युद्ध के मैदान में खड़े होने वालों को वाद-विवाद की फुरसत कहाँ और कम्युनिस्ट हमेशा युद्ध के मैदान में तो खड़े ही रहते हैं।

इसलिये हमारे वाद-विवाद का असली मतलब था कि प्रत्येक सदस्य खड़ा होकर कुछ मिनट तक नेता लोगों के भाषण का अनुमोदन करे। यही

नहीं, प्रत्येक श्रोता सिर खुजलाकर नेता के भाषण की पुष्टि में दलीलें खोजता था। सब अपने-अपने अन्तःकरण को कुरेद-कुरेद कर विचार के वे टुकड़े खोज निकालते थे, जिनके अनुसार नेता ने जो कुछ कहा; वही हमेशा से वे स्वयं भी सोचते आये थे। विचार के ऐसे टुकड़े, सबको ही अपने-अपने भीतर मिल जाते, क्योंकि व्यक्ति का मन न जाने क्या-क्या सोचा करता है। इसलिये पार्टी ने जब बतलाया कि जर्मनी ने आने वाले चुनाव में हम बेकारों की समस्या पर अथवा नाज़ी आतंक पर नारे न उठाकर, जापानियों द्वारा सताये हुए चीनियों के पक्ष में गरमागरम भाषण देते रहें, तो मुझे कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। इसके विपरीत मैंने एक पर्चा लिखकर यह साबित कर डाला कि उस समय शांघाई में जो घटनाएँ हो रही थीं, वे जर्मनी में होनेवाली घटनाओं की तुलना में जर्मन मजदूरों के लिये अधिक महत्त्व रखती हैं। पार्टी ने मेरी पीठ थपथपाई और जिले के पार्टी दफ्तर से मुझे शाबासी मिली। वह शाबासी मुझे आज भी अच्छी लगती है। क्या करूँ, मन ही नहीं मानता।

सैल के मजदूर सदस्य भाषण सुनते-सुनते ऊँघने लगते थे। बुद्धि के पटेबाज एक के बाद एक उठकर सुनाते कि वे सब एकमत क्यों हैं। मजदूरों की आँखें आश्चर्य से खुल जातीं। उन्हें शायद विश्वास नहीं होता था कि ये पढ़े लिखे लोग झगड़ने की बजाए एक दूसरे से इतनी जल्दी सहमत हो गए। समझा-बुझाकर एक दो मजदूर को भी बोलने के लिये तैयार किया जाता था। वह अपनी आवाज में नेता के शब्द दोहरा देता। उसके भाषण पर ताली पिटती और उसके बैठ जाने पर नेता खड़ा होकर कहता कि उस सभा में जो कुछ कहा गया, उसमें कहने का सबसे अच्छा ढंग मजदूर वक्ता का था। बस मीटिंग समाप्त हो जाती।

मैं पहले कह चुका हूँ कि १९३८ एक हलचल का साल था। पार्टी गैर कानूनी बनने की तैयारी कर रही थी और एक विशेष अनुशासन में सदस्यों को बाँधा जा रहा था। किसी क्षण भी हम पर पाबन्दी लग सकती थी और हमें तैयार रहना ही उचित था। गैरकानूनी बनते ही समस्त सैल अपने आप टूट जाते हैं और एक नये प्रकार का संगठन काम में लाया जाता है। सैल में

तो सदस्यों की संख्या तीस–तीस तक पहुंच जाती है और गैरकानूनी कामों के लिए इतनी भीड़ खतरनाक है। इतने लोगों में सरकारी भेदियों का घुस जाना आसान बात है, इसलिए सब सैल तोड़कर पांच–पांच सदस्यों की शाखाएं बनाना बचाव के लिए अधिक अच्छा तरीका है। केवल शाखा का नेता ही बाकी चारों सदस्यों के असली नाम और पते जान सकता है, और नेता की मारफत की शाखा; पार्टी के ऊपर वाले अधिकारियों से सम्पर्क में आ सकती है। अगर नेता पकड़ा जाए तो अधिक से–अधिक चार और सदस्यों की टोह पुलिस को मिल सकती है, पार्टी के पूरे संगठन को आंच नहीं आती।

इसलिए हमारे सैल के सब सदस्यों को पांच–पांच की शाखाओं में बाँटा जा रहा था। सेल का काम भी बराबर चल रहा था, किन्तु वह किसी समय भी बन्द हो सकता था। एक शाखा का दूसरी शाखा से कोई सम्बन्ध न हो और एक शाखा सदस्यों को दूसरी शाखा के लोग न पहिचान पाएँ, इस बात की पूरी चेष्टा हो रही थी। किन्तु सैल के सारे सदस्य पडौसी ठहरे, एक ही मोहल्ले में रहते थे। इसलिए प्राय: सबको मालूम हो गया कि किस के घर कौन सी शाखा की सभा हो रही है। और गोयरिंग ने* जब पार्टी पर भरपूर वार किया तो कुछ ही दिनों में समस्त जर्मनी में फैली हुई पार्टी छिन्न–भिन्न होकर बेकार बन गई। हमको अपने नेताओं की बुद्धि और चातुर्य पर विश्वास था और स्वयं भी षड्यन्त्र सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ी थीं। किन्तु अन्ध विश्वास का परदा जो आँखों पर पड़ा था, सो हम देख ही नहीं पाए कि हम कितनी भारी भूल कर रहे थे। पार्टी के संगठन को इस प्रकार विखेर देने का यही परिणाम हो सकता था कि पार्टी किसी बड़े पैमाने पर हिटलर से संघर्ष न कर सके और छोटी–छोटी टोलियाँ इधर उधर कुछ तोड़–फोड़ मचाकर रह जाएँ। इस प्रकार हिटलर की विजय अवश्यम्भावी बन गई।

लेकिन पार्टी के साधारण सदस्यों को इन तैयारियों का कुछ पता नहीं था। वे पार्टी से आदेश पाकर इक्के–दुक्के नाजियों पर हमला करने लगे। उन

---

* हिटलर का सरकार का गृहमन्त्री जो हिटलर का उत्तराधिकारी भी माना जाता था।

दिनों बर्लिन में नित्य प्रति दो–चार आदमी मारे जाते थे। युद्ध का असली मैदान था मजदूरों की बस्तियाँ। वहीं पर नाजियों के अड्डे थे, और हमारे भी। भूल से यदि एक दूसरे के अड्डे में कोई चला जाता, तो बच निकलना कठिन था। बार–बार नाजी लोग हमारे अड्डों पर धावा बोलते रहते थे। नाजी स्वयंसेवक मोटर में बैंठे हमारे अड्डों पर गोली चलाते हुए सर्राटे से निकल जाते। हमारे पास उनके जितनी गाडियाँ नहीं थीं, इसलिए हम लोग दोस्तों की गाड़ी माँगकर या चुराकर काम चलाते थे। यह गाड़ियाँ चुराने का काम करने के लिए पार्टी का एक अलग दस्ता था। कई बार मेरी गाड़ी को ऐसे लोग ले जाते, जिनको मैंने कभी देखा तक नहीं था। दो–चार घंटे में गाड़ी वापिस आ जाती। न तो मैंने कभी उनसे कोई सवाल पूछा, न उन्होंने ही कभी कुछ बतलाने की जरूरत समझी। मेरी कार छोटी–सी और खुली हुई थी। शायद ही उससे वैसा कुछ काम लिया जा सकता था लेकिन हमारे सैल में और किसी के पास तो वैसी गाड़ी भी नहीं थी, इसलिए उसी से काम चलाया जाता था। यह कार मेरे मध्यवित्त जीवन की एकमात्र निशानी बची थी और अब मजदूर क्रान्ति का बाहन बन चली थी। मैं अपना अधिकतर समय गाड़ी में बैठकर इधर से उधर संदेश ले जाने लाने में बिताता था। या फिर पार्टी के परचे इत्यादि ढोता अथवा किसी जानी पहिचानी नाजी गाड़ी का पीछा करके खोज–खबर लगाता। एक बार तो मुझे एक छोटे–मोटे छापाखाने के समस्त कल पुरजे स्टेशन से एक पंसारी की दूकान तक पहुँचाने पड़े। परचे छापने के लिए पार्टी वह प्रेस चाहती थी।

मेरी गाड़ी लेने जो लोग आते थे, उनमें कई बार बर्लिन के गुण्डे भी रहते थे। उनके आने की खबर मुझे पार्टी पहले ही पहुँचा देती थी। और एक ही आदमी दो बार कभी नहीं आया। कई बार जब कि उनका काम खतरनाक नहीं होता था, तो मुझे ही गाड़ी चलाने का काम भी मिल जाता। हम धीरे–धीरे गाड़ी चलाते हुए या तो नाजी अड्डों की देखरेख करते थे, या यह खबर मिलने पर कि हमारे किसी अड्डे पर नाजियों का धावा होने वाला है; हम उस अड्डे के चारों ओर पहरा देते थे। यह पहरा देने का काम ज़रा टेढ़ा

था। गाड़ी को एक जगह खड़ी करके हम बत्ती बुझा देते थे। इञ्जिन चलता रहता था। किसी दूसरी गाड़ी की आहट पाते ही गाड़ी में बैठा साथी कन्दूक तान लेता था और मुझसे सिर नीचा करके बैठे रहने का अनुरोध करके गोली दागने को तैयार हो जाता था। मैंने कई बार इन पहरेदारियों में भाग लिया, लेकिन गोली चलते देखने का सौभाग्य कभी नहीं मिला।

एक दिन दस्ते के जो लोग मेरी गाड़ी लेने आए थे, उन्होंने मेरे मकान पर ही वेष भी बदल डाला। नकली मोछें और चश्मे लगाकर उन्होंने काले कोट और रेशमी हैट पहन लिए। मैंने खिड़की से उनको मेरी छोटी-सी कार में बैठकर जाते हुए देखा तो ऐसा लगा जैसे कि मुर्दे के पीछे बारात जा रही हो। चार घण्टे बाद वे लौटे तो अपने असली कपड़े पहने हुए थे। चुपचाप हाथ मिलाकर चले गए। मुझे पार्टी ने तो इतना सिखा ही रक्खा था कि पुलिस अगर इस मारधाड़ में मेरी कार का नम्बर ले ले और पूछताछ करे तो मैं यह कह दूं कि गाड़ी चोरी हो गई थी और एक सड़क पर पड़ी मिली है।

कई बार अफवाह फैली कि नाजी लोग हमारे लाल मोहल्ले पर धावा करने वाले हैं। वे वास्तव में कम्युनिस्टों के कई मशहूर मोहल्लों पर हमला कर चुके थे। इसलिए अफवाह सुनते ही हम तैयार हो जाते थे। दस्ते के आदमी तुरन्त आकर पहरेदारी करने लगते थे। एक ऐसी ही भयानक रात में तीस आदमियों ने मेरे मकान पर बैठ कर पहरा दिया था। हमारे पास बन्दूकों के अतिरिक्त, लोहे के डण्डे और चमड़े के हण्टर भी थे। उसी रात को संयोग से मेरा एक मित्र एंस्ट भी वीयना से मेरे पास दो-चार दिन ठहरने आ गया। वह एक शर्मीला, अत्यन्त सौम्य, किन्तु तीक्ष्ण बुद्धि वैज्ञानिक था। कमरे में सिगरेटों का धुआँ भरा था। सब तरफ, चारपाइओं पर, फर्श पर, रसोई घर में, आदमी बैठे थे अथवा लेटे और सोए थे। शराब के गिलास, हण्टर और लोहे के डण्डे बिखरे पड़े थे। जब गली में जाकर गश्त करने का मेरा नम्बर आया, तो मैं अपने मित्र को साथ ले गया।

"यह सब डाकुओं जैसी तैयारी किस लिए हैं?" उसने पूछा।

मैंने उसे सब समझा दिया तो वह बोला, "वह सब मैं जानता हूँ। लेकिन तुमे अपना जीवन इस प्रकार क्यों नष्ट कर रहे है।"

“मैं क्रान्ति की सहायता कर रहा हूँ।” मैने उत्तर दिया।

“मुझे तो ऐसा कुछ नहीं लगता।” उसने शंका उठाई।

“क्यों?” मैंने पूछा।

“मालूम नहीं। वस्तुतः क्रान्ति क्या और कैसे होती है, मैं कुछ भी नहीं जानता।” वह चिन्तित-सा होकर कहने लगा, “लेकिन ऊपर तुम्हारे कमरे में जो लोग पड़े हैं वे तो ऐसे लगते हैं जैसे किसी छिन्न-भिन्न सेना के भगोड़े सैनिक हों।”

उसने ठीक कहा था। हम समझ बैठे थे कि हम लोग क्रान्ति के अग्रदूत हैं, जब कि वास्तव में हम एक टूटते हुए मजदूर-आन्दोलन के तितर बितर टुकड़े थे। दो-तीन सप्ताह बाद फान पेपन* ने अपने हथकण्डे दिखाए और सेना के एक अफ्सर तथा आठ सिपाहियों ने प्रश्या की सोशलिस्ट सरकार को पदच्युत कर डाला। अस्सी लाख सदस्यों के रहते हुए भी सोशलिस्ट पार्टी ने कुछ नहीं किया। सोशलिस्ट पार्टी द्वारा संचालित ट्रेड यूनियन एक हड़ताल भी नहीं कर सकी। केवल हम कम्युनिस्टों ने ही हड़ताल की मांग उपस्थित की। किन्तु हमारी अपील किसी ने नहीं सुनी। हम सोशलिस्ट पार्टी को अपना प्रथम शत्रु कहते आये थे और प्रश्या की गणतन्त्र सरकार को हराने में हमने नाजियों का साथ दिया था। खोटे सिक्के की तरह हमारे नारों का जनता के लिए कोई मूल्य ही नहीं रह गया था। इसलिए हिटलर से मोरचा बाँधने के पहिले ही हम हार गए। २० जुलाई १९३२ को यूरोप की सबसे बड़ी कम्यूनिस्ट पार्टी झूठी चिल्लपों मचा कर अपने खोखलेपन को छुपाने की कोशिश कर रही थी।

हड़ताल सर्वथा असफल रही, किन्तु अगले दिन पार्टी के अखबारों में छापा गया कि हड़ताल में हमको खूब सफलता मिली है। कहा गया कि सोशलिस्ट पार्टी हाथ-पर-हाथ धरे बैठी रही और हमारी पार्टी ने रणभेरी बजा कर सोशलिस्टों का असली चेहरा जनता को दिखा दिया है। जैसे लड़ाई नाजी पार्टी से नहीं, सोशलिस्ट पार्टी से रही हो!

---

* हिटलर के तुरन्त पूर्व जर्मनी का प्रधान मन्त्री जो नाजीवाद के साथ सहानुभूति रखता था।

दो तीन महीने पश्चात् तो सब कुछ स्वाहा हो गया। सालों तक हम जिस घड़ी के लिए तैयारी कर रहे थे और षड्यन्त्र की शिक्षा-दीक्षा ले रहे थे, वह घड़ी आने पर हम कुछ भी नहीं कर पाए। पार्टी का कुम्भकरण मिट्टी की बनी मूर्ति की तरह ढहकर धराशाही हो गया। थेलमैन इत्यादि पार्टी के नेता अपनी समझ में बहुत अच्छी तरह छुपकर बैठे थे, लेकिन चन्द दिनों में ही उनको पकड़ लिया गया। सेन्ट्रल कमिटी जर्मनी छोड़ कर भाग खड़ी हुई। और जर्मनी पर वह काली रात फैल गई जो आज, सत्रह साल बाद (कोयस्लर १९४९ का बात कहते हैं जब कि यह आप बीती उन्होंने लिखी थी) भी नहीं बीत पाई है।

हिटलर राज्य सिंहासन पर जा बैठा, थेलमैन जेल में पहुँच गए, और पार्टी के हजारों सदस्य मारे गए, हजारों बन्दी शिविरों में पहुँच गए—तब जाकर कामिन्टर्न की आँखें खुलीं। पार्टी की अदालतें और रूस की खुफिया पुलिस खोज-बीन करने बैठी कि यह सब हुआ कैसे? और उन्होंने एक स्वर से फैसला कर डाला कि पार्टी के भीतर फासिस्ट दलाल घुस गए, जिन्होंने सोशलिस्ट पार्टी को अपना सबसे बड़ा शत्रु न मानकर कामिन्टर्न के बिरुद्ध काम क्रिया और पार्टी का दीवाला निकाल दिया। फिर भी पार्टी ने हार नहीं मानी है। पार्टी दोबारा आगे बढ़ने की तैयारी करने के लिए पीछे हट गई है।

× × ×

साधारणतया हम अपनी आप-बीती को रंगीन बनाकर सुनाया करते हैं। किन्तु यदि किसी ने कोई विश्वास बदला हो अथवा मित्र से धोखा खाया हो, तो कुछ उल्टा हो जाता है। अनुभव की कडुवाहट उन पुरानी बातों को और भी कडुवा बना डालती है। मैंने अपनी कहानी कहते समय कोशिश तो यही की है कि उन दिनों की अपनी भावना को ज्यों का त्यों दिखा दूं। किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मैं सफल नहीं हो पाया। क्रोध, लाज और ब्यंग बार-बार मेरी बातों में घुल मिल गये हैं। उस समय की दृढ़ निष्ठा आज पागलपन लगती है, उस दिन का आत्म-विश्वास आज एक अन्धी कट्टरता बन कर

सामने आता है। स्मृति के रंगमंच पर मानों किसी ने कांटे बिछा डाले हों। उस समय में जिसने भी कम्युनिज्म द्वारा दिखाए गए रंगीन स्वप्न देखे थे और जिसकी भी नैतिक-भावनाओं तथा बुद्धि को कम्युनिज्म ने कुण्ठित कर डाला था, वह या तो आज किसी दूसरी कट्टरता का शिकार हो चुका है अथवा जीवन भर एक पश्चात्ताप का बोझ ढोता रहेगा। वह मानों अपने उन अनेक मित्रों की कबरगाह है, जिनको कि बुरी मौत मरना पड़ा था। आज हाथ में कफन के सिवाय कोई झण्डा ही नहीं रह गया। इसीलिए शायद, आज भी जो लोग उस कट्टरता के शिकार हैं, वे आँखें खोलना नहीं चाहते।

१९३२ के ग्रीष्म काल में आखिर मुझे सोवियत रूस जाने की अनुमति मिल गई। वहां के "अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी लेखक संघ ने मुझे देश में घूम-घूमकर एक पुस्तक लिखने का अनुरोध किया था। शायद उनके निमन्त्रण ने ही मेरे लिए रूस के दरवाजे खोले होंगे। मेरी पुस्तक का नाम भी पहले ही रख दिया गया था—"पूञ्जीवादी आँखों से देखा हुआ सोवियत् देश"। पुस्तक में यह दिखाना था कि किस प्रकार मिस्टर कोयस्लर एक पूंजीवादी पत्रकार जो कि रूस से नफरत करता रहा था, रूस में समाजवादी नव-निर्माण के चमत्कार देखकर अपनी धारणाएँ बदलता है और कम्युनिज्म को अपनाकर मिस्टर से कामरेड बन जाता है।

हिटलर के सत्ता हथियाने से छः मास पूर्व मैं जर्मनी से रूस चला गया था। मेरे पास कामिन्टर्न के प्रचार प्रमुख कामरेड गोपनर के नाम एक परिचय-पत्र था। उस पत्र के बल पर कामिन्टर्न की व्यवस्थापिका समिति ने सोवियत् अधिकारियों से मेरी विशेष सिफारिश कर दी। सरकार से अपील की गयी थी कि जर्मनी से आए हुए क्रान्तिकारी मजदूर लेखक का स्वागत किया जाए और उसका काम पूरा कराने में सब प्रकार की सहायता दी जाए।

इस प्रकार का परिचय-पत्र रूस में जादू का काम करता है। मुझे रूस में बिना गाइड लिए घूमने-फिरने की सुविधा तुरन्त मिल गई। रेल का टिकट खरीदने के लिए मुझे लाइन में खड़ा होना नहीं पड़ा। डाकबंगलों में सोने की जगह मिल गई। और उन होटलों में खाना मिला, जहाँ कि केवल सरकारी

कर्मचारी ही जा सकते हैं। जितना रुपया मुझे मिला था उसमें से जी खोलकर खर्च करने के बाद भी रूस से लौटते समय मेरे पास कुछ बच गया। यह सब कैसे हुआ सो बतलाता हूँ।

किसी भी प्रमुख नगर में जाते ही मैं स्थानीय लेखक संघ के दफ्तर में पहुँच कर अपना वह परिचय–पत्र दिखा देता था। संघ का मन्त्री तुरन्त ही मेरे अभिनन्दन में एक सभा बुला देता था। नगर के सब राजनीतिक और बुद्धिजीवी लोगों से मेरा परिचय कराया जाता था। एक आदमी मुझे घुमाने–फिराने और मेरी देख–रेख करने के लिए नियुक्त हो जाता था। स्थानीय साहित्यिक पत्रिका के सम्पादक और पुस्तक–प्रकाशनालय के डाइरेक्टर भी मेरा स्वागत करते थे। ज्यर्जिया[१] की एक पत्रिका के सम्पादक ने मुझ से कहा कि बहुत साल से वे मेरी एक कहानी अपने पत्र में छापने की बाट जोह रहे हैं। मैंने उनको जर्मनी में छपी अपनी एक कहानी दे दी। उसी दिन उन्होंने मेरे पास होटल में दो–तीन सौ रूबल[२] का चैक पहुँचा दिया। ज्योर्जिया के प्रकाशनालय के डाइरेक्टर ने कहा कि जो पुस्तक मैं लिखना चाहता था, उसका अनुवाद ज्योर्जियन–भाषा में छापने की अनुमति उन्हें दे दूं तो वे धन्य हो जाएँगे। मैंने उनकी बात मान कर एक कागज पर हस्ताक्षर कर दिए। तुरन्त ही मुझे तीन–चार हजार रूबल का एक और चैक मिल गया। यह याद रहे कि उस समय साधारण रूसी मजदूर की मासिक आय कुल १३० रूबल थी। मैंने अपनी एक ही कहानी को लेनिन ग्राण्ड से चल कर ताशकन्द तक दस बार विविध पत्रिकाओं को बेच डाला। और जो पुस्तक लिखने का मेरा इरादा था, उसके अनुवाद के अधिकार भी मैंने रूसी, जर्मन, यूक्रेनियन[३], ज्योर्जियन और आर्मीनियन[४] भाषाओं में बेच डाले। इस प्रकार मुझे जो रुपया

---

१ सोवियत् साम्राज्य का एक प्रान्त। स्टालिन इसी प्रान्त के टिफलिस शहर में जन्मा था।

२ रूस का सिक्का। सरकारी दर पर हमारे सौ रुपए पचासी रूबल के बराबर होते हैं, किन्तु रूस के साथ व्यापार में यह दर काम नहीं आती। व्यापार में हम रूस से जिनिस लेकर जिनिस देते हैं। वास्तव में एक रूबल की कीमत आजकल हमारे ढाई–तीन आने से अधिक नहीं। रूस में चीजों के दाम अत्यन्त ऊँचे हैं।

३ रूस के एक और प्रान्त यूक्रेन की भाषा।

४ रूस के प्रान्त आर्मीनिया की भाषा।

मिला वह पाकर मैं एक छोटा-मोटा रईस बन गया। यह सब रुपया मुझ तक पहुँचाने में सोवियत् सरकार का हाथ था, यह जानते हुए भी मुझे लिखने में कोई हिचक नहीं हुई कि सोवियत्-राष्ट्र लेखकों के लिए स्वर्ग है और संसार में अन्यत्र कहीं भी लेखक को न इतना रुपया मिलता है न इतनी मान-प्रतिष्ठा। आदमी दुर्बल होता है। मुझे एक बार भी यह बात नहीं खटकी कि मुझे जो रुपया पेशगी दिया जा रहा था, उसका कारण यह नहीं था कि सोवियत सरकार मुझे अच्छा लेखक समझती थी। इस सब आवभगत के पीछे उनका मनोभाव दूसरा था।

उस समय तक मेरी एक भी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। जिन लोगों ने मेरी कहानी और पुस्तक पढ़े बिना ही मुझे इतने रुपये दे डाले, उन्होंने भी निश्चय ही मेरा नाम पहले कभी नहीं सुना था। वे तो बिचारे सरकारी कर्मचारी थे जो सरकारी हुक्म की तामील कर रहे थे। जिस देश में प्रकाशन पर पूर्णतया सरकार का अधिकार हो, वहाँ स्वभावतः ही सम्पादक, प्रकाशक और विवेचक इत्यादि सरकारी कर्मचारी बन जाते हैं। वे सरकार का हुक्म पाते ही किसी भी लेखक को आसमान पर चढ़ा दें अथवा रास्ते की रेत बना डालें। वह हुक्म पाकर प्रकाशक आपकी पुस्तक की सहस्त्रों प्रतियां छाप डालता है। अथवा आप की समस्त पुरानी रचनाओं को कूड़े के ढेर में फिकवा देता है। विवेचक लोग भी उसी हुक्म के अनुसार आपकी तारीफ के पुल बांधने लगते हैं अथवा घोर निन्दा कर डालते हैं। आपको टाल्स्टाय[१] का नया अवतार बताना अथवा नाली का घृणित कीड़ा कह देना, उनके लिए एक-सी बात है। अधिकतर तो कालान्तर से लेखक अपने दोनों रूप देखने का अवसर पा जाता है।

किन्तु बाहर से आए लेखक को भला यह सब क्यों मालूम हो? उसके मन में कुछ खटका उठे भी तो अपना गुण-गान सुनकर सब भूल जाता है।

---

१ रूस के एक महान लेखक, विचारक और अहिंसावादी जिन का महात्मा गांधी पर भी प्रभाव पड़ा था। स्टालिन के रूस में उनकी पुस्तकें पढ़ने की इजाजत नहीं है, किन्तु उनके नाम को कम्युनिज्म फैलाने का साधन अवश्य बनाया जाता है।

सभा–सोसाइटी में और खान–पान के अवसरों पर वह जिनसे भी मिलता है, वे सभी मानों उसकी समस्त पुस्तकों को बार–बार पढ़ चुके होते हैं। कोई ही लेखक यह समझ सकेगा कि उन सब लोगों को इन अवसरों पर अच्छी तरह लिखा–पढ़ा कर भेजा जाता है। रूस का केन्द्रीय प्रकाशनालय उससे कन्ट्राक्ट पर सही कराते समय उसको डेढ़ लाख प्रतियों की बिक्री पर कमीशन पेशगी दे डालता है। यदि लेखक इमान्दार हो तो सकुचा कर कहेगा कि यूरोप के बड़े–बड़े प्रकाशकों ने जिस बिक्री के हिसाब से उसको पेशगी दिया है, उससे तो यह रूसी पेशगी पन्द्रह गुनी ज्यादा है। प्रकाशनालय का डाइरेक्टर मुस्करा कर कहेगा "साहब, पूँजीवादी प्रकाशकों की बात छोड़िये। रूस में तो सब प्रकाशनों पर जनता का अधिकार है और रूस का साधारण नागरिक अमरीका के नागरिक से २१३. प्रतिशत अधिक पुस्तकें खरीदता है। दूसरी पंच वर्षीय योजना पूरी होने पर तो यह मात्रा २६५ प्रति शत हो जाएगी। इसी कारण रूस के लेखक पूँजीवादी देशों की तरह तंग तारीक कोठरियों में नहीं सड़ते। रूस का लेखक दो कमरे के फ्लैट में रहता है जहाँ उसका अपना पाखाना घर भी होता है। इसके सिवाय उसको चढ़ने के लिए मिलती है मोटर गाड़ी और गर्मी की छुट्टियाँ बिताने के लिए सुन्दर स्थान में एक बंगला।"

शायद अपने रहन–सहन की ऐसी निन्दा सुनकर बाहर से आया हुआ लेखक कुछ बुरा मान जाए। किन्तु डाइरेक्टर तुरन्त ही समझा देगा कि उसे पूँजीवादी आत्मसम्मान की भावना को त्याग देना चाहिए। लेखक कट्राक्ट पर सही कर देगा और चार छः दिन बाद अपने देश में लौटकर कहेगा कि लेखक का मान जैसा रूस में होता है, वैसा और कहीं नहीं इत्यादि–इत्यादि।

वहाँ जो रुपया मिलता है, उसको लेखक रूस के बाहर नहीं ला सकता। किन्तु वह कुछ चीज वस्तु खरीद कर अपने साथ ला सकता है और बाकी रुपया उसके नाम से रूस के सरकारी बैंक में जमा हो जाता है। उस जमापूँजी को याद करके वह बार–बार खुश हो सकता है, चाहे फिर उसे रूस जाने का अवसर शायद ही मिले। दो चार विशेष लेखकों को तो अपनी उस जमापूंजी

के एक अंश को अपने देश के सिक्के में बदलवा कर घर पर लाने का अधिकार भी मिल जाता है मैं स्वयं दो ऐसे जर्मन लेखकों को जानता हूं जिनकी कोई भी पुस्तक कभी भी रूस में नहीं छपी, किन्तु जो कमीशन के रुपये कई साल तक रूस से पाते रहे। वे दोनों गणतन्त्र की घोर निन्दा करते रहते थे, किन्तु रूस के विरुद्ध कभी भी उन्होंने एक शब्द नहीं लिखा। मेरा कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि वे घूस खाकर यह काम करते थे। वे तो यही समझते थे कि उनको लेखक होने के नाते ही सब मिलता है। उनको विश्वास हो गया था कि पूँजीवादी देशों में किताब यदि बिके तो प्रकाशक इस बात की परवाह नहीं करता कि पुस्तक में क्या लिखा है, जब कि सोवियत् प्रकाशक ऐसी धृष्टता नहीं कर सकते, क्योंकि सोवियत् जनता अपने सोने के देश पर कोई आक्षेप भी बर्दाश्त करने लिए तैयार नहीं।

सोवियत् रूस वास्तव में लेखकों के लिए स्वर्ग है—किन्तु उस स्वर्ग में फलों से लदे हुए वृक्ष हैं, उन पर नंगी तलवार ताने हुए पर्वताकार दैत्यों का पहरा है। वे किस दिन लेखक का सिर काट डालें यह कोई ठीक से नहीं कह सकता। किन्तु सिर कटने का भय हमेशा रहता है।

× × ×

मैं सोवियत् रूस में एक साल तक रहा। आधा समय तो मैंने धूम-फिर कर बिता दिया। उसके बाद खारकोव[१] और मास्को में बैठकर मैंने अपनी पुस्तक लिख डाली। उस पुस्तक का जर्मन संस्करण तो नाम बदलकर खारकोव में प्रकाशित हो गया। किन्तु जहाँ तक मैं जानता हूं, रूसी, ज्योर्जियन और आर्मीनियन इत्यादि में उसके अनुवाद कभी नहीं छपे।

अपनी यात्रा के दिनों में पहले तो मैं बोल्गा[२] के तट पर बसे उद्योग प्रधान नगरों में गया। फिर यूक्रेन होता हुआ दक्षिण में ट्राँसकाकेशिया, ज्योर्जिया, आर्मीनिया और एजर्बेजान पार करके बाकू जा पहुँचा। उसके परे मैं मध्य एशिया देखता हुआ तुर्कमानिस्तान और उजबेगिस्तान में

१ यूक्रेन की एक शिल्पप्रधान नगरी।

२ रूस की सबसे बड़ी नदी।

अफगानिस्तान की सीमा तक गया। फिर ताशकन्द होता हुआ कज़कस्तान की सैर करके मास्को लौट गया। मैंने जो कुछ अपनी आँखों से देखा उसका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। पार्टी से सीखी तोतारटन्त ने उस समय तो अवश्य उस प्रभाव को शब्दाडम्बर से ढककर दबा दिया, किन्तु कुछ दिन बाद ही वह अपना रंग लाया।

मैं रूस की भाषा बहुत अच्छी तरह बोल लेता हूं। किन्तु सारी यात्रा में सिवाय सरकारी कर्मचारियों के किसी से बात ही नहीं हो पाई। रूस के साधारण लोग जानते हैं कि किसी विदेशी से बात करते हुए देखा जाना उतना ही भयानक है जितना कि किसी कोढ़ी को छू लेना। रेल के डिब्बे अथवा होटल इत्यादि में दो चार लोगों से बात हुई, तो ऐसा लगा जैसे वे मुझे प्रवदा[१] पढ़कर सुना रहे हों। वही नपी तुली एकसी बातें। उस समय मैंने यही सोचा कि सब विशेष सावधानी और क्रान्तिकारी अनुसाशन का फल है। यूक्रेन में मैंने १९३२-३३ में पड़े भयानक अकाल के पद-चिन्ह देखे। चीथड़ों में लिपटे परिवारों के दलपर दल भीख माँगते फिर रहे थे। रेलवे स्टेशन पर भिखारिन स्त्रियाँ अपने बच्चों को डिब्बे की खिड़कियों तक उठाकर दिखाती थीं। उन बच्चों के अस्थिशेष पंजर, बड़े-बड़े सिरों में टिमटिमाती आँखें और फूले हुए पेट देखकर ऐसा लगता था, मानो गर्भ से अधूरे बच्चों को निकाल पर नमूने के तौरपर शराब की बोतलों में सुरक्षित किया गया हो। बूढ़े भी देखे जिनके पाला मारे हुए पाँव की अँगुलियों के ठँठ उनके फटे हुए जूतों में से बाहर निकल आए थे। मुझे समझाया गया कि ये लोग वे कुलक (समृद्ध किसान) थे, जिन्होंने खेती को सामूहिक बनाने का विरोध किया था। मैंने बात मान ली। मन में सोचा भी कि जरूर ये लोग जनता के घातक होंगे, इसीलिए काम करने के बजाय भीख माँगना पसन्द करते हैं। एक दिन खारकोव के रेजीना होटल में मेरे कमरे की नौकरानी काम करते-करते बेहोश हो गई। भूख से परेशान थी। होटल के मैनेजर ने मुझे समझा दिया कि

१ रूसी सरकार का प्रमुख दैनिक पत्र।

वह नई–नई देहात से आई थी और किसी भूल के कारण उसका राशन कार्ड नहीं बन सका। फिर मैंने बात मान ली।

किन्तु कहाँ तक मन को समझाता। सब ओर घोर दरिद्रता का राज्य था। गली कूचों, ट्राम और रेल में आते जाते लोग मानो चलते फिरते मुरदे हों। वासस्थान की कमी के कारण सारे शहर एक गन्दी गली जैसे बन कर रह गए थे। एक–एक कमरे में बीच में रस्सियाँ बाँध कर और उनपर परदे लटका कर कई–कई परिवार रहते थे। कोपरेटिव दूकानों में जो राशन मिलता था, वह खाकर शायद ही किसी के पेट की आग बुझती हो। खुले बाजार में खरीदने वालों को एक सेर मक्खन के बदले एक महीने की तनखा देनी पड़ती थी। एक जूता खरीदने में तो दो महीने की तनखा निकल जाती थी। मुझे पढ़ाया गया कि "जीवन के नग्न सत्य का अपने आप में कोई अर्थ नहीं होता। एक सत्य की दूसरे सत्यों से तुलना करनी चाहिए। माना कि लोगों का रहन–सहन काफी खराब है, किन्तु जारशाही में तो और भी बदतर था। पूंजीवादी देशों में माना कि मजदूरों की दशा कुछ अच्छी है। किन्तु आज की बात ही सब कुछ नहीं। रूस के मजदूरों की हालत दिन पर दिन अच्छी होती जा रही है, जब कि पूंजीवादी देशों में मजदूरों का हालत उत्तरोत्तर बिगड़ रही है। दूसरी पंचवर्षीय योजना पूर्ण होने तक दोनों एक स्तर पर पहुँच जाएंगे। तब तक दोनों की तुलना करके रूसी मजदूरों का उत्साह भंग करने से क्या फायदा ?"

हारकर मैंने अकाल को अनिवार्य मान लिया। यह भी मैंने स्वीकर कर लिया कि रूस के बाहर जाने और विदेशी पुस्तकें तथा पत्र इत्यादि पढ़ने पर पाबन्दी भी रूसी मजदूरों के लिए हितकर है। पूंजीवादी देशों के विषय में जो मिथ्या प्रचार मैंने देखा, उसकी भी आवश्यकता मैंने समझ ली। एक भाषण देने के उपरान्त मैं कुछ प्रश्नों पर, चोंक उठा। मुझसे पूछा गया—

"आपने जब पूंजीवादी समाचारपत्र छोड़ा, तो क्या आपका राशन कार्ड जब्त कर लिया गया और क्या आपको धक्के देकर आपके मकान से निकाल दिया गया ?"

"फ्रांस के शहरों और देहातों में भूख से तड़प कर नित्यप्रति मर जाने वाले परिवारों की संख्या भला कितनी है?

"सोशिलस्ट, फासिस्ट गद्दारों की मदद से पूंजीपति वर्ग सोवियत् रूस के विरुद्ध जिस युद्ध की तैयारी कर रहा है, उसको रूस के सहायक लोग कितने दिन रोकने में समर्थ हो सकेंगे?"

प्रश्न मुझे अजीब से लगे। किन्तु फिर मैंने मन समझा लिया। मन में कहा—"इन प्रश्नों में कुछ न कुछ सत्य का अंश तो है ही। फिर प्रचार के लिए कुछ अत्युक्ति भी आवश्यक हो जाती है। शत्रुओं से घिरे सोवियत देश के लिए शायद इस प्रकार का प्रचार भी आवश्यक हो, इसीलिए।"

इस प्रकार मैंने वहाँ की सारी बीभत्सता को "आवश्यक" शब्द में लपेटकर गायब करने का मन्त्र सीख लिया। झूठ बोलना और गाली देना आवश्यक था। जनता को भटक जाने से बचाने के लिए उन्हें डराना-मारना आवश्यक था। विरोधी दलों और प्रतिपक्षी वर्गों का उन्मूलन आवश्यक बन गया। आने वाली पीढ़ी के सुख के लिये अपनी पीढ़ी के लोगों का बलिदान भी आवश्यक दीख पड़ा। यह सब आज मुझे क्रूर आत्मवञ्जना लगती है। किन्तु अन्धविश्वास की सीधी सड़कपर दौड़ने वाले के लिए यह सब कुछ सम्भव है। इतिहास में बार-बार ऐसा हुआ है। मध्ययुग में धर्मान्ध लोगों ने यही सब किया था। किन्तु जिस प्रकार संयत लोग एक नशेबाज़ की दुनिया नहीं समझ पाते, उसी प्रकार अन्धविश्वासी की यह समस्त कलाबाज़िया भी साधारण लोग नहीं समझ पाएंगे। जल में थल और थल में जल देखने के लिए तो विश्वास का पूरा और आँख का अन्धा चाहिए।

मैं १९३३ की शरद्ऋतु में रूस से लौटा। किन्तु इसके बाद भी साढ़े चार साल तक पार्टी का सदस्य बना रहा। मेरे विश्वासों पर भारी चोट पड़ी थी। किन्तु चोट को किसी प्रकार दबा छुपाकर स्वस्थ होने का अभिनय करता रहा। बाहर की दो चार घटनाएं ही उस चोट को ऊपर ला सकीं।

सबसे महत्त्व की घटना थी १९३४ में होने वाली कामिटर्न की सातवीं कांग्रेस। पार्टी लाइन बदलकर ठीक उल्टी हो गई, किन्तु नेता लोग वही बने

रहे। अब क्रान्तिकारी आन्दोलन और नारे, वर्ग–युद्ध और मजदूर, तानाशाही की बातें करना घोर अपराध था। उसके स्थान में "शान्ति और फासिस्टवाद के विरुद्ध जनता का संयुक्त मोरचा" सजाया गया। सभी भले आदमियों के लिए अब दरवाजे खुले थे, चाहे वे सोसलिस्ट हों, चाहे कैथोलिक, रूढिवादी अथवा राष्ट्रवादी। यह कहना कि कम्युनिस्टों ने कभी हिंसा और क्रान्ति की बातें कही थीं, अब गाली माने जाने लगा। कहा जाने लगा कि पार्टी के विरुद्ध प्रतिक्रियाशील और जंगबाज लोग ही ऐसे आरोप फैला सकते हैं। हमने अपने आपको बोल्शेविक अथवा कम्युनिस्ट कहना छोड़ दिया। हम सीधे–साधे, इमान्दार, शान्तिप्रेमी लोग बन गए, जो फासिस्टवाद का विरोध करते हैं और गणतन्त्र में विश्वास रखते हैं। १९३५ में बैस्टील दिवस[१] पर हजारों की भीड़ के सम्मुख प्रमुख कम्युनिस्ट नेता मार्सल काशाँ[२] ने सोशलिस्ट नेता लियों ब्लुम[३] को आलिंगन में बाँध लिया। कुछ दिन पहले इन्हीं ब्लुम महाशय को हम फासिस्ट कुत्ता कहकर पुकारते थे। भीड़ ने आँसू बहाए और फ्रांस तथा रूस के राष्ट्रगीत गाए। सबको हर्ष था कि आखिर मजदूर मिलकर एक हो गए। १९३६ के चुनाव में "संयुक्त मोरचे" को स्पेन तथा फ्राँस में भारी सफलता भी मिली।

यह सब सोवियत् रूस की विदेश नीति बदल जाने के कारण हुआ था। रूस लीग आफ नेशन्ज[४] का सदस्य बना, और फ्रँास तथा चैकोस्लोवाकिया के साथ रूस ने पैक्ट किए। आज हम जानते हैं "संयुक्त मोरचे" के पीछे रूस की क्या कूटचाल छिपी थी और स्वाधीन संसार ने कितना बड़ा धोखा खाया था। रूस की नकाब उतरते भी हमने १९३९ में देख ली। किन्तु उस समय तो

---

१ १७८९ में हुई फ्राँस की क्रान्ति की स्मृति में यह दिन मनाया जाता है, बेस्टील पेरिस की बड़ी जेल थी, जिसमें फ्राँस के बादशाह राजनीतिक बन्दियों को रखते थे। क्रान्ति के दिन पेरिस की जनता ने धावा मारकार इस जेल को तोड़ डाला था।

२ फ्राँस के प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेता अब बूढ़े होकर बेकार से हैं।

३ फ्राँस के प्रसिद्ध समादवादी नेता जिनकी कुछ दिन पूर्व मृत्यु हो गई।

४ प्रथम महायुद्ध के बाद शान्ति रक्षा के लिए बनाई गई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था।

भावना के प्रवाह में सब बह गए। पार्टी के प्रति मिटता हुआ मेरा प्रेम फिर जवान हो उठा।

मैं जब रूस में ही था तो हिटलर जर्मनी पर अधिकार पा चुका था। इसलिए लौट कर मैं पेरिस में पड़े अपने शरणार्थी–बन्धओं से जा मिला। छोटे–छोटे घरों में हमारे "लाल मोहल्ले" के वे सब लोग भरे थे जो कि हिटलर की पुलिस से बच कर भाग निकले थे। मैं पूरे पाँच साल तक प्राय: भूखा मरता रहा। किन्तु मैंने राजनीतिक काम में भी अटूट परिश्रम किया। हमें प्रेरणा देने के लिए पश्चिमी यूरोप और जर्मनी का पार्टी–प्रचार–प्रमुख बिली मून्जेन्बर्ग हमारे साथ था। वह मजदूर–परिवार में उत्पन्न एक मोटा, ठिंगना–सा आदमी था। किन्तु लोगों को मोह कर उनसे काम लेने की क्षमता उसमें अपार थी। उसने १९२८ में पार्टी छोड़ दी। और १९४० में उसकी हत्या हो गई। हत्या का रहस्य कभी नहीं खुल सका। किन्तु ऐसी बहुत–सी हत्याओं के जो भी एकाध सूत्र मिलते हैं, उन सबका संकेत सदा मास्को की ओर ही होता है।

बिली फासिस्ट विरोधी अन्तर्जातीय आन्दोलन का पण्डा था। हिटलर ने जर्मन रीखश्टाग[१] में आग लगाने का जो मुकदमा कम्युनिस्टों पर चलाया था, उसके उत्तर में विलीने पेरिस में एक मुकदमा यह साबित करने के लिए चलाया कि आग वास्तव में स्वयं नाजियों ने लगाई थी। उसने अनेक पुस्तक, पुस्तिकाएँ और समाचार–पत्र निकालने के लिए रुपया दिया, हालांकि उसका नाम कहीं भी नहीं लिखा जाता था। एक जादूगर की तरह वह कमिटियां, कांग्रेस और आन्दोलन खड़े करता जाता था। फासिस्टों के सताए हुए लोगों की सहायता समिति, सावधानी और गण तान्त्रिक अनुशासन समिति, अन्तर्जातीय नवयुवक कान्फ्रेंस इत्यादि। इन सब संस्थाओं के साथ इज्जतदार लोगों के नाम जुड़े थे, जिनमें अंग्रेजी नवाबज़ादिया, अमरीकन संवाददाता और फ्रांसीसी शास्त्रज्ञ सभी का स्थान था। इनमें से अधिकतर लोगों ने

१ जर्मनी की केन्द्रीय धारासभा।

मुन्जेन्बर्ग का नाम कभी नहीं सुना था, किन्तु ये सब मानते थे कि कमिन्टर्न कोई असली संस्था नहीं, बल्कि गोयबल्ज[१] का खड़ा किया हुआ हव्वा है।

मैंने बहुत दिन तक बिली के साथ काम किया। ९१३८ में जब उसने पार्टी छोड़ दी तो हम दोनों ने एक गैर-कम्युनिस्ट हिटलर-विरोधी पत्र भी निकाला। इस बीच में मैंने छोटे-मोटे अनेके काम किए। पार्टी ने फासिस्टवाद के अध्ययन के लिए एक खोज परिषद बनाई थी, जिसका काम जनता से चन्दा इकट्ठा करके चलाया जाता था। वहाँ हम लोगों को बिना वेतन के दस-बारह घण्टे काम करना पड़ता था। किन्तु सौभाग्य से वहां खाने-पीने का इन्तजाम था और हमको मटर का सूप पीने के लिए मिल जाता था। कई सप्ताह तक मुझे और कोई खाना नसीब नहीं हो सका। रहने के लिएं शहर के बाहर एक खलियान था, जहां और भी कई लोग रात बिताते थे। जगह दूर थी। कई मील पैदल चल कर जाना पड़ता था, किन्तु वहों सोने के लिए किराया नहीं देना पड़ता था।

काम करने का भी एक नशा होता है। और जब मन यह मानने लगता है कि हम चुपचाप एक बहुत बड़े काम में लगे हैं, तो वह नशा और भी तेज हो जाता है। हम स्टालिन और कमिन्टर्न की काली करतूतों को भूलकर नाजीवाद और युद्ध के विरुद्ध अपनी समस्त शक्ति संजो बैठे। उस समय हमारी समझ में नहीं आया कि हम एक झूठ-मूठ की लड़ाई लड़ रहे है।

एक और बात थी जिसके कारण रूस देख आने के पश्चात् भी मैं पार्टी में काम करता रहा। मेरे बहुत से और मित्र भी जो अब पार्टी छोड़ चुके हैं अथवा मारे जा चुके हैं, कहते थे,—"हमारा आन्दोलन बुराइयों से खाली तो नहीं, किन्तु पार्टी के भीतर रहकर ही हम उन बुराइयों को मिटा सकते हैं, पार्टी के बाहर जाकर नहीं। कोई क्लब इत्यादि हो और उसकी नीति हमें

---

१ हिटलर का प्रचार-प्रमुख जिसका नाम प्रसिद्ध हो चुका है। उसका कथन था कि यदि काफी बड़ा झूठ बोला जाए तो लोग उसका कुछ न कुछ अंश तो मान ही लेंगे। आज-कल स्टालिन का प्रचार-विभाग इसी सिद्धान्त पर काम करता हुआ मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध कीटाणु-युद्ध इत्यादि के मिथ्या आरोप करता है।

पसन्द नहीं आए, तो हम छोड़ सकते हैं। किन्तु कम्युनिस्ट पार्टी तो एक अलहदा चीज़ है। पार्टी तो मजदूर-वर्ग का हरावल ठहरी, इतिहास की अन्तरतम इच्छा को चरितार्थ करने का एकमात्र साधन। एकबार हम पार्टी से निकले कि इतिहास के प्रवाह से भी निकल गए। फिर हम कुछ भी क्यों न करें, इतिहास की गति पर हमारा कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। तो एक ही मार्ग बच रहता है। पार्टी के भीतर रहें, मुंह बन्द रक्खें, कड़वे घूंट चुपचाप गले के नीचे उतार लें, और उस दिन की बाट जोहते रहें जब कि शत्रु-पक्ष की पराजय के पश्चात् रूस और कमिन्टर्न तानाशाही छोड़ कर गणतन्त्र की राह पकड़ेंगे। उस दिन नेताओं का लेखा-जोखा लिया जा सकेगा। नेताओं की गलतियों के कारण कहाँ पराजय हुई, कहाँ निष्फल बलिदान देने पड़े, किस प्रकार पार्टी में गाली-गलौज और कलह बढ़ी और किस प्रकार हमारी पार्टी के अनन्यतम साथी काम आए—इन सब बातों का उत्तर उस दिन नेतृत्व को देना होगा। किन्तु उस दिन तक तो इसी प्रकार निबाह देना ठीक है, आज की कही बात से कल मुकर जाना उचित है, आज जो किया उस पर कल पश्चात्ताप दिखाना उचित है, थूक कर चाटना भी उचित है। क्रान्ति की सेना के सिपाही को अपना काम करने के लिए यह सब सहना होता है।"

× × ×

अठारह जुलाई सन् १९३६ के दिन स्पेन में जनरल फ्रैंकोने बलवा कर दिया। मैंने विली के पास जाकर स्पेन के प्रजातन्त्र की सहायता के लिए जाने की इजाजत मांगी। उस समय तक कम्युनिस्टों का अन्तर्जातीय ब्रिगेड[१] नहीं बना था, जो पीछे चल कर स्पेन में भेजा गया। मैं अपना हंगरी में बना पासपोर्ट भी अपने साथ लेता गया। विली चुपचाप मेरी तरफ देखता रहा। वह धुरन्धर प्रचारक था और उसे यह पसन्द नहीं आया कि मेरे जैसा लेखक जाकर फौज में शामिल हो और खाइयां खोदने में अपना समय नष्ट करे। मेरे पास हंगरी के एक समाचार-पत्र का प्रेस-कार्ड भी था, जिसमें मुझे उस पत्र

१ फैंकों से लड़ने के लिए देश-देश से आए कम्युनिस्टों तथा सहयात्रियों की फौज।

का पेरिस स्थित प्रतिनिधि कहा गया था। पेरिस में पड़े अनेक शरणार्थियों के पास किसी-न-किसी पत्र का प्रेस-कार्ड रहता था। हम लोग उन पत्रों के लिए कभी एक शब्द भी नहीं लिखते थे, किन्तु कार्ड के बल पर कभी-कभी थियेटर, सिनेमा हमें मुफ्त में देखने को मिल जाते थे। मेरा प्रेस-कार्ड देख कर विली की आँखें चमक उठीं। बोला,—"तुम इस हंगेरियन समाचार-पत्र के प्रतिनिधि बन कर फ्रैंकों के शिविर में चले जाओ। हंगरी भी प्राय: फासिस्ट देश है। फ्रैंको के अनुयायी अवश्य तुम्हारा स्वागत करेंगे।"

बात मुझे भी पसन्द आई। किन्तु एक-दो अड़चनें थीं। प्रथमत: मैं जानता था कि वह पत्र मेरी बात नहीं मानेगा। मैंने तय किया कि उनको कुछ बतलाने की जरूरत ही क्या है। एक गृहयुद्ध से उत्पन्न खलबली में भला कौन मेरी जांच-पड़ताल करने बैठेगा। पर एक दूसरी मुसीबत थी। स्पेन में आए दूसरे पत्रकारों को विश्वास नहीं होगा कि हंगरी का एक छोटा-सा पत्र अपना विशेष प्रतिनिधि स्पेन भेज सकता है और उन्हें दाल में काला दिखाई देगा। इस कठिनाई का भी हल मिल गया। लन्दन के न्यूज क्रानीकल* में मेरे कुछ मित्र थे। 'न्यूज क्रानीकल' कट्टर फ्रैंको-विरोधी पत्र था और उसके प्रतिनिधि को फ्रैंको के शिविर में जाने की इजाजत मिलना असम्भव था। इसलिए न्यूज क्रानीकल का सम्पादक तुरन्त मान गया कि मैं ही उनका प्रतिनिधित्व भी करूं।

मैं लिज़बन[१] और सैवाल[२] होता हुआ स्पेन पहुंच गया। किन्तु वहाँ पहुंचने के दूसरे दिन ही मेरा भेद खुल गया। फिर भी वहाँ बदइन्तजामी इतनी थी कि मैं पकड़ा नहीं गया और बचकर जिब्राल्टर[३] के रास्ते भाग निकला। किन्तु स्पेन में बिताए उस थोड़े से समय में ही मैंने देखा कि फ्रैंकों की सेना में जर्मन वायुयान और जर्मन हवाबाज काम कर रहे हैं। ये सब समाचार मैंने

---

* एक उदारवादी दैनिक समाचार-पत्र।

१ पुर्तगाल की राजधानी एवं प्रमुख बन्दर।

२ स्पेन का एक नगर जिसकी राजधानी सैवील नगर है।

३ स्पेन के दक्षिण पश्चिमी कोने पर एक अंग्रेजी उपनिवेश।

न्यूज क्रानीकल को लिख भेजे और एक छोटी पुस्तिका भी छपा डाली। फ्रैंकों सरकार की आँखों में मैं खटकने लगा और छः महीने बाद जब प्रजातन्त्र की सेनाओं के साथ प्रतिनिधि के रूप में सफर करता मैं फ्रैंकों के सिपाहियों द्वारा पकड़ा गया, तो मुझे विश्वास हो गया कि मुझे तुरन्त गोली मार दी जाएगी।

परन्तु मैंने फ्रैंकों के कारागार में चार–महीने बिता डाले। मन कहता रहता था कि किसी दिन भी मुझे गोली से उड़ा दिया जा सकता है। किन्तु ब्रिटिश सरकार मुझे छुड़ाने का प्रयन्त कर रही थी। और जून १९३७ में जब मैं जेल से निकला तो मैं बदल चुका था। मेरे बाल सफेद नहीं हुए थे, मेरी शकल सूरत में भी कोई फर्क नहीं आया था और नहीं मेरे ऊपर धार्मिक नशा सवार हुआ था। किन्तु सत्य का एक नया साक्षात्कार मैंने अवश्य कर लिया था और मेरे दृष्टिकोण तथा मौलिक बिश्वास एक बारगी बदल चुके थे। इस परिवर्तन के दो कारण तो थे ही—भय और करुणा। मैं मौत से नहीं डरता था। किन्तु यन्त्रणा अपमान और कुत्ते की मौत मारने के तरीके अवश्य भय उपजाते थे। और स्पेन के किसान जिन्हें रात में पकड़–पकड़ कर गोली मारी जाती थी जब "माँ, माँ" चिल्लाकर क्रन्दन करते थे, तो करुणा से मेरा हृदय भर आता था। इसके सिवाय, मेरे बदलने का सबसे बड़ा कारण था एक अनूठी अनुभूति जिसे रहस्यवादी ही समझ सकते हैं। बार–बार मेरे मन पर एक ऐसी गाढ़ शान्ति छा जाती थी, जो न तो मैंने कभी पहले अनुभव की थी और जो न कभी बाद में ही लौट कर आई। उस अनुभूति को भाषा में वर्णन करने के अनेक तरीके हैं, किन्तु सब फीके दिखाई देते हैं। सत्यतः तो वह अनुभूति अनिर्वचनीय है, भाषा में उसे उतारा नहीं जा सकता। किन्तु फिर भी उस अनुभूति के फलस्वरूप में जो भाषा बोलने लगा वह मेरी पुरानी कम्युनिस्ट भाषा से मेल नहीं खाती था। यह भी बहुत बड़ी बात थी।

× × ×

यदि यह कहानी काल्पनिक होती तो यहीं समाप्त हो जाती। नायक एक आध्यात्मिक परिवर्तन के फलस्वरूप अपने पुराने साथियों से बिदा माँगकर मुस्कराता हुआ अपने नए रास्ते पर चला जाता। किन्तु मुझे तो ऐसा नहीं लगा

कि इन नए विश्वासों के कारण मैं कम्युनिस्ट नहीं रहा। इसलिए जिब्राल्टर पहुँचते ही मैंने पार्टी को तार से अपनी रिहाई की खबर दे दी। उसमें मैंने यह भी कह दिया कि पार्टी की नीति के प्रति मेरे सारे संशय मिट गए हैं।

मैंने इंगलैंड जाकर शान्ति से तीन मास बिता डाले। स्पेन के सम्बन्ध में एक पुस्तक भी लिख डाली। फिर कुछ दिन के लिए मैं 'न्यूज क्रॉनीकल' का प्रतिनिधि बनकर मध्य-पूर्व का दौरा कर आया। पार्टी से अभी तक कोई तनातनी नहीं थी। दोबारा इंगलैण्ड लौटने पर ही झगड़े का सूत्रपात हुआ। कोई बड़ी बात नहीं थी।

मैं वक्तव्य देता हुआ इंगलैंड का दौरा कर रहा था। कई स्थानों पर मुझसे स्पेन में फ्रकों के विरुद्ध लड़ने वाले ट्राट्स्की के दल के विषय में पूछताछ की गई। पार्टी इस दल को फ्रकों का दलाल बतलाती थी। मैंने कहा कि वे लोग अवश्य एक ऐसी नीति पर चल रहे हैं, जो क्रान्ति के लिए हानिकारक है, किन्तु उन्हें गद्दार अथवा दलाल कहना ग़लत है। आश्चर्य की बात थी कि मेरी इस बात पर इंगलैड की पार्टी ने कोई ध्यान नहीं दिया। इंगलैंड की पार्टी तो इस प्रकार की उदारता के लिए सदा बदनाम भी रही है।

इसी समय मुझे पता चला कि रूस में होने वाले व्यापक शोधन में मेरे बहनोई और दो अंतरंग मित्र पकड़ लिए गए हैं। बहनोई डाक्टर थे, जो रूस के एक सरकारी अस्पताल में काम करते थे। वे जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य अवश्य थे, किन्तु राजनीति से सर्वथा उदासीन और एक बालक की नाई अबोध भी। उन पर दोष लगाया गया था कि वे अपने बीमारों को सूज़ाक के इंजेक्शन देकर रूस में यौन-व्याधियाँ फैलाते थे और उन्होंने जनता में एक भ्रान्ति फैलाई थी कि यौन-व्याधियों का कोई इलाज नहीं इत्यादि-इत्यादि। अन्त में उनको एक विदेशी सरकार का गुप्तचर ठहरा कर जो गुम किया गया, तो आज बारह बरस बाद भी मालूम नहीं कि वे कहाँ गए, जिन्दा हैं या मर गए।

मेरे मित्र थे एलेक्स बाइस बर्ग और उसकी पत्नी ईवा। उनके विषय में कुछ विस्तार से कहना पड़ेगा। एलेक्स पदार्थ-विज्ञान का धुरन्धर विद्वान् था और यूक्रेन की सरकारी खोज परिषद में काम करता था। मैं उन दोनों को

बहुत दिन से जानता था और खारकोव में उन्हीं के घर ठहरा भी था। १९३३ में जब मैं रूस से लौट रहा था, तो एलेक्स स्टेशन पर मुझे पहुंचाने आया था। बिदा लेते समय उसने कहा था "चाहे कुछ भी हो जाए, किन्तु तुम रूस का झण्डा ऊँचा रखना।"

१९३७ में उसको गिरफ्तार कर लिया गया। उस पर दोष लगाया गया था कि स्टालिन और कगानोबिच[१] को काकेशस[२] ले जाने वाली गाड़ी को उड़ाने के लिए उसने बीस गुण्ड़ों को तैयार किया था। उसने अपना दोष कबूल करने से इन्कार कर दिया और तीन साल तक रूस के जेलखानों में सड़ता रहा। फिर रिबनट्राप[३] और मोलोटोब[४] के बीच हुए समझौते के अनुगत एलेक्स को रूस वालों ने नाजी गेस्टापो के हाथों में सोंप दिया। उसके साथ-साथ प्राय: एक सौ और भी जर्मन आस्ट्रियन और हंगेरियन कम्युनिस्ट गेस्टापो के हाथों में दिए गए थे। बह गेस्टापो के हाथों से निकलकर वारसौ[५] की लड़ाई में जर्मनों से लड़ा और अब एक पुस्तक लिखकर उसने अपनी आप बीती भी सुनाई है।

एलेक्स की पत्नी ईवा मिट्टी के बर्तन बनाने की विशेषज्ञ थी। वह एलेक्स की गिरफ्तारी से एक वर्ष पहले पकड़ी गयी थी। पहले तो उस पर इल्जाम लगाया गया कि उसकी देख-रेख में जो चाय के प्याले इत्यादि बनते थे, उन पर की गई मीनाकारी में उसने चिन्ह स्वस्तिका भी मिला दिया। फिर कहा गया कि स्टालिन की हत्या के लिए उसने दो पिस्तौल अपने तकिए के नीचे छुपाकर रक्खे थे। वह अठारह महीने तक मास्को की लुबियान्का जेल में

---

१ स्टालिन के मन्त्रीमण्डल का एक सदस्य।

२ ज्योर्जिया प्रान्त में एक सुन्दर पहाड़ी स्थान, जहाँ रूस के उच्चाधिकारी आराम करने जाते हैं।

३ हिटलर के विदेश मन्त्री जिनकी कोशिश से १९३९ में रूस और जर्मनी में समझौता हो गया।

४ स्टालिन के पुराने साथी और बहुत दिन तक रूस के विदेश मन्त्री।

५ पोलैण्ड की राजधानी जिसके निवासियों ने १९४४ में जर्मन सेना के विरुद्ध उठकर बड़ी विकट लड़ाई की थी।

रही, जहाँ उसको रूसी पुलिस बुखारिन[१] पर चलाए हुए मिथ्या मुकदमे में झूठा गवाह बनाने के लिए तैयार करना चाहते थे। उसने आत्महत्या करने की चेष्टा की, किन्तु सफल न हो सकी। इसी समय आष्ट्रिया के राजदूत की जी तोड़ कोशिशों के कारण वह मुक्त कर दी गई।

रूस से बहिष्कृत होकर १९३८ के बसन्त में जब ईवा आई, तो मैं उससे मिला था। उसने रूस की पुलिस के सम्बन्ध में जो कुछ मुझे बताया, उसी के आधार पर मैंने अपनी पुस्तक "उजाले में अन्धेरा" का कुछ अंश लिखा था। मैंने एलेक्स को बचाने के लिए खूब परिश्रम किया। आइन्श्टीन[२] तो पहले ही अपील कर चुके थे। मैंने तीन बड़े-बड़े वैज्ञानिकों के हस्ताक्षर लेकर स्टालिन के नाम पर तार भिजवाया। हस्ताक्षर करने वाले नोबल-पुरस्कार पाने वाले पैरिन, लेन्गेविन और जोलियत् कूयूरी थे। तार की एक नकल रूस के सरकारी वकील विशिंस्की[३] के नाम भी भेजी थी। तार में लिखा गया था कि वाइसवर्ग के विरुद्ध जो इलजाम हैं, वे खुलेआम कहे जाएं और उन पर अदालत में मुकदमा चलाया जाए। लौन्गेविन और जोलियत्-कूयूरी दोनों सोवियत् भक्त थे और कुछ दिन बाद ही वे पार्टी के सदस्य बन गए। किन्तु वे भी इतना मानते थे कि रूस के न्यायविधान पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उन्होंने एलेक्स का नाम कभी नहीं सुना था। मुझे भी वे मामूली तौर से ही जानते थे। फिर भी वे तुरन्त मान गए कि एलेक्स निर्दोष है। तारपर मानचेस्टर के प्रसिद्ध वैज्ञानिक पोलानी ने भी हस्ताक्षर कर दिए। बड़े वैज्ञानिकों में से मैं केवल ब्लैकेट की सही न पा सका। ब्लैकेट ने एलेक्स के साथी दूसरे वैज्ञानिक हौटरमान्स को बचाने का तो पूरा प्रयत्न किया था।

---

१ लेनिन के एक प्रसिद्ध साथी जो बहुत दिन तक कमिन्टर्न के प्रधान रहे। १९३८ में उनको नाज़ी गुप्तचर बताकर स्टालिन ने मरवा डाला।

२ संसार के सर्वश्रेष्ठ पदार्थ विज्ञानवेत्ता।

३ आजकल रूस के विदेश मंत्री हैं। इनका नाम रूस में चलाए गए झूठे मुकदमों के सम्बन्ध में विश्वविख्यात है। उन्हीं मुकदमें में लेनिन के प्रमुख साथी तथा अधिकतर पुराने रूसी कम्युनिस्ट मारे गए थे।

शायद वे डरते थे कि दो–दो आदमियों की हिमायत करके शायद वे एक को भी न बचा पाएं।

इस घटना से एक विचारणीय बात उठती है। रूस के हिमायती हमारे मार्क्सवादी वैज्ञानिक, जिनमें ब्लैकेट और जौलियत्–क्यूरी इत्यादि शामिल हैं, रूस के विषय में बिल्कुल अन्धे तो नहीं हैं। कम से कम वे अपने दो साथियों की कहानी जानते हैं, जो कि रूस के बफादार सेवक थे; किन्तु जिन पर ऊटपटांग इलज़ाम लगाकर बिना मुकदमा चलाए ही जिनको कई वर्ष तक जेल में रक्खा गया और अन्त में जिन्हें गेस्टापों के हाथों में दे दिया गया। रूस के ये हिमायती यह भी जानते हैं कि इस प्रकार के केस दो–चार नहीं, हजारों लाखों रूस में हुए और हो रहे हैं। इनको विश्वसनीय सूत्रों से पता लगता रहता है कि रूस में बुद्धिजीवियों पर क्या बीतती है। और हमारे मार्क्सवादी वैज्ञानिक ही क्यों, कम्युनिस्ट और कम्युनिज्म के हिमायती अनेकों लेखक, पत्रकार तथा बुद्धिवादी, सभी रूस के विषय में यह सब जानते हैं। उनमें से प्रत्येक कम से–कम एक ऐसे व्यक्ति को अवश्य जानता है जो निर्दोष होने पर भी साइबेरिया के हिमाच्छादित दास कैम्पों में भेजा गया अथवा जिसको गुप्तचर बताकर गोली मार दी गई, अथवा जो अचानक गायब हो गया। गणतन्त्र देशों के न्यायविधान में कहीं कोई तिलमात्र भूल हो जाए अथवा त्रुटि रह जाए, तो ये लोग गला फाड़–फाड़ कर मर जाते हैं। किन्तु सोवियत् भूमि में इनके अपने साथी ही जब बिना मुकदमा चले अथवा अपराधी प्रमाणित हुए, मौत के घाट उतार दिए जाते हैं, तो ये लोग चुप्पी साधे रहते हैं। इन सबकी अन्तरात्माओं में कंकाल छूपे हैं, जिनको बाहर निकालकर देखने का इनमें साहस नहीं। और यदि सब कंकालों को इकट्ठा कर लिया जाए, तो पैरिस के मुरदा तहखाने मात हो जाएंगे।

रूस में जितने क्रान्तिकारियों को मरना अथवा जेल में सड़ना पड़ा है, उसकी किसी देश में, किसी युग में भी, तुलना नहीं मिलती। मैं स्वयं सात बरस तक इस तमाम हत्याकाण्ड और बर्बरता की मार्जना में दलीलें जुटाता रहता था। सीधे–साधे, अनपढ़ लोग जब उन दलीलों को कहते सुनते हैं तो

मुझ बुरा नहीं लगता। किन्तु भद्र, सज्जन और बुद्धिशाली लोगों को वह कसरत करते देखकर मैं अवाक् रह जाता हूँ। बुद्धि की पैंतरेबाजी से मेरा परिचय है। और मैं यह भी जानता हूँ कि भावना पर कितने आघात पड़ने के बाद वह पैंतरेबाजी बेकार हो पाती है।

एलेक्स की गिरफ्तारी का मुझे जिस समय पता लगा, उसी समय एक साथी जर्मनी में पाँच साल जेल काटने के बाद भागकर पेरिस आ पहुँचा। गिरफ्तार होने से पहले वह पार्टी की जिस टुकड़ी के साथ काम करता था, उस टुकड़ी के नेताओं को रूस में गुप्तचर बताकर समाप्त किया जा चुका था। इसीलिए उस साथी से किसी ने बात नहीं की और न किसी ने उसकी कैफियत सुनने की तकलीफ उठाई। उसको तथा उसकी पत्नी को गोस्टापो के एजेन्ट बताकर उनके फोटो पार्टी के पत्र में छापे गए और पार्टी के सदस्यों को सतर्क किया गया कि कोई उनके पास भी न फटके। पहले भी मैं इस प्रकार के मामले देख सुन चुका था। किन्तु पैंतरेबाजी करके अपना मन समझा लिया था। किन्तु इन दो व्यक्तियों की विडम्बना ने मुझे हिला दिया और अचानक वे लोग मुझे पार्टी से भी बढ़कर लगने लगे। मैंने उनका पक्ष लिया।

पार्टी ने मेरे विरुद्ध कोई कारवाई नहीं की। जब फ्रैंकों की जेल में था तो मुझे शहीद बताकर पार्टी मेरे नाम से खूब लाभ उठा चुकी थी, इसलिए मुझे अचानक फ्रैंको अथवा जापान का एजेन्ट कहकर तिरस्कृत करना तनिक कठिन बात थी। अतः पार्टी चुप रही।

किन्तु अध्याय समाप्त होने में देर नहीं थी। एक साधारण सी घटना ने मुझे पार्टी से अलग कर दिया। जर्मनी के पेरिस स्थित शरणार्थी–लेखक–संघ की सभा में मुझे स्पेन पर एक वक्तृता देनी थी। पार्टी के एक व्यक्ति ने आकर कहा कि वक्तृता में मैं स्पेन में लड़ने वाले ट्राट्स्कीवादी दल को गद्दार बता दूँ तो अच्छा होगा। मैंने इन्कार कर दिया। वह चकरा सा गया। फिर उसने मेरी वक्तृता को पढ़कर उस पर मन्तव्य देने का प्रस्ताव पेश किया। मैंने फिर इन्कार कर दिया। सभा में दो–तीन सौ बुद्धिजीवी थे, आधे के करीब

कम्युनिस्ट। मेरे भीतर कुछ कह रहा था कि एक कम्युनिस्ट के रूप में मैं अपनी अन्तिम वक्तृता देने जा रहा हूँ। फिर भी मैं केवल स्पेन के बारे में ही बोला। पार्टी अथवा रूस के सम्बन्ध में मैंने नुकताचीनी का एक शब्द भी नहीं कहा। पर मेरी बातों में तीन वाक्य ऐसे थे, जो कि आम लोगों को तो साधारण से लगेंगे, किन्तु जिन में पार्टी के लिए युद्ध की चुनौती भरी थी। मैंने कहा:—

"प्रथमतः, कोई आन्दोलन, पार्टी अथवा व्यक्ति भूलचूक के ऊपर नहीं हो सकता। भूलें सबसे होती हैं।

"द्वितीयतः, शत्रु के साथ नरमी दिखाना उतनी ही बड़ी बेवकूफी है, जितनी कि उन मित्रों के साथ शत्रुता करना जो एक दूसरे मार्ग से हमारे ही लक्ष्य की पूर्ति करने में लगे हों।

"तृतीयतः, हानिकारक सत्य लाभकारी मिथ्या से सदैव श्रेयस्कर है।"

किस्सा खत्म हो गया। जब मेरी वक्तृता समाप्त हुई तो सभा के गैरकम्युनिस्ट लोगों ने तालियाँ बजाईं, किन्तु कम्युनिस्ट चुपचाप, हाथ बाँधे बैठे रहे। उनको पार्टी की ओर से ऐसा करने का आदेश मिला हो, ऐसा मैं नहीं कहता। किन्तु कम्युनिस्ट होने के नाते वे तुरन्त समझ गए कि मैं पार्टी के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध बोला हूँ। ऐसा ही असर एक नाजी सभा में यह कह देने से होता कि सब मनुष्य एक जैसे हैं, चाहे वे किसी भी जाति के हों अथवा चाहे जो धर्म मानते हों।

दो चार दिन पीछे मैंने पार्टी की केन्द्रीय कमिटी के पास अपना त्यागपत्र भेज दिया।

× × ×

अब सोचता हूँ कि मेरी कहानी खत्म हो जानी चाहिए। किन्तु अभी भी मुझे रोग से पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं हुई थी। मैंने पार्टी से इस्तीफा दिया था, कामिन्टर्न से नाता तोड़ा था तथा स्टालिन से विदा ली थी। किन्तु सोवियत् राष्ट्र के प्रति अभी मुझ में भक्ति बची थी। मैंने अपने त्यागपत्र में इतना तो कहा कि रूस में नौकरशाही का बोल बाला है और व्यक्ति स्वाधीनता की

हत्या मुझे पसन्द नहीं। किन्तु साथ ही यह भी माना कि समस्त दोष रहते हुए भी सोवियत् रूस एक किसान–मजदूर राष्ट्र है, जहाँ कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के मिट जाने के कारण समाजवाद का पूर्ण उदय अवश्यम्भावी हो गया है। चाहे जो भी दोष हों, अब यह सोवियत् राष्ट्र ही इस दलित वंचित संसार में मानवता की एकमात्र आशा है, इत्यादि इत्यादि।

अभी तक मेरा नशा गया नहीं था। मैं जैसे आकास से गिरकर एक वृक्ष की शाखा में उलझा था। उस वृक्ष की दूसरी शाखाओं पर मेरे जैसे अनेकों और झूल रहे थे। वे अलग–अलग दृष्टिकोण से सोवियत् राष्ट्र में दोष बतलाते थे, किन्तु फिर भी कहते थे कि सोवियत् राष्ट्र की मानवता की आशा का प्रतीक है। और उस त्रिशंकु अवस्था में अड़े रहने के लिए वे भरसक जोर मार रहे थे। मैं भी उस दिन तक उस अवस्था में लटका रहा, जिस दिन कि मास्को के हवाई अड्डे पर स्वस्तिक पताका फहराई गई और नाजी दूत रिबनट्राप के स्वागत में रूसी फौज के बैन्ड ने नाज़ी जर्मनी का राष्ट्रगीत गाया। उस दिन पूरी तरह आँखें खुल गईं। मैंने धरती पर पाँव टिका लिए। अब मुझे इस बात की परवाह नहीं रही कि हिटलर के सगे–साथी कम्युनिस्ट मुझे क्रान्ति का शत्रु कहकर गाली देते हैं।

रूस को समाजवादी देश माननेवाली भ्रान्ति की मैंने अपनी पुस्तक "योगी और कमीसार" में विवेचना की है। वह यहां नहीं दोहराऊंगा। यहां तो अपने जीवन का यह अध्याय इसलिए बताना चाहता था कि अभी भी हमारे वामपन्थी दलों में रूस के प्रति एक भ्रम बचा हुआ है। साधारणतया वामपन्थी लोग बुद्धि के कायर होते हैं। रूस की भक्ति का नशा उन्होंने एक बार किया सो छोड़ नहीं पा रहे। कम्युनिज्म ने आदर्शवाद का जो चोरबाजार चलाया है, उसमें सबको अपने–अपने काम लायक स्वर्ग का नाम और पता मिल जाता है। बस बोतलों में रंगीन पानी भर कर हमारी वामपन्थी चिल्लाते फिरते हैं कि उनके पास ही असली शराब है। खरीदार जितना ही सरल हो उतना ही अधिक ठगा जाता है। शान्ति, गणतन्त्र, प्रगति इत्यादि नामों की आड़ में किस प्रकार ज़हर बेचा जाता है, यह जानने की बात है।

मैं सात साल तक कम्युनिस्ट पार्टी की सेवा करता रहा। बाइबल में एक कहानी है। जैकब ने राशेल को पाने के लिए सात वर्ष तक उसके पिता की भेड़े चराईं थीं। उसके बाद उसका विवाह हुआ और अपनी नई दुलहिन के साथ उसने सुहाग रात भी एक अन्धेरे तम्बू में बिता डाली। सुबह उसने लड़की को देखा तो राशेल के स्थान में बदसूरत बाँदी लीह को पाया। उस सदमे को जैकब जिन्दगी भर नहीं भूल पाया होगा, ऐसा मुझे लगता है।

मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मैं सात साल तक देवी समझकर एक राक्षसी से प्यार करता रहा। अब विश्वास नहीं होता कि मैंने ऐसी भूल की थी। किन्तु भूल का मलाल भी मनसे नहीं जाता। बाइबल की कहानी में तो जैकब ने फिर सात साल सेवा करके असली राशेल को पा लिया था। उसका स्वप्न तो सत्य बन सका था। शायद तब उसे वे पन्द्रह वर्ष चन्द दिन से लगे होंगे।

किन्तु मुझे ....

इगनेज़ियो सिलोने

जीवनी — इनका जन्म १ मई सन् १९०० में इटली के एक पहाड़ी गाँव में हुआ था। पिता एक छोटे से जमींदार थे और माता कपड़ा बुनने का काम करती थीं। प्रथम महायुद्ध में, जब ये सतरह साल के थे, तो अपने जिले के किसान संघ के मन्त्री चुने गए। महायुद्ध का जबरदस्त विरोध करने के कारण इनको अदालत भी देखनी पड़ी। १९२१ में इटली की कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन में इनका विशेष हाथ था। ये रोम[१] में एक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन करते थे और ट्रीस्टे से एक दैनिक भी इन्हीं के सम्पादन में निकलता था। १९२१ में फासिज्म[२] के उदय के पश्चात् भी ये गुप्त रूप में इटली में बने रहे और गैरकानूनी पत्र-पत्रिकाएँ छापते रहे। इटली से इन्हें भागना पड़ा तो किसी भी सरकार ने इनको अपने देश में टिकने नहीं दिया। हार कर ये १९३० में स्विट्जरलैण्ड पहुँचे और १९४४ में इटली लौट आने तक वहीं रहे। १९३० में इन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ दी थी। दस साल बाद, १९४० में, ये इटली की सोशलिस्ट पार्टी की विदेशी नीति के सम्पादक बने और "तृतीय शक्ति" का सिद्धान्त इन्होंने प्रतिपादित किया।

इनकी अनेक कृतियों में चार उपन्यास और दो नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

---

१. इटली की राजधानी। २. मुसोलिनी की पार्टी का मतवाद।

३. इस सिद्धान्त के अनुसार पूंजीवाद और कम्युनिज्म दोनों के बीच का समाजवादी रास्ता ही मानवता का कल्याण कर सकता है।

नवम्बर की उस सांझ को जब कि सरकार की विशेष घोषणा द्वारा हमारी पार्टी गैरकानूनी बन गई, तो हममें से कई लोग पुलिस के फन्दे से बचकर निकल भागे। चित्रकार के छद्मवेष में हमारे एक साथी ने मिलैन[१] नगर के पास एक बंगला पहले ही से किराए पर ले रक्खा था। वहीं जाकर हमने शरण ली। मजदूरों के मोहल्लों में गालियां सूनी पड़ी थीं, होटल बन्द हो गए थे, और घरों पर अन्धियारा छाया था। सरदी के दिन थे, बून्दा-बाँदी भी कुछ हुई थी। किन्तु सरकारी दमन ने उस सांझ की उदासी को और भी गहरा बना दिया। पुलिस पुरी मुस्तैदी से संदिग्ध मोहल्लों पर इस प्रकार धावा मार रही थी, मानो शत्रु के देश पर चढ़ाई की हो। गिरफ्तार होने वालों की संख्या बड़ी थी और दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही थी। पुलिस को कुछ लोगों का तो सुरागं अपने सूत्रों से मिल जाता था, कुछ लोग पुलिस के उन दलालों ने जो पार्टी में घुस आए थे पकड़वा दिए और कुछ इसलिए फँस गए कि पहिले से गिरफ्तार लोगों में कई कमजोर साथी थे, जिन्होंने मारपीट की धमकियों से डर कर सारा भेद खोल दिया।

एक मिलैन में क्या, इटली के समस्त शहरों में वैसा ही हो रहा था। पत्रों को आदेश दिया गया था कि वे दमन के सम्बन्ध में कुछ न छापें। इसके विपरीत पत्रों में पढ़ने को मिलता था कि गणतन्त्र देशों की उदारवादी पार्टियों के अनेक प्रतिनिधि मुसोलिनी की तानाशाही के गुण गा रहे है। फिर भी हमारे चार प्रमुख केन्द्रों से दमन की जो रिपोर्ट पार्टी के हैड आफिस को मिली उससे हम समझ गए कि मुसोलिनी हमारा पता निशान तक मिटाने पर तुला हुआ है। हमारी पार्टी के पास गैरकानूनी रूप से काम करने के लिए एक संगठन था। किन्तु वह भी पुलिस की चोटों से छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक साथी अपने शहरों से दूसरे शहरों में शरणार्थी बनने के लिए आ खड़े हुए। उनके लिए बनावटी कागज-पत्र तैयार करने का एक बड़ा काम उठ खड़ा

---

१. इटली का एक प्रमुख नगर।

हुआ, ताकि वे किसी और नाम और रूप की आड़ में नए सिरे से अपना काम कर सकें।

हम कुछ लोग पहले से ही गुप्त रह कर काम कर रहे थे, इसलिए हमको यह सब हैरानी नहीं उठानी पड़ी। किन्तु इतना हम भी जानते थे कि किसी दिन भी कोई-न-कोई सूत्र पाकर पुलिस हमें पकड़ सकती है। उस सांझ को मुझे भी सावधान कर दिया गया था कि अपने घर न लौटूं क्योंकि पुलिस वहाँ तक पहुँच चुकी थी। मेरे जैसे कई और थे। हम सब उस छद्मवेशी चित्रकार के बंगले पर आ मिले। एक आदमी को बाहर पहरे पर तैनात करके हम कुरसियों में ही रात बिताने के लिए पड़ रहे। घर छोटा था और वहाँ एक ही चारपाई थी। छद्मवेशी चित्रकार और उसकी पत्नी के अतिरिक्त वहाँ एक छद्मवेशी स्पेनिश भ्रमणकारी बना बैठा था, दूसरा दांत का इलाज करने वाला, तीसरा मकान बनाने वाला राज और चौथी, एक जर्मन लड़की, छात्रा का रूप धारण किए थीं। एक-दो साल से हम एक-दूसरे को जानते थे। किन्तु पार्टी के गैरकानूनी संगठनों में एक साथ काम करने के सिवाय हमारा विशेष सम्पर्क भी नहीं था। मित्र बनने की फुरसत हम लोगों को नहीं मिल सकी थी। हाँ सरसरी तौर पर हम एक-दूसरे की जात-पांत और खानदान इत्यादि जानते थे।

सहसा दंतचिकित्सक बड़बड़ाया—

"मैं सांझ को थियेटर के पास से गुजरा तो देखा कि अगले 'शो' का टिकट खरीदने के लिए एक बहुत बड़ी भीड़ लाइनें लगाए खड़ी है। दो क्षण तक उस भीड़ को निहारने के बाद मुझे पूरा विश्वास हो गया कि वे सब पागल लोग थे"

"पागल क्यों?" स्पेनिश भ्रमणकारी ने पूछा, "क्या आप नाच-गान को पागलपन मानते हैं?"

"साधारण अवस्था में तो नहीं मानता" दंत चिकित्सक बोले, "किन्तु ऐसे असाधारण दिनों में पागल लोग ही नाच-गान द्वारा जी बहलाने की बात सोच सकते हैं"

"नाच-गान हमेशा दिल बहलाने के लिए नहीं होता" स्पेनिश भ्रमणकारी ने कहा।

अब की बार चित्रकार बोला। कहने लगा, "यदि संगीत के दीवाने इस समय हम लोगों को देख पाएँ तो कहेंगे कि हम सब जरूर पागल हैं। वास्तव में पागल कौन है, यह फैसला करना आसान नहीं। समस्त शास्त्रों में यह शास्त्र दुरूह है"

दन्तचिकित्सक को बातों का यह रुख पसन्द नहीं आया। झल्लाकर बोला, "नाच-गान हमेशा दिल बहलाने के लिए नहीं होता" स्पेनिश भ्रमणकारी ने कहा।

अब की बार चित्रकार बोला। कहने लगा, "यदि संगीत के दीवाने इस समय हम लोगों को देख पाएँ तो कहेंगे कि हम सब जरूर पागल हैं। वास्तव में पागल कौन है, यह फैसला करना आसान नहीं। समस्त शास्त्रों में यह शास्त्र दुरूह है"

दन्तचिकित्सक को बातों का यह रुख पसन्द नहीं आया। झल्लाकर बोला, "हमारी तरह जी-जान पर खेल जानेवालों को इस तरह निष्पक्ष बातें नहीं करनी चाहिएँ"

"संघर्ष की बात मैं समझता हूं" चित्रकार ने उत्तर दिया, "आप अपने प्रतिपक्षी से जम कर लड़िए। किन्तु अपनी खोपड़ी फोड़ लेने से कोई लाभ नहीं। खोपड़ी को दूसरे कामों के लिए सलामत रखने की जरूरत है।"

"किन्तु हमारा संघर्ष तो आदर्शों का संघर्ष है। आज खोपड़ी को कैसे बचाए रह सकते हैं?" स्पेनिश भ्रमणकारी ने पूछा।

"अच्छा, मानता हूं कि मेरी खोपड़ी भी संघर्ष में लिप्त है। किन्तु अपनी आँखें मैं अलग रखना चाहता हूँ। अपनी आँखों से ही सब कुछ देखना मुझे भाता है" चित्रकार ने उत्तर दिया।

"आप फिजूल की बकवाद करते है" दन्तचिकित्सक गुर्राया, और बोला "आप काम-धाम तो कुछ करते नहीं, फिर न जाने क्यों यह गुप्त-जीवन की विंडम्बना झेलते हैं!"

कमरे में एक बोझिल-सा सन्नाटा छा गया। चित्रकार ने इस भद्दी बात का कुछ उत्तर नहीं दिया। खिड़की में से सड़क पर दौड़ती पुलिस और फौज की तीन लारियां हम देख रहे थे। गृहिणी ने खिड़की के किवाड़ बन्द करके हमारे सामने काफी के प्याले रख दिए।

स्पेनिश भ्रमणकारी ने मालिन्य मिटाने के लिए कहा, "हमारे युग में सब रास्ते कम्युनिज्म की ओर जाते हैं। किन्तु हम सब एक ही प्रकार के कम्युनिस्ट नहीं बन सकते"

"मैंने कम्युनिस्ट क्रान्ति पर अपनी जान की बाज़ी लगाई है" चित्रकार कहने लगा "अपनी आँखों की बाजी इसलिए नहीं लगाई कि मैं देखना चाहता हूँ कि मेरे साथ क्या बीतती है। किन्तु जान की बाज़ी तो लग ही चुकी। स्कूल में मेरे साथ एक लड़की पढ़ती थी। उसने गेरुआ पहिनकर स्वर्ग के लिए प्राणों की बाज़ी लगाई है। आप यक़ीन रक्खें, मैं अपनी बाज़ी लौटाऊँगा नहीं। मैं आनका पक्का हूँ। किसी को सन्देह नहीं करना चाहिए"

"किन्तु कम्युनिस्ट क्रान्ति तो बाज़ी लगाने की बात नहीं। जो अवश्यम्भावी है उस पर भला क्या कोई बाज़ी लगाएगा?" दंतचिकित्सक ने चिढ़कर कहा।

"मैं भी समझता हूँ, साहब, कि इस बाज़ी में जीत खेलनेवालों की सामर्थ्य और समझदारी पर निर्भर करती है" चित्रकार ने उत्तर दिया, "इसीलिए मैं अपने आपको जुआरी ही न मानकर खिलाड़ी भी कहता हूँ। मैं वह खिलाड़ी हूँ जिसका खेल के बाहर कोई अस्तित्व ही नहीं बच रहा है। बस बची हैं केवल मेरी आँखे"

"मेरी समझ में यह सब नहीं आता।" दन्त चिकित्सक बोला।

"सीधी-सी बात है। मैं आँखों पर पट्टी बाँधने को तैयार नहीं हूं। करता तो मैं भी वहीं काम हूं जो आप करते हैं। किन्तु आंखे खोलकर" चित्रकार ने समझाया।

स्पेनिश भ्रमणकारी कहने लगा "अच्छी बात है। आँखें खुली ही सही। पर इसका तो यह मतलब है कि यह जिस बात पर आपने बाज़ी लगाई है,

उसमें दरअसल आपको दिलचस्पी नहीं। माफ कीजिए, क्या किसी अन्य परिस्थिति में आप किसी अन्य बात पर बाज़ी नहीं लगा सकते थे ? जैसे कि युद्ध, दक्षिणी ध्रुव की यात्रा, कोढ़ियों की सेवा, स्त्रियों का व्यापार अथवा जाली सिक्के बनाना, इत्यादि"

"क्यों नहीं, "चित्रकार ने उत्तर दिया" किन्तु सभी कामों में मैं अपनी आँखें खुली रखता, समझने की कोशिश करता।"

"कम्युनिस्ट तो साहब जन्म लेता है, बनता नहीं" जर्मन लड़की बोली।

"किन्तु आदमी तो बनता है" चित्रकार कह गया।

"खैर। क्या आप बता सकते हैं कि आपने कम्युनिज्म पर ही क्यों बाज़ी लगाई ?" दन्तचिकित्सक ने पूछा।

"वह एक लम्बी कहानी है" गम्भीर होकर चित्रकाल बोला "और सच तो यह है कि मेरी कुछ बातें आप समझ भी नहीं पाएंगे"

"आप अपनी लम्बी, रहस्यमय कहानी कहिए तो" जर्मन लड़की बोली, हम कॉफी पीकर जागते हुए आपकी कहानी सुनेंगे।

"क्या आप सब लोग अपनी-अपनी कहानियाँ सुनाएंगे ?" चित्रकार ने मुस्करा कर प्रश्न कर डाला।

"जरूर। हम सब कॉफी पीकर जागते रहेंगे" दन्तचिकित्सक ने कहा।

"शुरू करने से पूर्व तनिक अच्छी तरह सोच लीजिए।" चित्रकार ने हमें सावधान किया" अपने अतीत को कुरेदना एक खतरानाक काम है। और जो लोग संघर्ष में लगे हुए हैं, उनके लिए तो इस प्रकार का आत्मविश्लेषण और भी बुरा है। जब बाज़ी लग जाती है तो बस लग जाती है। बीच में छोड़कर आप नहीं भाग सकते"

"किन्तु संघर्ष से संघर्ष करने वाले की उन प्रेरणाओं को अलग किया जा सकता है, जिनके कारण कि वह संघर्ष में उतरा" स्पेनिश भ्रमणकारी ने शंका उठाई "तो फिर यदि बार-बार हम याद कर लें कि हम कम्युनिस्ट क्यों हैं तो काहे का खतरा रह जाता है ?"

"रात लम्बी है" जर्मन लड़की कहने लगी, "अपनी रहस्यमय कहानियां सुनानी चाहिएँ। कॉफी पीकर हम जागते रहेंगे"

और इस प्रकार हमने वह रात एक दूसरे को यह समझाते बिता डाली कि हममें हरेक कम्युनिस्ट क्यों बना। बहुत विस्तारपूर्वक तो हम नहीं कह पाए। किन्तु दिन निकलते-निकतले हम सब मित्र बन गए। हम सबने बिदा लेते हुए कहा "यह सत्य है कि सारे रास्ते कम्युनिज्म को ओर जाते हैं"

अगले साल छद्मवेशी दन्तचिकित्सक गिरफ्तार हो गया। उस पर खूब मार पड़ी, किन्तु उसने अपने साथियों से द्रोह करने से इन्कार कर दिया और जेल में ही मर गया। छद्मवेशी चित्रकार अपना राजनीतिक काम मुसोलिनी के पतन तक बराबर करता रहा और युद्ध के उपरान्त राजनीति छोड़कर एकाकी जीवन बिताने लगा। जर्मन लड़की के विषय में उस दिन के बाद कुछ नहीं सुना।

मैंने बहुत बार उस रात की बातों पर सोचा है। कुछ दिन पीछे मुझे यह जानने-समझने की धुन सवार हो गई कि मै जो कुछ कर रहा हूं वह क्यों कर रहा हूं ? आरम्भ में मैं जो प्रेरणा पाकर कम्युनिस्ट बना था, क्या वह मेरे आज के कामों से युक्तिसंगत है—यह सोचते-सोचते मैं अपनी समस्त शान्ति गवां बैठा। मैंने जो कुछ भी लिखा है, वह मन के उसी बोझ से दबकर। लिख-लिखकर मैं अपनी विश्लेषण करता रहा और अपने ऊपर चढ़े भूत से मुक्ति पाने के लिए लिखना मेरे लिए आवश्यक बन गया। कम्युनिज्म को तिलाञ्जलि देने के उपरान्त मुझे लिखकर ही यह बताना पड़ा कि मैंने वैसा क्यों किया। क्योंकि मेरे आदर्श तो अब भी वहीं हैं। इसलिए लिखना मेरे लिए कभी भी एक आनन्दमय आत्मनिवेदन नहीं बन पाया। एक संघर्ष करने के लिए ही मैंने अब तक लिखा है। मेरे आत्मनिवेदन में जो त्रुटियां रह जाती हैं वे इसलिए नहीं कि मुझे साहित्य रचना नहीं आती, बल्कि इसलिए कि मेरे भीतर अब भी कुछ घाव हैं, जिनकी टीस मुझे परिमार्जिन होने की इजाजत नहीं देती। सत्य बात कह देने में सफलता पाने के लिए इमान्दार होना ही काफी नहीं होता।

इटालियन कम्युनिस्ट पार्टी के जन्म-समारोहपर मैं अपने साथ सोशिलस्ट युवक संघ को भी पार्टी में खींच लाया। १९१७ से मैं इस संघ का कार्यकर्त्ता था। महायुद्ध के दिनों से ही गणतन्त्रवादी सोशलिस्टों की इतनी

कड़ी समालोचना करते रहे थे कि हमारे कम्युनिस्ट बन जाने पर किसी को आश्चर्य नहीं हुआ।

उस रात जब मैंने अपने मित्रो को समझाना चाहा कि सतरह साल की अवस्था में स्कूल में पढ़ते हुए ही क्यों मैंने उग्रवादी सोशलिस्टों का पक्ष लिया, तो मुझे लौटकर अपनी किशोर अवस्था में जाना पड़ा था। उसके परे मुझे अपने बचपन की वे घटनाएं भी याद करनी पड़ी थीं, जिनके कारण समाज की ओर मेरा एक दृष्टिकोण बना था। वही दृष्टिकोण पीछे चलकर राजनीतिक रूप ले बैठा। वरना सतरह साल की उमर में कोई एक क्रान्तिकारी दल में शामिल होकर सरकारी दमन को अपने ऊपर नहीं बुलाता। ऐसे क्रान्तिकारी की प्रेरणा निश्चय ही गम्भीर होनी चाहिए।

मैंने इटली के दक्षिण में एक पहाड़ी प्रदेश में अपना बचपन बिताया था। जब मेरे भीतर सोचने-समझने की शक्ति जागी, तो मैंने पारिवारिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों के बीच एक घोर वैषम्य देखा। पारिवारिक जीवन में सच्चाई, इमान्दारी और एक व्यवस्था पाई जाती थी। किन्तु सामाजिक सम्बन्धों में भरी थी अधिकतर घृणा, कुत्सा और धोखाधड़ी। दक्षिण इटली की दरिद्रता और दैन्यता की तो अनेक कहानियाँ हैं। कुछ कहानियां स्वयं मैंने भी कही हैं। किसी बड़ी घटना के कारण मैं अस्थिर नहीं हुआ। जीवन की छोटी-छोटी बातों ने ही मुझे हिला दिया। इन छोटी बातों में ही मैंने देखा कि वे लोग, जिनके बीच मैं जन्मा और पला, एक दोहरा जीवन बिताते हैं और किशोर होते-होते मेरा मानस एक व्यथा से भर गया।

पाँच वर्ष का हूँगा, तब एक दिन माँ के साथ गाँव के चौरस्ते से गुजर रहा था। मैंने देखा कि गाँव के एक अमीर ने झूठ-मूठ ही, सिर्फ तमाशा देखने के लिये, अपना कुत्ता गिरजे से आती हुई एक स्त्री के पीछे लगा दिया। वह सिलाई करके जीविका कमाने वाली एक गरीब स्त्री थी। बड़ा भयानक काण्ड हो गया। बिचारी स्त्री बुरी तरह घायल होकर धरती पर गिर पड़ी और उसके कपड़ों को फाड़कर कुत्ते ने धज्जियां कर डालीं। गांव में सबको क्रोध आया, किन्तु कोई कुछ भी नहीं बोला। न जाने क्यों कर उस गरीब औरत

को उस अमीर पर मुकदमा चलाने की हिम्मत हुई। पर नतीजा कुछ नहीं निकला। न्याय मिलने की बजाए उसका मज़ाक और बना। सबकी उसके साथ सहानुभूति थी, कईयों ने चोरी–चोरी उसकी सहायता भी की। किन्तु दुर्भागिन को एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला, जो मजिस्ट्रेट के सामने उसकी गवाही देता और न किसी वकील ने उसका मुकदमा अपने हाथ में लिया। इसके विपरीत अपने आपको वामपन्थी कहने वाला एक वकील ठीक समय पर उस अमीर की ओर से अदालत में हाजिर हुआ और घूस खाकर कई गवाहों ने झूठ बोल दिया कि उस औरत ने ही कुत्ते को भड़काया था। मजिस्ट्रेट एक बहुत ही भले और ईमानदार व्यक्ति थे, किन्तु कानून की रू से उन्हें अमीर को छोड़ना पड़ा और औरत को मुकदमे का खर्च जुर्माने में देना पडा।

कई दिन बाद वे हमारे घर आए, तो बातों–बातों में बोले "मुझे अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध ही ऐसा करना पड़ा। मैं धर्म को साक्षी बनाकर कहता हूँ कि मुझे बहुत अफसोस हुआ है। किन्तु कानून ने मेरे हाथ बाँध दिए। यदि मैंने अपनी आँखों से वह काण्ड देखा होता और एक साधारण नागरिक की हस्ती से मैं भी उस गरीब औरत का पक्ष लेता, तो भी एक जज के नाते गवाही के मूजिब मुझे फैसला कुत्ते के ही पक्ष में देना पड़ता। एक सच्चे जज को अपनापन दबाकर निष्पक्ष होना चाहिये"

"यह जज का पेशा बहुत बुरा है" माँ ने कहा "इससे अच्छा तो हम साधारण नागरिक बने अपने घर में ही पड़े रहें" फिर वे मुझ से बोलीं "तुम बड़े होकर जो कुछ भी बनो जज मत बनना, बेटा!"

मुझे इसी प्रकार की कई और घटनाएँ याद हैं। मेरा कहने का मतलब यह नहीं है कि हमारे समाज में लोग सत्य और न्याय के पवित्र असूलों में श्रद्धा नहीं रखते थे अथवा उन असूलों के प्रति जुगुप्सा दिखाते थे। इसके विपरीत स्कूल में, गिरजे में और सार्वजनिक समारोहों पर उन असूलों को लेकर बड़े–बड़े व्याख्यान होते थे। इतना तो हम बच्चे भी समझ सकते थे कि कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है और हम सब अपने आपको धोखा दे रहे हैं।

किन्तु केवल व्यक्ति की बेवकूफी और अज्ञान के कारण ही यह सब होता है, यह कहना भी कठिन था। इस दोहरे जीवन का कारण तो कुछ और ही था।

एक दिन हमारे मोहल्ले के पादरी और मेरी क्लास के लड़कों में एक दिलचस्प बहस छिड़ गई। पहिले दिन हम सबने पादरी के साथ जाकर कठपुतली का खेल देखा था। खेल में एक बच्चे की कहानी थी, जिसके पीछे कि शैतान पड़ गया था। एक दृश्य में बच्चा बनी हुई कठपुतली भय से कांपने लगी और शैतान से बच निकलने के लिये बिस्तर में छुप गई। कुछ क्षण पीछे शैतान बनी कठपुतली आकर उसे खोजने लगी। उसे न पाकर शैतान-कठपुतली बोली "वह जा कहाँ सकता है। मुझे उसकी गन्ध तो आ रही है। इन दर्शक लोगों से पूछकर पता लगाऊँगा" और हमारी ओर आकर उसने पूछा "मेरे प्यारे बच्चो! क्या तुमने एक बदमाश बच्चे को इधर छुपते देखा है? मुझे उसकी तलाश है"

"नहीं, नहीं, बिल्कुल नहीं" हम सबने चिल्लाकर कहा।

"तो फिर वह कहाँ है? मुझे तो कहीं भी दिखाई नहीं देता" शैतान-कठपुतली ने हठ किया।

"वह चला गया" हम फिर चिल्लाए "वह लिज़बन[१] चला गया"

हम जब थियेटर में गए थे, तो किसी ने नहीं सोचा था कि इस प्रकार शैतान-कठपुतली हमसे सवाल पूछेगी। इसीलिये हमने जो भी उत्तर दिए, वे बिना बिचारे ही, स्वभावतः ही दे डाले थे। मेरा विश्वास है कि संसार के किसी देश का कोई भी बच्चा वैसे ही उत्तर देता। किन्तु हमारे पादरी जो अत्यन्त सज्जन, सुसंस्कृत और धर्मप्राण व्यक्ति थे, हमारे उत्तर सुनकर प्रसन्न नहीं हुए। कुछ दुखी से होकर वे बोले—"तुमने झूठ बोला है। अच्छे ध्येय से बोला है, यह सच है। किन्तु झूठ तो झूठ ही होता है ना। झूठ कभी नहीं बोलना चाहिए"

"क्या शैतान के सामने भी नहीं?"—हमने ताज्जुब में आकर पूछा।

---

१. पुर्तगाल की राजधानी।

“नहीं। झूठ बोलना पाप है” उन्होंने उत्तर दिया।

“क्या मजिस्ट्रेट के सामने भी नहीं?” एक और लड़के ने पूछ लिया। पादरी ने उसको खूब धमकाया और बोले “मैं यहाँ तुमको ईसा का धर्म समझाने आता हूं, बक झक करने नहीं। गिरजे के बाहर तुम क्या करते हो, इससे मेरा कोई मतलब नहीं” इसके बाद उन्होंने खूब उत्तेजित होकर हमें सत्य और मिथ्या के सिद्धान्त समझाए। किन्तु सिद्धान्तों में हमें अब कोई दिलचस्पी नहीं रह गई थी। हम एक ठोस बात का उत्तर चाहते थे। हमें शैतान को बच्चे का भेद बताना चाहिये था या नहीं। पादरी बिचारे करते रहे—“इस बात से कोई मतलब नहीं। झूठ सदा झूठ है। पाप भी। पाप बड़ा हो, छोटा हो, मध्यम हो, साधारण अथवा तुच्छ भी हो, किन्तु पाप तो पाप रहता है। सत्य में ही तुम्हारी श्रद्धा होनी चाहिये”

हमने कहा—“सत्य तो यह है कि एक तरफ बच्चा था और दूसरी ओर शैतान। हम बच्चे की सहायता करना चाहते थे। यह भी सत्य है”

“किन्तु तुमने झूठ जो बोल दिया है”—पादरी बोले—“अच्छे ध्येय को लेकर, मैं जानता हूँ। किन्तु फिर भी झूठ बोल दिया”

किस्सा खतम करने के लिये मैंने एक और दृष्टान्त पेश कर दिया। मेरी बात मे धूर्तता थी और मेरी उम्र से अधिक सूझ-बूझ भी। मैंने पूछा—“यदि बच्चे के स्थान में एक पादरी होते तो हमें शैतान से क्या कहना चाहिये था?”

कुछ शरमाए से पादरी निरुत्तर बने रहे और बदतमीजी की सजा में मुझे पाठ खतम होने तक घुटनों पर खड़ा होना पड़ा। पाठ के उपरान्त उन्होंने पूछा—“क्या तुम्हें पश्चात्ताप हुआ है?”

“अवश्य”—मैंने कहा—“यदि शैतान ने आपका पता पूछा तो अवश्य बता दूँगा”

गिरजे के भीतर क्लास में ऐसा वाद-विवाद साधारणतया सम्भव नहीं था। हाँ हमारे परिवार और बन्धु-बान्धबों के बीच स्वतन्त्र विवाद अवश्य होते रहते थे। इस अत्यन्त उत्कृष्ट विवाद से, किन्तु, हमारे सामाजिक जीवन की पुरातन और जर्जर शैली पर जूं तक न रेंगी।

कुछ दिन पूर्व गणतन्त्र की पद्धति में एक नई बात का समावेश हुआ था। चुनाव में गुप्त रूप से वोट देने का सबको अधिकार मिल गया। इसके परिणाम-स्वरूप कुछ महत्व की घटनाएँ देखने में आयीं।

मेरी आयु सात साल की थी, तब हमारे जिले में एक चुनाव हुआ। उस समय वहाँ कोई राजनीतिक दल नहीं बने थे, सबको चुनाव में बड़ी दिलचस्पी थी। जनता ने सुना कि चुनाव लड़ने वालों में एक सामन्त भी हैं। यह नहीं बताया गया कि सामन्त का नाम क्या है, फिर भी हम उस व्यक्ति को पहिचान गए। सौ साल पहले हमारे इलाके में जंगल साफ करके जो जमीन निकाली गई थी, उसी के वे मालिक बन बैठे थे। प्रायः आठ हजार परिवार उनकी जमीन पर काम करते थे। सामन्त उनका वोट मांगने निकले। उनके एजेण्ट उदारवादी भाषा में कहने लगे—"सामन्त साहब को वोट देने के लिये किसी पर जोर नहीं दिया जा सकता। पर जो लोग उन्हें वोट नहीं देंगे, हम भी उनकी जमीन पर काम करने के लिये जोर नहीं दे सकेंगे। स्वाधीनता का युग है। आप भी स्वाधीन हैं, सामन्त साहब भी स्वाधीन हैं" यह "उदारवादी" भाषा सुनकर किसान डर गए। हमारे इलाके में सामन्त से सभी घृणा करते थे। किन्तु सामन्त को उनकी प्रजा में किसी ने कभी देखा नहीं था। वे दूर कहीं शहर में रहते थे। वे मानो एक दैत्य थे, जिसको गाली देकर लोग उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे, तो भी मन में सुख मान लेते थे। किन्तु अब तो सामन्त के उस इलाके में आने की बात चलने लगी। लोगों को अब खुले आम गाली देने का अवसर नहीं मिलेगा और गाँव की गलियों में उस दैत्य को अभिन्दन जनाना पड़ेगा।

मेरे पिता यह सब स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। वे कई भाइयों में सबसे छोटे एक खाते-पीते किसान थे। उनमें विद्रोह की भावना भी सबसे अधिक थी। एक साँझ को बड़े भाई उनको समझाने-बुझाने आ पहुँचे। मैंने भी उनकी बातें सुनीं। सबसे बड़े भाई ने कहा—"सामन्त का खड़े होना है तो मज़ाक। इन सब कामों के लिये तो वकील इत्यादि स्पीचबाज़ लोग ही उपयुक्त होते हैं। लेकिन सामन्त जब खड़ा ही हो गया, तो हमें उनको वोट देना ही पड़ेगा"

मेरे पिता ने उत्तर दिया—"यदि सामन्त का खड़ा होना मज़ाक है, तो फिर भला हम क्यों उसका समर्थन करें ?"

"तुम जानते हो कि हम उसके मातहत हैं"

"राजनीति में नहीं। राजनीति में हम स्वाधीन हैं"

"राजनीति से हमारा पेट नहीं भरता। पेट तो धरती से भरता है। धरती सामन्त की है। हम उसके मातहत हो जाते हैं"

"उसके साथ दस्तावज़ में राजनीति का कोई जिक्र ही नहीं। वहाँ तो आलू और चुकन्दर का ही ब्योरा है। वोट देने की हमें स्वाधीनता मिलनी चाहिए"

"सामन्त के गुमाश्ते को भी फिर स्वाधीनता रहेगी कि नए साल की दस्तावेज हमें दे चाहे न दे। नहीं भाई, हमें उसका समर्थन करना ही पड़ेगा"

"मेरा तो इस प्रकार जबर्दस्ती वोट देने को जी नहीं चाहता। मुझे ग्लानि होती है"

"बूथ के भीतर जाकर चुपचाप जिसे चाहो वोट दे देना। लेकिन चुनाव के हंगामे में तुम्हें सामन्त के लिये बोलना होगा"

"आपकी बात मान तो लूँ, लेकिन मुझे शर्म आती है। सच मानिए, मुझे बहुत शर्म आती है"

अन्त में यह समझौता हुआ कि चुनाव की गरमागर्मी में मेरे पिता निष्पक्ष बने रहेंगे।

सामन्त के चुनाव सम्बन्धी दौरे के बन्दोबस्त में सरकारी कर्मचारी, पुलिस, पलटन और उनके गुमाश्ते, सब लोग शामिल हुए थे। एक इतवार को वे मोटर में बैठकर बड़े–बड़े गाँवों का चक्कर लगा गए। न कहीं रुके, न एक शब्द बोले। उस इलाके में मोटर देखना तो दूर, किसी ने उस दिन तक ऐसी किसी सवारी का नाम भी नहीं सुना था। किसानों ने उसको बिना घोड़े की गाड़ी कहकर पुकारा। उस यन्त्र के बारे में बड़ी अजीब–अजीब बातें सारे इलाके में फैल गयीं। सारा गाँव उस सड़क पर इकट्ठा हुआ था, जिस पर से कि सामन्त के गुजरने की बात थी। सबने अपने बढ़िया कपड़े पहने थे और सबके मन में उत्साह था। मोटर आई और रफ्तार कम किए बिना ही

धूल उड़ाती हुई सपाटा भर गई। सामन्त के गुमाश्तों ने समझाया कि मोटर पेट्रोल के वाष्प से चलती है और वह समस्त वाष्प नि:शेष हुए बिना उसका रुकना सम्भव नहीं। घोड़े की तो लगाम खींचकर रोका जा सकता है, किन्तु मोटर में तो लगाम नहीं जो जहाँ चाहें रोककर खड़े हो जाएँ।

दो दिन पीछे रोम से एक अजीब बूढ़ा आया। आँखों पर चश्मा था, हाथ में एक काली छड़ी और एक छोटा सूटकेस। कोई उसे जानता नहीं था। उसने कहा कि वह आँखों का डाक्टर है और सामन्त के विरुद्ध चुनाव लड़ना चाहता है। कुछ बच्चे और औरतें जिनको कि वोट देने का अधिकार नहीं था, उसके पास जमा हो गए। उनमें मैं भी था। हमने बूढ़े से बालने के लिये कहा। वह बोला—"अपने माता-पिता को याद दिलाते रहो कि गुप्त रूप से वोट देने का उनको अधिकार है। और कुछ नहीं। मैं गरीब आदमी हूँ। आँखों का इलाज करके पेट पालता हूं। लेकिन आपमें से किसी की आँख में कुछ खराबी हो तो मुफ्त दवा दूँगा" हम उसको एक बूढ़ी कुँजड़ी के पास ले गए, जिसकी आँखें खराब थीं। डाक्टर ने उसकी आँखें धोकर एक दवा की शीशी उसे दे दी। फिर उसने एक बार कहा—"अपने माता-पिता से कहना कि उन्हें गुप्त रूप से वोट देने का अधिकार है" और चला गया।

सामन्त की जो आवभगत सबने देखी थी, उससे सबको उसकी विजय पर पूर्ण विश्वास हो गया था और उसके कारिन्दों ने तो विजय-दिवस धूमधाम से मनाने की तैयारी भी कर डाली थी। मेरे पिता अपने वायदे के मुताबिक निष्पक्ष रहे और वोट गिनने वालों में उनका नाम आया। और जब सबको मालूम हुआ कि गुप्त वोट का अधिकार पाकर बहुसंख्यक लोगों ने सामन्त के विरुद्ध और डाक्टर के पक्ष में वोट दिये हैं, तो सबको बहुत ताज्जुब हुआ। बड़ा शोर भी मचा अधिकारियों ने कहा कि कोई धोखा हुआ है। किन्तु धोखा देने वाले इतने अधिक थे कि उनके विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सका।

जीवन फिर उसी प्रकार चलने लगा। किसी ने सवाल नहीं उठाया कि जनमत कभी-कभी सत्ता पाने की बजाए नित्य-प्रति क्यों नहीं सामाजिक

जीवन पर अपनी छाप डाल सकता। यह कहना गलत होगा कि लोग भय के कारण उदासीन थे। हमारे इलाके के लोग डरपोक तो कभी रहे नहीं। वे इटली की सबसे कड़ी जाति के लोग थे, जो जी तोड़ मेहनत करते हुए और हवा-पानी की मार खाते-खाते पक चुके थे। वे लोग बराबर बलवे और मार-काट करते रहते थे। दलित, वंचित वे चुपचाप जुल्म सहते रहते, किन्तु जब उनके सब्र का प्याला भर जाता, तो अचानक ज्वालामुखी से फट भी पड़ेते थे।

हमारे गाँव में उस समय पाँच हजार आदमी बसते थें और उनमें शान्ति कायम रखने के लिये बीस पुलिस वाले और एक दारोगा तैनात थे। हमारे गाँव के बहुत से नौजवान फौज में भी थे। फ़ौज और पुलिस में पटती नहीं थी। प्रथम महायुद्ध के दिनों में फौजी तो मोर्चे पर चले गए और उनकी प्रेमिकाओं से पुलिस वालों ने छेड़छाड़ करनी चाही। बात फैल गई। छुट्टी पर आए हुए तीन फौजियों से कुछ पुलिसवालों का झगड़ा हो गया और फौजवालों को गिरफ्तार करके दारोगा ने उनकी छुट्टी पूरी होने के पूर्व ही मोर्चे पर भेजना चाहा। उन फौजियों में से एक मेरा दोस्त था। उसकी माँ ने रोते-रोते मुझे यह खबर सुनाई। मैंने गाँव के मुखिया, मजिस्ट्रेट तथा पादरी से कुछ करने की अपील की। उन्होंने कहा कि मामला उनके बस के बाहर है। मैंने कहा कि यदि कुछ किया नहीं गया, तो बलवा हो जाएगा। दो बलवे पहले हो चुके थे। तीसरा अब खड़ा हो गया।

तीनों फौजियों को पाँच बजे की गाड़ी से ले जाने की बात थी। इसलिए साढ़े चार बजे ही चौकी पर धावा बोलने की तैयारी की गई। दुर्भाग्य से बात बहुत फैल गई। हम तीन लड़कों ने एक बलवा कराने की ठानी थी। एक ने घण्टा-घर पर चढ़कर घण्टा बजाना शुरू कर दिया। इसको हमारे इलाके में आग लगने अथवा और किसी मुसीबत का संकेत माना जाता था। दो लड़के किसानों को सब बात समझाने चल दिए। किसान लोग खेतों में काम छोड़कर गाँव की ओर भागे आ रहे थे। कुछ मिनट में ही एक उत्तेजित भीड़ चौकी के आगे जमा हो गई। पहले उन्होंने गालियाँ दीं, फिर पत्थर फेंके और

अन्त में गोली चला दी। रात को देर तक चौकी पर धावा चलता रहा। क्रोध से पागल अपने गाँव वालों को पहिचानना मेरे लिए कठिन था। आखिर चौकी के दरवाजे खिड़कियाँ टूट गईं और अन्धेरे में पुलिस के सिपाही भाग निकले। उन तीनों फौजियों को हम भूल चुके थे। किसी को खबर दिए बिना ही वे भी अपने घर लौट गए।

चौकी पर हम चन्द नौजवानों का रात भर के लिये कब्जा हो गया। सब बैठकर सोचने लगे कि और क्या करना चाहिये। मैंने कहा कि दिन निकलते ही सैंकड़ों सशस्त्र पुलिस वाले आकर गांव को घेर लेंगे और एक रात में हम जो कुछ करना चाहते हैं, वह किया नहीं जा सकता। एक रात में तो हम समाजवाद स्थापित नहीं पर सकते थे। किसी ने कहा कि जेल जाने से पूर्व सो लेने के लिये तो एक रात काफी है। हम सब थके थे। बात जँच गई और हम पड़ कर सोते रहे।

इस प्रकार के हंगामे और उनके बाद होने वाला दमन, किसानों के मन में भरे अविश्वास और सन्देह को बढ़ा जाते थे। सरकार को वे शैतान की एजेन्सी मानते थे और कहते थे कि एक अच्छे ईसाई को सरकार से कोई सरोकार नहीं रखना चाहिये। सरकार का काम, उनकी दृष्टि में, केवल लूटना–खसोटना और कुछ लोगों की अमीरी बनाए रखना था। चाहे जो कानून बना लो, चाहे जितना हंगामा कर लो, सरकार तो अपना काम बदलने से रही। केवल भगवान ही उसके पाप का घड़ा भर जाने पर कोई राह निकाल सकते हैं।

१९१५ में एक बड़े भूकम्प ने हमारे प्रान्त का एक बहुत बड़ा भू–भाग नष्ट कर दिया। तीस सेकेण्ड में पचास हजार मनुष्य मारे गए। मैं देखना चाहता था कि हमारे गाँव के लोग इस सम्बन्ध में क्या विवेचना करते हैं। भूगर्भशास्त्रियों के लम्बे–चौड़े व्याख्यानों का हमारे लोगों ने मज़ाक उड़ा दिया। उनको आश्चर्य होता था कि जिस इलाके में इतने अन्याय होते रहते हैं और जहाँ अन्याइयों को दण्ड नहीं मिलता, वहाँ और अधिक भूकम्प क्यों नहीं आते। भूकम्प में गरीब और अमीर, पण्डित और मूर्ख, राजा और प्रजा

एक साथ दब कर मरते हैं। हमारे लोगों की दृष्टि में, मनुष्य और मनुष्य के बीच जो साम्यता कानून नहीं साध सकता, वह भूकम्प ला देता है। हमारी एक बूढ़ी भठियारिन सात दिन तक अपने घर के मलबे में दब कर भी जीती रही थी। वह समझ ही नहीं सकी कि सबके मकान गिरे हैं। वह यही मान बैठी कि उसी का घर किसी कारीगरी के दोष के कारण अथवा किसी के जादू टोने से गिर पड़ा है। उसे बहुत सन्ताप हो रहा था और जब लोग उसे निकालने लगे तो उसने इन्कार कर दिया। ज्योंही उसे मालूम हुआ कि भूकम्प आकर और भी बहुत से घर ढह गए हैं, तो उसकी जीवन-स्पृहा और फिर से मकान बनाने की आकांक्षा लौट आई।

भूकम्प के बाद जो कुछ हुआ वह हमारे लोगों की आँखों में अधिक भयानक था। सरकार की ओर से पुनर्निर्माण का काम शुरू हुआ। और उसमें जो-जो षडयन्त्र, धोखाधड़ी, चोरी, बेईमानी, गबन और घूसखोरी हुई वह बताई नहीं जा सकती। मेरे एक मित्र ने जो कि सरकारी नौकरी से निकाला गया था, मुझे बड़े इञ्जीनियरों की कुछ कारस्तानियां बताईं। मैं कुछ ऊँचे और ईमानदार अधिकारियों के पास यह कहानी लेकर जा पहुँचा। मैंने उनसे उन बेईमान लोगों के विरुद्ध कुछ करने की मांग की। उन बड़े लोगों ने मेरी बातों पर सन्देह नहीं किया, बल्कि माना भी कि वह सब घोटाला सरकारी कामों में हो रहा है। लेकिन उन्होंने मुझे सलाह दी कि इन सब मामलों में टांग अड़ा कर मुझे बेवकूफ नहीं बनाना चाहिए। "तुम जवान हो" वे कहने लगे "अपनी पढ़ाई-लिखाई पूरी करके तुम्हें कुछ करना है। फिजूल की बातों में सिर खपा कर क्यों सिर बुराई बाँधते हो?"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ, मैं भी तो यही कहता हूं कि इस मामले में मुझ जैसे नादान बालक को नहीं, बल्कि आप लोगों जैसे भारी भरकम आदमियों को कदम उठाना चाहिए"

मैंने जैसे कोई सांप उनको दिखा दिया, इस प्रकार सहम कर वे बोले, "हम पागल थोड़े ही हैं। हमें दूसरों की बातों से क्या मतलब। हम अपना काम जानते हैं। बस"

उधर से निराश होकर मैंने कुछ आदर प्राप्त पादरियों से अपनी बात कही। अपने कुछ साहसी रिश्तेदारों को भी टोका। सबने वही बातें दोहराईं जो मैं सरकारी अफ्सरों से सुन चुका था। और सबने कुछ भी करने से इन्कार कर दिया।

तब मैंने विचार करना शुरू किया कि लड़कों कों जोड़ कर एक नया बलवा खड़ा करना क्या बुरा होगा। उन बेईमान इञ्जीनियरों के दफ्तर जला कर राख क्यों न बना दिए जाएँ। मित्र ने मुझे रोका। आग में तो उन बदमाशों की बेईमानी के सबूत भी जल जाएँगें, उसने मुझे समझाया। वह मुझसे बड़ा और अधिक अनुभवी था। उसने सलाह दी कि समाचार–पत्रों में सब कुछ निकलवाना चाहिए। मैंने समाचार–पत्र का नाम पूछा। उसने कहा कि केवल हमारा समाजवादी पत्र ही यह सब छाप सकता है। मैंने मेहनत करके अपने जीवन के पहले तीन लेख लिखे, जिनमें मैंने उन इञ्जीनियरों का सारा कच्चा चिट्ठा लिख दिया। और समाजवादी–पत्र के पास सब लेख भेज दिए। उनमें से दो तो तुरन्त ही छप गए। पाठकों में काफी सनसनी फैली। किन्तु सरकार के कान पर जूँ तक न रेंगी। तीसरा लेख नहीं छपा और मुझे पता लगा कि एक प्रमुख समाजवादी नेता ने सम्पादक को मना कर दिया है। तब मेरी समझ में आया कि बेईमानी और दगाबाजी का बाजार तो और भी दूर–दूर तक फैला है और समाजवादी भी उससे नहीं बच सके हैं। जो कुछ छप चुका था, उसी में कई मुकदमे चलाने और जांच करने के लिए काफी मसाला था। किन्तु हुआ कुछ भी नहीं। जिन इञ्जीनियरों को मैंने चोर और डाकू कहा था, उन्होंने भी सफाई पेश करने की जरूरत नहीं समझी। कुछ दिन तक कानाफूसी होती रही और फिर बात पुरानी पड़ गई। सब भूल गए जैंसे कुछ हुआ ही नहीं था।

मुझको सबने एक उदार किन्तु सनकी और अजीब लड़का ठहराया। हमारे इलाके में हजारों युवक प्रतिवर्ष स्कूल पास करके बेकार फिरते थे। सरकारी नौकरी के सिवाय और हमारे लिए कुछ भी करने को नहीं था। उस नौकरी के लिए कोई विशेष विद्या बुद्धि नहीं चाहिए थी। बस सरकार की

फरमाबर्दारी काफी थी। किन्तु हमारे इलाक के नौजवान तो स्वभावतः ही उपद्रव और विद्रोह की भावना लेकर बड़े होते थे। सरकारी नौकरी उनके लिए एक प्रकार की पराजय और आत्म-हत्या का प्रतीक थी। हमारी शिक्षा-प्रणाली में भी चरित्र-निर्माण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। मैंने अधिकतर शिक्षा कैथोलिक स्कूल कालिजों में पाई थी। वहाँ हमको ग्रीक और लेटिन बहुत अच्छी पढ़ाई जाती थी, आचार व्यवहार भी सिखाया जाता था। किन्तु सामाजिक शिक्षा न-कुछ के बराबर थी। हमको इतिहास पढ़ानेवाले स्वयं ही राष्ट्रवादी इतिहास का मज़ाक उड़ाते रहते थे। किन्तु साथ-ही-साथ वे हमें यह भी समझाते रहते थे कि परीक्षाओं में हमको राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से ही लिखना चाहिए, जिससे हम अच्छी तरह पास होकर कुछ बनें और उनका नाम बढ़े। सरकारी परीक्षक भी हमारे परचों में बहुत विवादात्मक प्रश्न पूछते थे और हमसे कैथोलिक दृष्टिकोण के स्थान में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से ओत-प्रोत उत्तर पाकर एक व्यंग भरे स्वर में हमारे उदारवादी की प्रशंसा करते थे। जिसको भी संस्कृति से कुछ प्रेम होता था, वह निश्चय ही यह मिथ्याचार देख कर कुढ़ने लगता था । किन्तु साधारण छात्र गम्भीर प्रश्नों को इतना उलझा और विवादात्मक देख कर, केवल यही फिक्र करने लगता था कि किस प्रकार परीक्षाएँ पास करके सरकारी नौकरी पा जाए।

हमारे पड़ौस के गाँव में एक डाक्टर बसते थे। वे कहा करते थे कि हमारे इलाके में जन्म लेने वाले राहु की दिशा लेकर आते हैं। उनको या तो विद्रोही बनना पड़ता है या सरकारी चापलूस। मध्यम मार्ग उनके लिए बन्द रहता है। वे स्वयं विद्रोही थे और अपने-आपको अराजक कहते थे। गरीबों के पास जाकर वे टाल्स्टाय की अराजक बातों पर व्याख्यान दिया करते। सब जगह उसको लेकर चर्चा चला करती। अमीर उनसे नफरत करते थे, गरीब उनका मज़ाक उड़ाते थे और कुछ लोग जो उन्हें समझते थे, उन पर दया दिखाया करते। आखिरकार उनका काम भी छुट गया और सचमुच ही वे भूख से तड़प-तड़प कर मरे।

न जाने दूसरों के प्रति अन्याय होता देख कर जागनेवाली विद्रोही भावना को कहाँ से प्रेरणा मिलती है। न जाने क्यों भरपूर थाली पर खाने बैठ कर दूसरे लोगों की भुखमरी याद आते ही कुछ लोगों के गले में रोटी अटक जाती है। न जाने क्यों कुछ लोग गरीबी और जेल का जीवन बिताने के लिए उद्यत हो जाते हैं, किन्तु अन्याय होता नहीं देख सकते। मेरे पास इन प्रश्नों का उत्तर नहीं है। शायद किसी के पास भी नहीं हो। जिसने भी अपना अन्तर टटोल कर देखा है वह ही बता देगा कि इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिल पाता। फिर भी अपने बारे में मैं इतना अवश्य कहूँगा कि जिस इलाके में मैंने जन्म लिया, उसके पानी का असर अवश्य मुझ पर पड़ा है। मैं देश–देशान्तर घूमा हूं और बहुत दिन मैंने अपने इलाके के बाहर बिताए हैं, किन्तु उस पानी का असर मैं मिटा नहीं पाया।

जिस घर में मैं जन्मा था, उसके चारों ओर तीस–चालीस मील के वृत्त में हमारा इलाका बसा है। इतिहास में हमारे इलाके का नाम नहीं मिलेगा। हमारे इलाके में गिरजे और मठ ही देखने योग्य स्थान हैं और हमारे संत तथा पत्थर–तराश ही हमारी सच्ची संतान रहे हैं। जीवन की कठिनाइयाँ अनेक होने के कारण हम तकलीफ सहने के आदी हो गए हैं और प्रभु ईसा का दुखव्रती सन्देश हमें बिल्कुल अपना लगता है। संशय की ज्वाला में हम कभी नहीं जले। हम तो विश्वास से ओतप्रोत, भगवान के स्वर्ग के अवतरण की राह देखते रहे हैं। यह स्वप्नशीलता ही हमारी एकमात्र पूंजी रही है। राजनीतिक क्रांति की बात कभी हमारी समझ में नहीं आई।

इसी घोर एकाकीपन से भाग कर मैंने शहर में शरण ली थी। मैं धरती पर पाँव टिकाना चाहता था। पर मेरे अन्तर में सुलगती विद्रोह की भावना तथा नैतिक प्रेरणा के लिए एक रीतिमत, शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धान्त को अपनाना कोई आसान बात नहीं थी। इसीलिए मैं नहीं कह सकता कि कम्युनिस्ट पार्टी में दीक्षा लेना मेरे लिए एक फार्म पर हस्ताक्षर मात्र कर देने की बात थी। मैं तो पार्टी के मार्ग से अपने विद्रोह को सजीव रखना चाहता था, आत्मोत्सर्ग करके अपने विश्वासों को रूप देना चाहता था।

उन दिनों अपने आपको सोशलिस्ट अथवा कम्युनिस्ट कह देना आफत मोल लेने का दूसरा नाम था। परिवार और काम पाने की आशा छोड़नी पड़ती थी। फाकामस्ती की तैयारी करनी पड़ती थी। फासिस्टवाद के उदय के कारण जीवन और भी कठिन हो गया था। इन्हीं सब बातों से कम्युनिज्म के कुछ मौलिक सिद्धान्त साबित होते थे और पार्टी में मेरा विश्वास बढ़ गया। कम्युनिस्टों के षडयन्त्रकारी मनोभाव के अनुरूप ही वातावरण और परिस्थितियाँ भी उन्हें मिल गईं। मुझे कई साल तक अपने देश में ही विदेशी बनकर रहना पड़ा। पार्टी के सदस्य को अपना नाम बदलना पड़ता था और पुलिस से बचने के लिए अपने परिवार तथा बन्धु–बान्धवों से नाता तोड़कर दूर रहना पड़ता था। पार्टी ही हमारे लिए एकमात्र परिवार, पाठशाला एवं देव मन्दिर थी। पार्टी के बाहर जो संसार था, उसको ध्वंस करके एक नया संसार बनाने की तो हमने कसम खाई ही थी। सेना में अथवा धार्मिक संस्थाओं में जिस प्रकार व्यक्ति अपनापन खोकर एक सामूहिक संस्था में आत्मसात् हो जाता है, वही हमारे साथ भी हो रहा था। जितनी ही आफत हम पर आती थी, जितने ही बलिदान हमको करने पड़ते थे, उतनी ही हमारी श्रद्धा और भक्ति पार्टी के प्रति बढ़ती जाती थी। यह आदर्शवाद और आत्मोत्सर्ग की भावना समझकर ही कोई कम्युनिज्म का भेद जान सकता है। हमारे पूँजीवादी समाज में जो भी प्राणशील व्यक्ति समाज की कुरीतियां और अन्याय देखकर हिल उठते हैं, वे सारे कम्युनिस्ट पार्टी के आसामी हैं। कोई यदि चाहे कि उन व्यक्तियों को भोग विलास का लालच देकर कम्युनिज्म से छुटाया जा सकता है, तो निश्चय वह हार खाएगा। आदर्शवाद का नशा कुछ और ही होता है।

कामिन्टर्न के भीतर चलनेवाली आरम्भिक कलह का मुझपर कोई असर नहीं पड़ा। देश–देश की जो पार्टियां लेनिन की २२ शर्त मान कर कामिन्टर्न में शामिल हुईं थीं, उनमें मतभेद के अनेक अंकुर थे। वे सब साम्राज्यवादी युद्ध के कट्टर विरोधी थे और सुधारवाद में भी उनमें से किसी की आस्था नहीं थी। किन्तु विप्लव का मार्ग सबने अपने–अपने देश के ऐतिहासिक विकास

के अनुकूल ही खोजना चाहा। घोर दमन और सामाजिक वैषम्य के बीच पले रूस के बोल्शेविकों की मान्यताएं कुछ और थीं और पश्चिम यूरोप के मुक्त वातावरण में रहने वाले दलों की कुछ और। किन्तु रूस की पार्टी के अहंकार और निरंकुशता की भी सीमा नहीं थी। वे किसी भी प्रकार का मतभेद सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। इसलिए एक के बाद दूसरी अनेक कम्युनिस्ट पार्टियों को कामिन्टर्न छोड़नी पड़ी। किन्तु ये सब झगड़े जहाँ होते थे, वहाँ के वातावरण से मैं दूर था और इनका मुझ पर कोई असर नहीं पड़ा। कामिन्टर्न में बढ़ती हुई निरंकुशता और नौकरशाही देखकर बुरा तो मुझे भी लगता था, किन्तु उसके साथ सम्बन्ध विच्छेद न कर सकने के कुछ कारण भी थे। एक तो मेरे जो साथी कामिन्टर्न के नाम पर मारे गये थे अथवा जेलों में सड़ रहे थे, उनसे नाता तोड़ने के लिए मेरा मन नहीं माना। फिर इटली में सिवाय कम्युनिस्ट पार्टी के और कोई फासिस्टवाद का विरोध करने वाला नहीं था। मैनें यह भी देखा कि जो कम्युनिस्ट पार्टी छोड़कर चले गए, उनका किस प्रकार नैतिक अधःपतन हुआ। और यह आशा तो थी ही कि सोवियत् रूस के भीतर किसी घटना से अथवा पश्चिमी यूरोप के कम्युनिस्टों के असर से कामिन्टर्न में पुराना स्वास्थ्य किसी दिन अवश्य लौट आएगा!

१९२१ और १९२७ के बीच मैं बहुत बार मास्को गया और इटली की पार्टी के प्रतिनिधि की हैसियत से कामिन्टर्न की कई सभाओं में मैंने भाग लिया। मैंने यह देखा कि रूस के कम्युनिस्ट, यहाँ तक कि लेनिन और ट्राट्स्की जैसे महान् व्यक्ति भी, अपने से विरोधी बातों के विषय में इमानदारी नहीं दिखाते थे। जो कोई भी उनसे मतभेद करने का साहस करता था, उसी को वे गद्दार, अवसरवादी, दलाल इत्यादि कहकर गाली देने लग जाते थे। रूस के कम्युनिस्ट एक इमानदार प्रतिपक्षी की बात समझ ही नहीं सकते। एक ताज्जुब की बात है। जो अपने आपको बुद्धिवादी और भौतिकवादी कहते हैं, वे ही झगड़ा होते ही नैतिक आचार की दुहाई देने लगते हैं। इस पहेली की दूसरी तुलना हमको ईसाइयत के इतिहास में मिलती है जब कि

अपने से मतभेद रखनेवाले धर्मप्राण व्यक्तियों को भी मठाधीश लोग शैतान के चेले बताकर जला डालते थे।

१९२२ में जब मैं मास्को से लौट रहा था तो लेनिन की प्रसिद्ध साथिन अलेक्जान्डरा कोलोनताइ से मेरी बातें हुई। वह बोली—"यदि किसी दिन तुम अखबार में खबर पढ़ो कि लेनिन ने मुझ पर क्रेमलिन से चाँदी के बर्तन चुराने का इलजाम लगाकर मुझे गिरफ्तार कर लिया है, तो तुम यही समझना कि मैं कृषि अथवा शिल्प सम्बन्धी किसी साधारण बात पर लेनिन से बहस कर बैठी हूं"—श्रीमति कोलोन्ताई को पश्चिमी यूरोप में रहकर यह मसखरेपन की आदत पड़ी थी और पश्चिमी यूरोप के लोगों से ही वह मज़ाक किया करती। किन्तु अन्य रूसी कम्युनिस्टों को अपनी बात समझाना पश्चिमी यूरोप के लोगों के लिए एक प्रकार से असम्भव था। एक सरकारी प्रकाशनालय की अधिकारिणी को मैंने एक बार यह समझाना चाहा कि रूस में लेखकों को जिस निरुत्साह और दमन के वातावरण में रहना पड़ता है, वह ठीक नहीं है। उसकी समझ में ही नहीं आया कि मैं कह क्या रहा हूँ। मैंने कुछ खुलासा करके कहा—

"स्वाधीनता का अर्थ है कि हम शंका उठा सकें, भूलें कर सकें, खोज और प्रयोग करें, किसी भी सत्ता की हुक्मअदूली करने की छूट पा जाएं"

वह बेहद घबरा कर बोला—"किन्तु यह सब तो विप्लवविरोधी बातें हैं"—फिर कुछ आत्मसंयत होकर कहने लगी—"हमें खुशी है कि हमारे यहाँ आपकी सी स्वाधीनता नहीं है, बल्कि उसके बदले में कुछ अस्पताल बन गए हैं"

"स्वाधीनता का इस प्रकार सौदा नहीं किया जा सकता"—मैंने फिर समझाना चाहा "और अस्पताल तो और देशों में बने हैं, बनते ही रहते हैं"

वह ठहाका मारकर हँस पड़ी। बोली—"तुम भी मुझे क्या बेवकूफ बना रहे हो। भला अस्पताल और किसी देश में कैसे हो सकते हैं"

बस, मेरी हिम्मत नहीं हुई कि आगे उसके साथ कुछ बहस करूँ।

फिर भी उन शुरू के दिनों में रूस के नौजवानों का उत्साह देखते बनता था। वे विश्वास करते थे कि वे एक नए और सुखद संसार की सृष्टि कर रहे हैं। उनको बाद में चलकर कितनी निराशा हुई होगी यह भी सोचने की बात है। उन्होंने देखा कि नए राज्य की भीत उठ गई, नई आर्थिक व्यवस्था का रूप भी निखर गया, विदेशी आक्रमण बन्द हो गए। किन्तु स्वाधीनता लौट आने की अपेक्षा एक निरंकुश तानाशाही की मनमानी बढ़ती ही गई और दमन का कुचक्र घोर से घोरतर होता गया।

रूसी कम्युनिस्ट नवयुवक संघ का प्रमुख, लाज़ार शाट्स्की, मेरा मित्र था। एक दिन वह कहने लगा—"मुझे अपने जन्मदिन पर बहुत अफसोस होता है। मैं इतनी देर से क्यों पैदा हुआ। कुछ पहले पैदा हुआ होता तो बड़ा होने के कारण रूस की १९०५ वाली अथवा १९२७ वाली क्रान्ति में भाग ले पाता"

हम लेनिन की क़ब्र के पास लाल चौक में बैठे थे। मैंने कहा—"अफसोस क्यों करते हो। रूस में तो अभी भी क्रान्ति की आवश्यकता है"

"कैसी क्रान्ति? वह कब होगी?" वह पूछने लगा।

मैंने लेनिन की क़ब्र की ओर उंगली उठाई। उस समय वह लकड़ी की बनी थी। वहाँ पर नित्यप्रति भूखे नंगे किसानों की एक लम्बी लाइन प्रदक्षिणा करती मिलती थी। मैंने कहा—"मेरा ख्याल है तुम लेनिन से प्यार करते हो। मैं भी लेनिन को जानता था और मेरे मानस में उसकी याद ताज़ा है। तुम्हें मानना ही पड़ेगा कि लेनिन की मृतंदेह की यह पूजा-अर्चना उसकी स्मृति का अपमान है। और मास्को जैसी क्रान्तिकारी नगरी पर तो यह कलंक का टीका है। तुम एक पीपा तेल ले आओ। हम इस मृत देह को जलाकर इस अन्धविश्वास का अन्त कर देंगे। यही एक छोटी-मोटी क्रान्ति हो जाएगी"

मुझे आशा नही थी कि वह मेरी बात मानेगा। किन्तु मेरी बात को एक मज़ाक समझकर वह हंसेगा, ऐसा मैंने अवश्य सोचा था। किन्तु वह बिचारा तो मेरी बात सुनकर पीला पड़ गया और भय से थरथर कांपने लगा। उसने मुझसे प्रार्थना की कि मैं इतनी बीभत्स बात फिर उससे कभी न कहूँ। और किसी से भी नहीं। दस साल बाद जिनोवीव का सह-षडयन्त्रकारी ठहराकर

शाट्स्की के घर की खानातलाशी हुई और वह पांच तल्ले के मकान से कूद कर मर गया। मैंने लाल चौक में अनेक बार जलूस और फौज पलटन की परैड देखी है, किन्तु उन सबकी स्मृतियों से मेरे उस मित्र की भावना तथा प्यारभरी भयभीत आवाज की स्मृति आज भी मेरे हृदय में अधिक शक्तिशाली है।

कामिन्टर्न का इतिहास लिखना बहुत दुरूह काम है और अभी वह कहानी पूरी भी नहीं हुई है। वहाँ मैंने जो-जो बातें सुनीं, उनमें से क्या लिखूँ, यह फैसला करना कठिन है। मुझे जो कुछ याद आता है वह शायद और लोगों को अजीब सा लगे। ब्रिटेन की ट्रेड यूनियन की केन्द्रीय समिति ने अपनी शाखाओं को एक नोटिस दिया था, जिसके अनुसार यदि किसी शाखा ने कम्युनिस्टों द्वारा भड़कायी हड़ताल में भाग लिया तो उसका बहिष्कार किया जाएगा। उस दिन कामिन्टर्न की एक सभा में इस बात पर चर्चा हो रही थी। ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी का प्रतिनिधि संशय में पड़ा था। यदि कम्युनिस्टों द्वारा संचालित ट्रेड यूनियन हड़ताल में नहीं साथ देतीं को वे ट्रेड यूनियन टूट जाएंगी। यदि साथ देती हैं तो बहिष्कार होने के कारण मजदूर आन्दोलन पर उनका कोई असर नहीं रह जाएगा। रूस के प्रतिनिधि पियेट्निस्की ने सुझाव पेश किया कि ऊपर से तो उन ट्रेड यूनियनों को केन्द्रीय समिति की बात मानकर फरमाबरदारी का दम भरना चाहिए, किन्तु हड़ताल में क्रियात्मक सहयोग देकर पार्टी का काम करना चाहिये। ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने घबराकर कहा कि यह तो झूठ बोलने की बात हुई। सब ठहाका मारकर हंसने लगे। वैसी मुक्त हंसी बहुत कम ही उन मनहूस दफ्तरों में सुनने को मिलती थी। सारे मास्कों में यह बात फैल गई और स्टालिन तथा अन्य रूसी अधिकारी उस अंग्रेज के भोलेपन पर पेट भरकर हँसे। वह बात मुझे हमेशा याद रही है। उस अंग्रेज के घबराए हुए शब्द—"यह झूठ बोलना ठीक नहीं"—मेरे कानों में गूँजते रहते हैं।

इटली की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि की हैसियत से मैं बहुत बार रूस नहीं गया। मैं कामिन्टर्न के किसी विभाग में नहीं था। फिर भी दो-चार बार जाकर मैंने जो अध:पतन अपनी आँखों से देखा, वह किसी भी

देखनेवाले की आँखों से छुपा नहीं रह सकता था। कामिन्टर्न के दो–चार लोगों से मेरा परिचय था। उनमें सर्वप्रथम एक फ्रांसीसी जैकेदोरियो का नाम मुझे याद आता है। वह प्रथम बार मुझे १९२१ में मास्को में मिला था। वह सीधा सा, भावुक और दुर्बल नौजवान था। शायद इसीलिए उसको कामिन्टर्न में लिया गया था। अन्यथा तो उससे अधिक शिक्षित, तीक्ष्णबुद्धि और मजबूत कम्युनिस्ट फ्रैंच पार्टी में बहुत थे। कामिन्टर्न ने उससे जो आशा की थी वह पूर्ण हुई। वह कामिन्टर्न के बड़े लोगों में गिना जाने लगा। किन्तु मैंने अपनी आँखों से देखा कि किस प्रकार उत्तरोत्तर उसका अध:पतन हुआ। अपनी विश्वासशीलता छोड़कर वह सब प्रकार की बेईमानी करने लगा और सब मामलों पर उसका दृष्टिकोण प्राय: फासिस्ट हो चला। यदि उसके प्रति मैं अपनी घृणा को भुला सकूँ तो मैं उसकी जीवनी लिख सकता हूं। उस जीवनी का नाम होगा—''एक कम्युनिस्ट का फासिस्ट में परिवर्तन''

एक दिन दोरियो मुझे मास्को में मिला। वह तभी चीन से लौटकर आया था। उसने मुझे और कई अन्य मित्रों को बताया कि किस प्रकार चीन में कामिन्टर्न से भारी भूलें हुई थीं। किन्तु अगले दिन कामिन्टर्न की सभा में बोलते हुए वह ठीक उलटी बातें कहने लगा। बाहर निकलकर मुझसे मिला तो उसकी मुस्कराहट में एक जुगुप्सा और आत्मसन्तोष का भाव था। कामिन्टर्न में आगे चलकर जो परिवर्तन हुए, उनके कारण दोरियों ने कामिन्टर्न छोड़ दिया और लोगों ने फिर उसका असली रूप भी देखा। वह खुलेआम फासिस्ट बन गया। किन्तु दोरियो जैसे और अनेक लोग आज भी कामिन्टर्न में हैं और कम्युनिस्ट पार्टियों का नेतृत्व करते हैं। कामिन्टर्न की छठी कांग्रेस में भाषण देते हुए इटली के पामीरो तोगलियातीने[१] कामिन्टर्न के अधिकारियों की बेईमानियों की ओर संकेत करते हुए जर्मन कवि गेटे के शब्द दोहराए थे। मरणासन्न जर्मन कवि ने कहा था—''प्रकाश चाहिए, और

१. आजकल भी आप इटली की कम्युनिस्ट पार्टी के कर्णधार हैं।

अधिक प्रकाश''—तोगलियाती को उस धृष्टता का फल भुगतना पड़ा। दो–चार साल तो वह अपनी बात पर अड़कर संघर्ष करता रहा और अपने आपको कम्युनिस्ट कहते हुए भी स्पष्टवादिता को ओर बढ़ने लगा, किन्तु अन्त में उसे घुटने टिकाने पड़े और मुँह बन्द करना पड़ा।

कामिन्टर्न के भीतर विविध देशों के लोग होने से जो मतभेद थे, सो तो थे ही। किन्तु रूस के भीतर होने वाली समस्त घटनाएं भी बार–बार कामिन्टर्न में फिसाद उठाती रहती थीं। लेनिन की मृत्यु के बाद यह अवश्यम्भावी था कि सोवियत् राष्ट्र की सत्ता कुछ गिने चुने लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जाए। कम्युनिस्ट पार्टी ने रूस के भीतर और सब राजनीतिक दलों को मिटा दिया था और न रह गई थी लोक सभाएं जिनमें कि जनता के प्रतिनिधि स्वाधीन परामर्श एवं वादविवाद कर सकें। इसलिए पार्टी के नेतृत्व का कुठाराघात सब ओर मैदान खाली देखकर कम्युनिस्ट पार्टी पर ही बरसने लगा। पार्टी के भीतर जो कोई भी नेताओं से थोड़ा सा मतभेद रखता था, उसी की शामत आने लगी। क्रान्ति अपने शत्रओं को उदरस्थ करने के बाद अपनी आग में स्वयं जलने लगी। रूस के भाग्य में शान्ति नहीं बदी थी। संघर्ष जारी रहा।

मई १९२७ में मैं तोगलियाती के साथ इटली की कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से कामिन्टर्न की एक विशेष सभा में भाग लेने गया। तोगलियाती उस समय पेरिस से इटली की पार्टी का संचालन कर रहे थे और मैं इटली के भीटर रहकर पार्टी का खुफ़िया कार्यक्रम चलाता था। हम दोनों बर्लिन में मिले और साथ–साथ मास्को पहुंचे। कहने के लिये तो कामिन्टर्न की वह विशेष सभा इसलिए बुलाई गई थी कि आसन्न साम्राज्यवादी युद्ध का सामना करने के लिये कम्युनिस्टों को क्या नीति अपनानी चाहिये, इस बात का निर्णय किया जाए। किन्तु वास्तव में ट्राट्स्की की और ज़िनोवीव का पत्ता काटने के लिये ही वह एक षडयन्त्र था। पूरी सभा के सामने कार्यक्रम रखने के पहले एक छोटा–सा गुट हमेशा सब कुछ तय कर लिया करता था। उस गुट में कुछ बाहर की पार्टियों के नेता भी रहते थे। इस बार तोगलियाती को

बुलाया गया था। तोगलियाती हठ करके मुझे भी ले गया। कामिन्टर्न के नियम के अनुसार इटली की पार्टी की ओर से केवल वे ही उस गुट की मीटिंग में भाग ले सकते थे। किन्तु तोगलियाती को आशंका थी कि न जाने वहाँ क्या-क्या सवाल उठें और उसने मुझे साथ ले जाना जरूरी समझा, क्योंकि पार्टी का असली काम तो इटली के भीतर मेरी ही देख-रेख में होता था। पहली बार मीटिंग में पहुँचे तो मुझे ऐसा लगा जैसे हम देर से आए हों। कामिन्टर्न के दफ्तर के छोटे से कमरे में कुछ लोग बैठे थे। जर्मनी के थेलमैन सभापति थे। उन्होंने सर्वप्रथम ट्राट्स्की के विरुद्ध एक प्रस्ताव का मसविदा सबके सामने रक्खा। ट्राट्स्की ने रूसी पार्टी को एक पत्र लिखा था। प्रस्ताव में उसी पत्र को लेकर उसकी भर्त्सना की गई थी। रूसी पार्टी की ओर से स्टालिन, रिकोव, बुखारिन एवं मेन्विल्स्की मीटिंग में आए थे। थेलमैन ने प्रस्ताव पढ़ने के बाद पूछा कि हम सब लोग उससे सहमत हैं या नहीं। फिनलैण्ड के ओटोमर कुजीने ने कहा कि प्रस्ताव जितना स्पष्ट और कड़ा होना चाहिये, वैसा नहीं है। "हमको साफ शब्दों में कहना चाहिये कि ट्राट्स्की ने जो पत्र रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के पास भेजा है" कुजीने ने सलाह दी, "वह सरासर गद्दारी से भरा है और उस आदमी का लिखा हुआ है, जिसका मजदूर आन्दोलन से कोई सम्पर्क नहीं रह गया"—और किसी से कुछ कहने का अनुरोध थेलमैन ने नहीं किया। मैं चुप न रह सका। तोगलियाती की अनुमति लेकर मैंने कह दिया—"माफ कीजिये, हम देर से आए हैं, इसलिये हमको मालूम नहीं कि उस पत्र में क्या लिखा है, जिसकी भर्त्सना आप करना चाहते हैं"—थेलमैन ने उत्तर दिया,—"वह पत्र तो हममें से किसी ने भी नहीं देखा है"

मुझे अपने कानों पर विश्वास करना मुश्किल हो गया। मैंने फिर दोहराया—"शायद ट्राट्स्की के पत्र में ऐसी बातें लिखी हों, जिनकी भर्त्सना हमें करना चाहिये। किन्तु पत्र को पढ़े बिना भला हम क्योंकर कुछ कह सकते हैं"

थेलमैन फिर बोले—"यहाँ पर मौजूद रूसी प्रतिनिधियों को छोड़कर और कोई भी नहीं जानता कि उस पत्र में क्या लिखा है"—मुझे विश्वास होने

लगा कि अवश्य ही थेलमैन की बात को हमें फ्रैंच भाषा में समझाने में अनुवादक से भूल हो रही है। इसलिये मैंने अनुवादक से कहा—"यह असम्भव है कि थेलमैन ऐसा कह रहे हों। कृपया उनकी बात का शब्दश: अनुवाद दोहराइए"

अबकी बार स्टालिन बोले। वे कमरे के एक ओर चुपचाप खड़े थे। कमरे में केवल वे ही एक व्यक्ति थे, जो शान्त और अनुत्तेजित दीख पड़ते थे। वे कहने लगे—"हमारी पार्टी ने यह फैसला किया है कि ट्राट्स्की के उस पत्र का अनुवाद करके कामिन्टर्न के अन्य प्रतिनिधियों को दिखाना उचित नहीं होगा, क्योंकि उस पत्र में सोवियत् शासन की नीति सम्बन्धी कुछ बातें भी हैं"

यहाँ यह कह देना चाहता हूँ कि आगे चलकर स्वयं ट्राट्स्की ने उस पत्र को विदेश में जाकर प्रकाशित किया और कोई भी उसे पढ़कर देख सकता है कि उसमें सोवियत् शासन के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं है। हाँ उसमें स्टालिन और कामिन्टर्न की चीन सम्बन्धी नीति की कड़ी आलोचना अवश्य है। २५ अप्रैल १९२७ के दिन मास्को सोवियत् सभा में स्टालिन ने च्याँग काई शेक[१] के गुण गाए थे और कूमिन्टाँग[२] पार्टी में अपना पूर्ण विश्वास जताया था। एक सप्ताह बाद चीन के राष्ट्रवादी नेता ने अपना असली रूप दिखाया। कम्युनिस्ट लोग कूमिन्टाँग से निकाले गए, हजारों मजदूरों की शांघाई और वूहान में हत्या हुई। शायद इसीलिये स्टालिन वह पत्र किसी को दिखाना नहीं चाहते थे।

थेलमैन ने मुझे से पूछा कि क्या स्टालिन का उत्तर मेरे लिये सन्तोषप्रद है। मैंने उत्तर दिया—"मैं रूस की कम्युनिस्ट पार्टी को अपने देश सम्बन्धी कोई भी कागज-पत्र गुप्त रखने का पूर्ण अधिकार देता हूँ। किन्तु मेरी समझ में नहीं आता कि अन्य प्रतिनिधि किस प्रकार एक गुप्त बात की भर्त्सना कर सकते हैं"—तोगलियाती मुझसे सहमत जान पड़े। किन्तु अन्य लोगों को हम

१. चीन के राष्ट्रवादी नेता।
२. चीन की राष्ट्रवादी पार्टी।

दोनों पर बहुत क्रोध आ रहा था। विशेषकर फिनलैण्ड, बलगारिया और हंगरी के प्रतिनिधि लाल-पीले हो गये।

कुजी ने लाल आँखें निकालकर बोला—"मुझे विश्वास नहीं होता कि सिलोने जैसे बूर्जुआ मनोवृत्ति के लोग भी क्रान्ति सेना के सदस्य हो सकते हैं"—मुझे बूर्जुआ कहते समय उसके मुख पर व्यङ्ग, घृणा और जुगुप्सा के भाव उमड़ आए।

अकेले स्टालिन अब भी शान्त रहे। बोले—"यदि एक भी प्रतिनिधि प्रस्ताव का विरोध करता है, तो प्रस्ताव पेश नहीं होना चाहिये। शायद हमारे इटालियन साथी हमारी भीतरी बातों से परिचित नहीं हैं। मेरा मत है कि सभा कल तक के लिये स्थगित कर दी जाए और हममें से एक किसी को हमारी भीतरी बातें इटालियन बन्धुओं को समझाने का उत्तरदायित्व लेना चाहिये"

वह उत्तरदायित्व बलगारिया के वासिल कोलरोव ने संभाला। उसने साँझ को हमें चाय का निमन्त्रण दिया। भूमिका बाँधे बिना वह मुस्कराकर बोला—"स्पष्ट बात होनी चाहिये। आप क्या समझते हैं कि मैंने वह पत्र पढ़ा है? नहीं, मैंने नहीं पढ़ा। और सच पूछिए तो मैं उसे पढ़ना भी नहीं चाहता। यहीं नहीं, यदि स्वयं ट्राट्स्की वह पत्र मेरे पास भेज दें, तो भी मैं नहीं पढूंगा। बात पत्र पढ़ने-पढ़ाने की है ही नहीं। मैं जानता हूं कि इटली में आप लोग बाल की खाल निकाला करते हैं। किन्तु यहाँ उस सबके लिये भला किसे फुर्सत है। सचाई यह है कि रूस की पार्टी में शक्ति-संचय के लिये दो दलों में घोर घमासान मचा हुआ है। आप को उनमें से एक दल को चुनना होगा। वह पत्र पढ़कर भला क्या होगा? चीन की क्रान्ति के विषय में सच क्या है, ठीक कौन था और ग़लत कौन—ये सब बातें भी व्यर्थ हैं। उन दो दलों के बीच तो फैसला होने से रहा। बस आपको निर्णय करना है कि उनमें से आप किसका साथ देंगे। मैंने तो निर्णय कर लिया है। जिधर बहुमत, उधर ही मैं भी। अल्पमत वाले लोग कुछ भी कहें, कितने ही पत्र लिखें, मेरा फैसला तो बदलता नहीं। इन सब फालतू बातों में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं। हम सत्य और मिथ्या का निर्णय करने यहाँ नहीं आए"

रुककर कोलारोव ने फिर हमारे प्यालों में चाय डाली। वह हमारी ओर इस प्रकार देख रहा था, जैसे स्कूल मास्टर बिगड़ैल छात्रों की ओर देखता है। मेरी ओर विशेष ध्यान देते हुए उसने पूछा—मेरी बात समझ में आई या नहीं।"

"हाँ, बहुत अच्छी तरह"—मैंने कहा।

"तो आप मेरी बात मानते हैं"—वह बोला।

"नहीं"—मैंने उत्तर दिया।

"भला क्यों नहीं?"—उसने पूछा।

"तो क्या मैं आपको यह समझा दूं कि मैं फ़ासिज्म का विरोध क्यों करता हूँ?"—मैं बोला।

कोलारोव ने क्रोध की मुद्रा बनाई। तोगलियाती ने किन्तु नर्मी के साथ परन्तु स्पष्ट रूप में मेरा अनुमोदन करते हुए कहा—"यह बहुमत और अल्पमत का साथ देने का सवाल नहीं है। सभी प्रश्नों का एक राजनीतिक पक्ष होता है। वही हम जानना चाहते हैं"

कोलारोव मुस्कराकर हम पर दयाभाव दिखाते हुए बोला—"आप लोग अभी कच्ची उमर के हैं। आप जानते ही नहीं कि राजनीति किस चिड़िया का नाम है"

अगले दिन फिर वही पुराना नाटक दोहराया गया। जिस कमरे में हम दस-बारह प्रतिनिधि बैठे थे, वहाँ एक उत्ताप का-सा वातावरण हो उठा था। स्टालिन ने कोलारोव से पूछा—"आपने इटालियन साथियों को बात समझा दी है न?" कोलारोव ने हामी भर दी। स्टालिन फिर कहने लगे—"यदि एक भी प्रतिनिधि प्रस्ताव का विरोध करता है, तो हम कामिन्टर्न की भरी सभा में उसे नहीं रखना चाहते। ट्राट्स्की के विरुद्ध प्रस्ताव पर एकमत होना अत्यन्त आवश्यक है। क्या हमारे इटालियन साथी प्रस्ताव का समर्थन करते हैं?"

मैंने तोगलियाती से सलाह करके कहा—"प्रस्ताव पर अपनी राय जताने से पहले हम वह पत्र देख लेना उचित समझते हैं"—फ्रैंच और स्विस प्रतिनिधियों ने भी हमारा साथ दिया। स्टालिन ने प्रस्ताव न पेश करने का

फैसला दे डाला। और हमारे सिर पर तूफान फट पड़ा। थेलमैन ने कहा कि हमारा रुख देखकर समझा जा सकता है कि किस प्रकार इटली में हमारा फासिज्म के विरुद्ध संघर्ष सर्वथा गलत है और किस प्रकार हमारी गलतियों के कारण ही फासिज्म इटली में जड़ जमाए बैठा है। उन्होंने प्रस्ताव किया कि इटली की पार्टी की नीति की पूरी जाँच होनी चाहिए। तुरन्त हमारी छीछालेदर होने लगी और यह फैसला हुआ कि हमारी पार्टी बूर्जुआ मनोवृति से ओत–प्रोत है।

तोगलियाती ने फैसला किया कि हमें अपने दृष्टिकोण का खुलासा एक पत्र द्वारा रूसी पार्टी के दफ्तर में भेज देना चाहिए। पत्र में हमने समझाया कि हम रूस की पार्टी का नेतृत्व पूर्णतया स्वीकृत करते हुए यह कहना चाहते हैं कि नेतृत्व के विशेष उत्तरदायित्व भी होते हैं और नेताओं को इस प्रकार अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। पत्र वुखारिन के पास पहुँचा। उसने हमको तुरन्त ही बुलाकर कहा कि यदि हम अपनी बिगड़ी हुई हालत को और बिगाड़ना नहीं चाहते, तो वह पत्र हमें तुरन्त लौटा लेना चाहिए।

मेरा दिल टूट गया। मेरे मन में बहुत से प्रश्न उठने लगे। क्या हम इतना नीचे गिर गये हैं? क्या इसी दिन के लिए हमारे साथी जेलों में सड़कर मरे और मर रहे हैं? क्या इसीलिए हम अपने देश में भी विदेशियों से बनकर एक गुप्त, अवारा और भय से भरा जीवन व्यतीत कर कहे हैं? हतोत्साह होकर मेरी विचार शक्ति तो क्या शारीरिक शक्ति भी जवाब देने लगी।

मास्को छोड़ने से पूर्व एक इटालियन मजदूर मेरे पास आया। फासिस्ट सरकार ने उसको लम्बे कारावास का दण्ड दिया था और इटली से भागकर उसने मास्को में शरण ली थी। उसने मुझे बताया कि जिस कारखाने में वह काम करता था, वहाँ के मजदूरों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वह कहने लगा—"सब प्रकार की वस्तुओं का अभाव तो मुझे नहीं खलता, क्योंकि आखिर वह तो उत्पादन बढ़ने पर ही दूर हो सकता है, जो किसी अकेले के बस की बात नहीं। किन्तु मैनेजर लोग मनमानी करते हैं, मजदूरों की एक

नहीं सुनी जाती और न उनकी कोई संस्था है, जो उनके अधिकरों की रक्षा कर सके। बल्कि पूंजीवादी देशों में मजदूरों की हालत कहीं अच्छी है। यहाँ मजदूर राज्य का जो शोर मचाया जाता है, वह थोथी बकंवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं"

लौटते हुए बर्लिन के एक समाचार-पत्र में मैंने पढ़ा कि कामिन्टर्न ने ट्राट्स्की के एक पत्र को लेकर उसकी खूब निन्दा की है। मैं जर्मन पार्टी के दफ्तर में थेलमैंन के पास जाकर बिगड़कर बोला कि यह सब झूठ है। उसने समझाया कि कामिन्टर्न की धाराओं के अनुगत विशेष अवसरों पर प्रेसीडेन्ट को कामिन्टर्न के नाम पर प्रस्ताव घोषित करने का हक हैं। मैं चुपचाप चला आया। बर्लिन में कागज-पत्र तैयार होने तक मैं और भी कई दिन रुका। अखबारों में मैंने पढ़ा कि अमरीकन, हंगेरियन और चेक कम्युनिस्ट पार्टियों ने ट्राट्स्की के पत्र की कड़ी निन्दा की है। मैंने फिर थेलमैंन से पूछा कि आखिरकार क्या वह पत्र सबको दिखा दिया गया। उसने कहा—"नहीं। किन्तु अमरीकन, हंगेरियन और चेक कम्युनिस्टों ने आपको दिखा दिया कि कम्युनिस्ट अनुशासन के क्या मायने होते हैं?" थेलमैंन ने व्यंग किए बिना बड़ी गम्भीरता से ये शब्द कहे थे। मुझे आभास हुआ कि हम किस बीहड़ में जा पहुँचे हैं।

मेरा स्वास्थ्य खराब था, इसलिए मुझे एक स्विस अस्पताल में जाना पड़ा और समस्त राजनीतिक कार्यवाही बन्द करनी पड़ी। एक दिन हस्पताल के पास एक गाँव में तोगलियाती से मेरी मुलाकार हुई। उसने मुझे अपने रुख की बात बहुत स्पष्ट भाषा में समझाई। कहने लगा—"मैं जानता हूँ कि कामिन्टर्न की हालत इस वक्त सन्तोषजनक नहीं है। मुझे भी अच्छा नहीं लगता। किन्तु हमारे सद्भाव से ही कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इतिहास की अपनी धारा है। मजदूर-क्रान्ति अपना रूप ले रही है। यदि जो कुछ हो रहा है, वह हमें अच्छा नहीं लगता, तो कसूर हमारा ही है। इसके सिवाय चारा भी क्या है। जो कम्युनिस्ट कामिन्टर्न से विद्रोह कर बैठे, उनका अन्त भी हमने देख लिया। समाजवादी गणतन्त्र की हालत भी हम देख ही रहे हैं, कितनी गन्दी है"

मेरा उत्तर इतना तर्कबद्ध नहीं था। तोगालियाती की दलीलें राजनीतिक थीं। लेकिन मेरे भीतर जो तूफान उठा था, वह तो राजनीति के परे जा चुका था। इतिहास के सामने सिर ही झुकाना ठहरा, तो हमने कम्युनिस्ट बनकर विद्रोह ही क्यों किया था। इतिहास के अमानुषिक सत्य को झुठलाने के लिए ही तो हम मैदान में उतरे थे। मेरी हालत उस आदमी–जैसी थी, जिसके सिरपर कोई भारी चोट पड़ी हो; किन्तु फिर भी जो यह समझे बिना कि क्या हुआ है, चलता–फिरता और बातें करता रहे। कई साल तक हृदय–मन्थन चलता रहा, तब कहीं सत्य का साक्षात्कार हुआ। अब भी मैं उस साक्षात्कार को स्पष्टतर बनाने की चेष्टा करता रहता हूं। यदि मैंने पुस्तकें लिखी हैं, तो अपने–आप अच्छी तरह सत्य का साक्षात्कार करने के लिए और औरों को कराने के लिए। अब भी मेरी खोज का अन्त नहीं आया, यह मैं भली–भाँति जानता हूँ। जिस दिन मैंने कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ी, वह दिन मेरे जीवन में अत्यन्त खेद का दिन था। मानो मैंने अपनी बीती हुई जवानी पर आँखू बहाए हों। मेरे इलाके में शोक देर तक मनाने की परम्परा है। जो कम्युनिस्ट पार्टी का गुप्त षडयन्त्र चला चुका हो, उसके लिए वह गहन अनुभूति भुलाना अतीव दुष्कर काम है। वह अनुभूति जीवन–भर पीछा नहीं छोड़ती। जो कम्युनिस्ट पार्टी छोड़े हुए लोगों को जानते हैं, वे मेरी बात समझ जाएँगे। वे एक अलग जात के लोग होते हैं, जैसे फौज से निकले हुए अफ्सर अथवा पदच्युक पादरी। ऐसे लोगों की संख्या आज बहुत बड़ी हैं। एक दिन मज़ाक में मैंने तोगलियाती से कहा भी था कि अन्तिम लड़ाई कम्युनिस्टों और विगत–कम्युनिस्टों के बीच ठनेगी।

पार्टी छोड़ने के बाद मैंने उन दलों में भरती होने से इन्कार कर दिया, जिनमें कि अधिकतर विगत–कम्युनिस्ट आज पाए जाते हैं। इस बात का मुझे अफसोस भी नहीं है। इन छोटे–छोटे दलों की कहानी मैं जानता हूँ। इनमें कम्युनिस्ट पार्टी के सारे दुर्गुण बचे रहते हैं। वही कट्टरता, वही केन्द्रीयकरण, वही थोथी बातें। पर कम्युनिस्ट पार्टी को अपनी मजदूर संस्थाओं से जो बल और प्रकाश मिलता रहता है, वह इन दलों के पास नहीं रहता। कम्युनिज्म

का पूर्ण विरोध करने के नाम पर बहुत सारे विगत–कम्युनिस्ट तो अपनी प्रथम प्रेरणा से बहुत दूर जाकर फासिस्ट तक हो गए हैं।

कम्युनिस्ट पार्टी से अलग होने का कारण एक हद तक कुछ परिस्थितियाँ थीं। किन्तु चिन्तन ने मेरी प्रेरणा को और भी गहन बना डाला है और आज मैं यह नहीं कह सकता कि कुछ परिस्थितयाँ लेकर ही मैं पार्टी से अलग हुआ। समाजवाद में मेरा विश्वास आज पहले की अपेक्षा कहीं दृढ़तर है। आज मैं लौटकर पुनः वह प्रेरणा पा गया हूं, जिसके कारण मैंने विद्रोह किया था। मैं भाग्य जैसी चीज़ नहीं मानता। मैं चाहता हूँ कि हमारी नैतिक धारणाएँ, हमारे व्यक्तिगत स्वार्थ और परिवार इत्यादि के परे, समस्त मानवता को अपना केन्द्र बनाकर चलें। सारे मानव–समाज में एक भ्रातृ–भाव के लिए मैं तड़पता हूँ। और मैं मानता हूँ कि आदमी सबके ऊपर है। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ, जो आज उसका गला दबाती हैं, उसकी दास बनेंगी, तभी मानव का कल्याण होगा। साल–पर–साल बीतते गए हैं और मुझ में मानव की श्रेष्ठता के प्रति एक श्रद्धा का भाव तीव्रतर होता रहा है। आदमी के भीतर जो उर्ध्वोन्मुख प्रवृत्ति है और जो उसे टिककर बैठने नहीं देती, उसी ओर मेरा संकेत है। लेकिन मेरा विचार है कि ऐसे समाजवाद में विश्वास रखनेवाला मैं अकेला नहीं हूँ। यह 'पागलपन' तो मार्क्सवाद से भी पुराना है। उन्नीसवीं सदी के द्वितीय पक्ष में इस 'पागलपन' ने आन्दोलन का आश्रय लिया था और आज भी वह मजदूर–आन्दोलन की रीढ़ है। समाजवादी–आन्दोलन और मजदूर–आन्दोलन के बीच आज का सम्बन्ध कोई शाश्वत सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। अधिक अध्ययन एवं अनुभूति के फलस्वरूप आज के सिद्धान्त बेकार हो सकते हैं। किन्तु समाजवादी–आन्दोलन फिर भी चलता रहेगा। समाजवाद को मैं किसी विशेष सिद्धान्त का दास नहीं मानता। वह तो एक विश्वास और अभीप्सा है। जो समाजवादी सिद्धान्त अपने आपको वैज्ञानिक कहकर जितना ज्यादा शोर मचाते हैं, वे उतने ही क्षणभंगुर है। समाजवाद के आधारभूत मूल्य ही शाश्वत हो सकते हैं। सिद्धान्त और मूल्य के भेद पर आजकल ध्यान नहीं दिया जाता, किन्तु मूलभूत तो वह भेद

ही है। किसी सिद्धान्त को लेकर एक पन्थ चलाया जा सकता है। किन्तु मूल्यों द्वारा सभ्यता एवं संस्कृतिका गठन होता है एवं एक नए जीवन की सृष्टि भी।

रिचर्ड राइट

जीवनी : अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के मिसीसिपी प्रान्त की एक जमींदारी में चार सितम्बर सन् १९०८ को इनका जन्म हुआ था। पिता जमींदारी पर मजदूरी करने वाले दरिद्र नीग्रो[१] थे। माता धोबिन का काम करती थीं। पिता के घर-त्याग करके चले जाने पर माता ने ही इनकी देख-रेख की। किन्तु उनको लकवा मार गया और दादी की छत्रछाया में ये स्कूल में भर्ती हुए। पन्द्रह साल की आयु में ये घर छोड़ कर मेम्फिस नगर में काम पर चले गए और वहीं इन्होंने एक प्रसिद्ध लेखक की एक पुस्तक पढ़कर स्वयं लेखक बनने का बीड़ा उठाया। डेढ़ सौ डालर लेकर ये शिकागो जा पहुँचे और कुछ-कुछ काम करके निर्वाह करने लगे। मन्दी ने इनको बेकार बना डाला। उन्हीं दिनों इन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी में नाम लिखाया था। इनकी लिखी कई पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं।

---

१. अमेरिका की काली जाति।

कुछ श्वेतांग लड़कों ने एक रात को मुझे शिकागो के एक साधारण होटल में जाकर संसार की परिस्थिति पर वाद-विवाद करने का निमन्त्रण दिया। शिकागो के डाकघर में काम करते समय उन लड़कों से मेरा परिचय हुआ था। हम प्रायः दस लोग इकट्ठे होकर खाते-पीते और बात करते रहे। मुझे यह जान कर आश्चर्य हुआ कि उन लड़कों में से अधिकांश कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बन चुके थे। मैंने नीग्रो कम्युनिस्टों की बेवकूफियां बता कर उन्हें हिलाना चाहा। किन्तु उन लोगों ने मुझे समझाया कि वे बेवकूफियाँ नहीं, हथकण्डे थे और मुझे उनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मैं घपले में पड़ गया।

एक और रात को एक यहूदी लड़के सोलने बताया कि उसकी एक कहानी 'एनविल' नाम की पत्रिका में स्वीकृत हो गयी है। पत्रिका के सम्पादक जैक कानराय थे। हमको ताजुब्ब हुआ। सोलने यह भी कहा कि वह एक क्रान्तिकारी कला-केन्द्र का सदस्य बन चुका है। उस केन्द्र का नाम था जान रीड क्लब, जिसमें भरती होने के लिए सोलने हम सबसे भी अनुरोध किया।

"वे लोग तुन्हें अच्छे लगेंगे"—सोल बोला।

"किन्तु मैं किसी संस्था के चक्कर में नहीं पड़ना चाहता"—मैंने कहा।

"देख लो। वे तुम्हारे लेखन कार्य में तुम्हारी सहायता कर सकते हैं"—सोल ने सुझाया।

"मुझे कोई नहीं बता सकता कि मैं क्या और कैसे लिंखू"—मैं गुर्राया

"ओहो, चल कर देख तो लो। तुम्हारा बिगड़ता क्या है ?"—उसने जोर दिया।

मुझे ऐसा लगता था कि कम्युनिस्टों को नीग्रो लोगों से सच्ची हमदर्दी नहीं है। मैं अत्यन्त संशयग्रस्त था। किसी श्वेतांग के मुँह से नीग्रो जाति की बुराई मैं सुन सकता था, किन्तु कोई श्वेतांग जब कहने लगता कि वह नीग्रो लोगों का आदर करता है, तो उस पर मुझे सन्देह होने लगता। एक रात को मैं पढ़ते-पढ़ते थक गया तो एक दर्शक के भाव से जान रीड क्लब जा पहुंचा।

जगह खोजने में कष्ट नहीं उठाना पड़ा। एक अन्धेरा, डरावना सा जीना चढ़ कर जाना पड़ता था। ऐसी गन्दी जगह में क्या काम की बात हो सकती है, मैं यही नहीं समझ पा रहा था। बोर्ड पढ़ कर मैंने दरवाजा खोला तो देखता रह गया। कागज और बुझी हुई सिगरेट चारों ओर फैले थे। दीवारों के सहारे कुछ बैञ्च पड़े थे और दीवारों पर कुछ गहरे रंगों में झण्डे लिए हुए मजदूरों के चित्र बने थे। उन के मुख हुँकार से खुले थे और उनके पाँव के नीचे बिछे थे अनेक शहर। किसी ने "हल्लो" कहा और मैंने मुँड़ कर एक श्वेतांग व्यक्ति को देखा। मैंने कहा—"मेरा एक मित्र इस क्लब का सदस्य है। उसी ने बुलाया था मुझे। उसका नाम है सोल।"

"आपका हम स्वागत करते हैं"—वह बोला—"आज वाद-विवाद नहीं हो रहा। एक सम्पादकीय सभा चल रही है। क्या आप चित्र आंकते हैं ?"—वह आदमी कुछ भूरा-सा था और उसके मुख पर मोंछे थीं।

"नहीं! मैं तो कुछ लिखने की चेष्टा करता हूँ"—मैंने उत्तर दिया।

"तब तो हमारी पत्रिका 'वाममार्गी मोरचा' की सम्पादकीय सभा में भाग लीजिए"—उसने सलाह दी।

"किन्तु सम्पादन इत्यादि मैं कुछ नहीं जानता"—मैंने कहा।

"सीख तो सकते हैं आप"—वह बोला।

मैं सन्देह के भाव से उसे घूर कर बोला—"मैं फिजूल में टांग अड़ाना नहीं चाहता"

"मेरा नाम ग्रीन है"—उसने कहा। मैंने भी उसे अपना नाम बता दिया और उससे हाथ मिलाया। वह एक आलमारी में से एक गट्ठर पत्रिकाएँ निकाल कर ले आया। बोला—"जनता नामक पत्रिका के कुछ पुराने अंक है। क्या कभी आपने यह पत्रिका पढ़ी है ?"

मैंने सिर हिलाया तो वह कहने लगा—"अमेरिका के श्रेष्ठतम लेखक इसमें अपने लेख देते हैं"—एक और पत्रिका 'अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य' की प्रतियाँ देते हुए वह बोला—"यह देखिए जीद[१] और गोर्की[२] के लेख....

१. नोबल पुरस्कृ फ्रैंच लेखक।

२. रूस के प्रसिद्ध लेखक।

मैंने पढ़ने का वायदा किया। तब एक दफ्तर में ले जाकर उसने कुछ लोगों से मेरा परिचय कराया। उन नव परिचितों में एक यहूदी लड़का था जो आगे चल कर राष्ट्र का एक विख्यात चित्रकार बना। एक और लड़का बड़ा होकर प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुआ। तीसरा लड़का अपनी पार्टी का बहुत सफल उपन्यासकार बना। और चौथा लड़का वह यहूदी था, जिसने नाजी जर्मनी द्वारा चेकोस्लोवाकिया की हत्या के सम्बन्ध में एक प्रख्यात छायाचित्र बनाया। उस दिन उन लोगों से मिला, जिनके साथ कि बहुत वर्षों तक मेरा सम्पर्क रहा है और जो मेरे जीवन में निकटम सहचर रहे हैं। मैं एक कोने में बैठ कर उनकी सम्पादकीय मन्त्रणा सुनता रहा। मन में सन्देह था कि नीग्रो होने के कारण ही तो कहीं वे लोग मेरा सम्मान नहीं कर रहे हैं। मैंने इरादा किया कि मुझे सतर्क रह कर ही उनके साथ बर्तना होगा। उन्होंने मुझे अपनी पत्रिका में कुछ लिखने के लिए कहा। मैंने चेष्टा करने का वायदा किया। मीटिंग समाप्त होने पर कई लड़कियों से भी मैं मिला। एक तो किसी विज्ञापन संस्था में काम करनेवाली आयरिश लड़की थी। दूसरी समाज–सेवा करती थी। तीसरी स्कूल की अध्यापिका और चौथी एक प्रमुख प्रोफेसर की पत्नी थी। इस स्तर के लोगों के घरों में मैं चाकर का काम कर चुका था, इसलिए मुझे उनसे दुराव अनुभव हुआ। मैं उनके दिल की बात जानना चाहता था, किन्तु उनके व्यवहार में मुझे अनुकम्पा इत्यादि का कोई लेश नहीं मिला।

घर लौटा तो इन अजीब श्वेतांग लोगों पर विचार करता रहा। ये नीग्रो लोगों को क्या समझते हैं ? मैंने बिस्तर में पड़ कर वे पत्रिकाएं पढ़ी और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि दलित वंचित लोगों के जीवन की सच्ची कहानी कहने वाले लोग भी आखिर दुनियाँ में हैं। जब मैं रोटी को तरसता था, तो मेरे मन में प्रश्न उठा करता कि क्या संसार के दलित वंचित भी कभी विचार, भावना और कर्म की एकता प्राप्त करेंगे। अब मुझे पता लगा कि संसार के षष्टांश भाग में तो वह एकता विजय पा चुकी है। वह क्रान्ति की वाणी पत्रिकाओं के पन्नो पर से उछल–उछल कर मेरे ऊपर भरपूर चोट मारने लगी।

कम्युनिज्म के अर्थशास्त्र, ट्रेडयूनियन संगठन अथवा गुप्त कार्यवाही की रोमान्स इत्यादि ने मुझे आकृष्ट नहीं किया। जिस बात का मुझ पर असर हुआ वह थी यह देखना कि संसार के अन्य देशों के मजदूरों की अनुभूतियाँ भी हमारे जैसी हैं, और इन बिखरे लोगों को एक सूत्र में बाँधना सम्भव है। मुझे ऐसा लगा कि क्रान्ति की इस धारा में बह कर ही नीग्रो जाति किसी किनारे पर पहुँच सकती है, नीग्रो जाति की अनुभूति का कोई महत्व हो सकता है। उन पत्रिकाओं में दलित वंचितों के लिए अपनी अनुभूतियों के आदान-प्रदान का सन्देश था। सुधारवादी तोतारटन्त मैंने उनमें नहीं देखी। वहाँ यह नहीं कहा गया था—"हमारे जैसे बन जाओ तो शायद हम तुमको पसन्द कर सकें"—वहाँ लिखा था—"तुम जो कुछ हो वही परिचय देने का साहस यदि तुम जुटा पाए तो तुम देखोगे कि तुम अकेले नहीं हो"—यह तो जीवन का सन्देश था, जीवन में विश्वास रखने की प्रेरणा थी।

देर रात तक मैं पढ़ता रहा। भोर में मैंने उठ कर टाइपराइटर पर कागज चढ़ाया। जीवन में सर्वप्रथम मुझे विश्वास हुआ कि मेरी बात सुनने वाले लोग भी हैं। मैंने एक तड़फड़ाती हुई, ग्राम्य और अतुकान्त कविता लिख डाली। खेलते, काम करते, लड़ते और मरते नीग्रो लोगों की कल्पना को मैंने भाषावद्ध कर डाला। इसी समय किसी ने द्वार खटखटाया। माँ पुकार रही थी—"रिचर्ड, तुम बीमार हो क्या?"

"नहीं माँ, पढ़ रहा हूँ"

माँ ने द्वार खोला और मेरे तकिए पर पत्रिकाओं का ढेर देख कर ठिठक गई। पूछने लगी—"इन तमाम कागज पत्रों पर तुम रुपया तो नहीं बरबाद कर रहे हो?"

"नहीं। किसी ने मुझे दिए हैं"

वह लंगडाती हुई मेरे बिस्तर तक आई और एक प्रति उठाकर उसमें मई दिवस के एक कार्टून को देखने लगी। चश्मा ठीक करके बहुत देर तक वह देखती रही। फिर घबराकर बोली—"हे भगवान, यह सब क्या है?"

"क्या बात है, माँ?"

"यह सब क्या है? इस आदमी को क्या हुआ है?"—पत्रिका पर छपे चित्र को मुझे दिखाती हुई वह पूछने लगी।

मैंने कम्युनिस्ट कलाकार द्वारा आँका हुआ वह कार्टून ध्यान से देखा। चीथड़े पहने हुए एक मजदूर लाल झण्डा लिए खड़ा था। उसकी आँखें निकली हुई थीं। मुँह खुलकर समस्त चेहरे पर छा गया था। दाँत दीख पड़ते थे और गर्दन के स्नायु फूलकर रस्सी के समान लगते थे। उसके पीछे-पीछे आदमियों, औरतों, और बच्चों की एक भीड़ चल रही थी, जिनके हाथों में डंडे, पत्थर और चिमटे इत्यादि थे।

"ये लोग क्या चाहते हैं।"—माँ ने पूछा।

"मुझे नहीं मालूम"— मैंने बचना चाहा।

"क्या ये कम्युनिस्ट पत्र हैं।"

"हाँ"

"तो क्या वे लोगों से ऐसे काम कराना चाहते हैं?"

मुझसे उत्तर नहीं बन पड़ा। माँ के मुख पर ग्लानि उमड़ रही थी। वह नेक औरत थी। सूली पर चढ़ा प्रभु ईसा उसका इष्टदेव था। मैं उसे क्योंकर कह देता कि कम्युनिस्ट पार्टी चाहती है कि वह गलियों में जाकर गाए और नारे लगाए।

"कम्युनिस्ट लोगों को क्या समझते हैं?"—माँ ने पूछा।

"नहीं माँ, ऐसी भयानक बात कम्युनिस्ट नहीं सोचते। यह तो कार्टून है"—मैं हकलाया।

"तो फिर क्या चाहते हैं वे?"

"यह कार्टून न तो केवल कल्पना है"

"तो वे कहते क्यों नहीं कि उन्हें क्या चाहिये।"

"शायद वे खुद नहीं जानते"

"तो यह सब खुराफात क्यों छापते हैं?"

"शायद उनको अभी लोगों से अपील करने का ठीक तरीका नहीं मालूम"—मैंने कहा। मुझे ताज्जुब हो रहा था कि जब माँ ही वह सब नहीं समझ पाई तो और कौन समझ सकेगा।

"यह कार्टून देखकर कोई भी पागल हो सकता है"—पत्रिका को फैंकती हुई वह बोली। लौटते-लौटते मुड़कर पूछने लगी—"तुम तो इन लोगों के फेर में नहीं पड़े हो, बेटा?"

"मैं तो सिर्फ पढ़ रहा हूँ, माँ"—मैंने झूठ बोल दिया।

माँ तो चली गई, किन्तु मुझे खेद होने लगा कि माँ के सवालों का मैं ठीक उत्तर नहीं दे सका। मैंने फिर उस कार्टून को देखा और अब की बार ऐसा लगा कि वह जनता की उत्तेजना प्रतिबिम्बित नहीं करता। मैंने फिर पत्रिका को पढ़ा। लिखनेवालों ने यही सोचकर लिखा था कि पढ़ने वालों को उनकी बातें जीत लेंगी, पढ़नेवाले पार्टी में भर्ती हो जाएँगे। लिखनेवालों के पास एक आदर्श था, एक प्रोग्रान भी। किन्तु उनको जनता तक पहुँचाने की भाषा अभी उनके पास नहीं थी। उनके लिये यह भाषा मैं गढ़ सकता था। मुझे ऐसा लगा कि कम्युनिस्टों ने लोगों के जीवन से समस्त गहराई और जटिलता निकालकर उसे नीरस बना डाला है। केवल अमूर्त मानव की कल्पना ही वे कर पाए हैं। मैंने हाड़मांस के मानव की बात कहने का इरादा किया। मैं जीवन में सार्थकता और इसे लौटाना चाहता था। मैं कम्युनिस्टों को समझाना चाहता था कि जनता क्या सोचती है, और जनता को बताना चाहता था कि कम्युनिस्ट जनता की एकता के लिये क्या-क्या बलिदान कर सकते हैं?

"वामपन्थी मोरचा" के सम्पादक ने मेरी दो कविताएँ खुद ले लीं, दो जैक कानराय के पास और एक "नई जनता" के सम्पादक के पास भेज दी। मेरे मन में अभी भी संशय था कि छपेंगी या नहीं।

"आप इन्हें अच्छी नहीं समझते तो छोड़ दीजिए"—मैंने कहा।

"बहुत अच्छी हैं"—वह बोला।

"पार्टी में आकृष्ट करने के लिये तो मेरी कविताएँ नहीं छप रही हैं?"—मैंने पूछा।

"नहीं। तुम्हारी कविताएँ ग्राम्य हैं, किन्तु अच्छी हैं। हम सभी तो तुम्हारी तरह नए हैं। हम नीग्रो जाति की बातें कहते रहते हैं, लेकिन नीग्रो लोगों से

हमारा कोई सम्पर्क ही नहीं है। हमें आपके लेख जरूर चाहियें"—सम्पादक ने उत्तर दिया।

मैं क्लब की कई सभाओं में शामिल हुआ और उनकी बातचीच का गाम्भीर्य मैंने देखा। क्लब ने एक माँग उठाई कि बेकार कलाकारों के लिये सरकार काम का प्रबन्ध करे। कला-कृतियों की प्रदर्शनियाँ भी क्लब ने आयोजित कीं। "वामपन्थी मोरचा" के लिये चन्दा इकट्ठा किया और बीसियों वक्ताओं को मजदूरों की सभाओं में भेजा। क्लब के सब सदस्य उत्साही, मिलनसार, व्यग्र एवं आत्मोत्सर्ग की भावना से भरे थे। मुझे उन पर विश्वास हो गया और मैंने नीग्रो जाति में कम्युनिस्टों का असली परिचय देने का काम सिर पर उठा लिया। नीग्रो कम्युनिस्टों की जीवनियाँ लिखना प्रथम काम था। किन्तु अपनी महत्वाकांक्षा का भेद मैंने किसी को दिया नहीं। मैं खुद नहीं जानता था कि कहाँ तक मैं सफल हूँगा।

कुछ दिन बाद मुझे पता लगा कि क्लब के दो गुटों में खूब संघर्ष चल रहा है। खूब गरमा-गरम बहस होने लगी। मैंने देखा कि चित्रकारों का एक छोटा-सा गुट क्लब पर प्रभुत्व जमाए हुए है। "वामपन्थी मोरचा" के लेखकों का गुट उनके नेतृत्व के विरुद्ध था। मैंने भी इन्हीं का साथ दिया। फिर एक अजीब घटना हुई। लेखकों ने क्लब के नेतृत्व में अविश्वास प्रस्ताव रक्खा। एक विशेष सभा बुलाई गई और एक नया मन्त्री चुनने की बात उठी। उम्मीदवारों में मेरा नाम भी दिया गया। मैंने इन्कार किया और कहा कि मुझे तो क्लब के ध्येय और आदर्शों का ही ठीक ज्ञान नहीं है। रात भर विवाद होता रहा। सुबह निर्वाचन हुआ और मैं चुना गया। बाद में मुझे पता चला कि क्लब के चित्रकार नेताओं को हटाने के लिये ही लेखक गुटने यह चाल चली थी। मुझे पूछे बिना ही उन्होंने पार्टी के सन्मुख एक नीग्रो का सवाल पेश कर दिया। पार्टी के लिये एक नीग्रो को अस्वीकार करना कठिन था, क्योंकि नीग्रो जाति अल्पमत जातियों में सबसे बड़ी थी और नीग्रो लोगों के लिए समानाधिकार प्राप्त करना पार्टी के मुख्य उद्देश्यों में से एक था।

क्लब का प्रधान बनते ही सब कुछ मेरी समझ में आने लगा। कम्युनिस्टों ने क्लब में एक अलग गुट बना रक्खा था। वे क्लब के बाहर मन्त्रणा करके क्लब की नीति के विषय में पहले फैसला कर लेते थे और क्लब में उनकी दलीलों का उत्तर देना गैर-कम्युनिस्टों के लिए कठिन था, इसलिये सब वोट उन्हीं को मिलते थे। झगड़े का कारण यह था कि पार्टी के अधिकारी क्लब से बहुत से ऐसे काम कराना चाहते थे, जो क्लब के गैर-कम्युनिस्ट सदस्यों को पसन्द नहीं थे। रुपया, वक्ताओं और पोस्टर बनाने वालों की जो मांगें पार्टी क्लब के पास भेजती थी, उनके बोझ से क्लब दिवालिया होता जाता था। "वामपन्थी मोरचा" का प्रकाशन कठिन होने लगा। पैसा नहीं रहा। बहुत से नए लेखक तो उस पत्रिका में लिखने के लोभ से ही क्लब के सदस्य बने थे। इसलिये जब कम्युनिस्ट सदस्यों ने पत्रिका को बन्द करने का प्रस्ताव पेश किया, तो लेखकों ने नामंजूर कर दिया। पार्टी बहुत नाराज हुई। मैंने पार्टी को समझाना चाहा कि उनकी नीति क्लब के प्रति उदार होनी चाहिये। बड़ी चिल्ल-पों मची और कड़वाहट बढ़ गई। फिर फैसला हो गया। मुझसे कहा गया कि यदि मैं क्लब का मन्त्री रहना चाहता हूँ, तो मुझे पार्टी का मेम्बर बनना होगा। मैंने कहा कि पार्टी को ऐसी नीति अपनानी चाहिये, जिससे लेखकों और कलाकारों को प्रोत्साहन मिले। मेरी नीति पार्टी ने स्वीकार कर ली और मैंने पार्टी में नाम लिखवा लिया।

एक रात को हमारी सभा में एक यहूदी नवयुवक आया और कामरेड यंग के नाम से अपना परिचय दिया। कहने लगा कि वह डेट्रायट प्रान्त की कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य है, वहां की जान रीड क्लब का मेम्बर भी और अब शिंकागो में रहना चाहता है। वह नाटा-सा, मिलनसार, काले बालों वाला पढ़ा-लिखा नौजवान था। मैंने उसका स्वागत किया। किन्तु उसका व्यक्तित्व मेरे लिये कुछ जटिल था। जब भी मैं उससे कोई प्रश्न पूछता, तो वह बहका-बहका-सा उत्तर देता। मैंने पार्टी के दफ्तर में उसके बारे में जाँच के लिये लिख दिया और उसको क्लब का मेम्बर बना लिया। मुझे आदमी ठीक

लगा। लेखक लोग कुछ तो सनकी हुआ ही करते हैं, मैंने सोचा। सभा के बाद यंग ने कहा कि उसके पास रुपया–पैसा नहीं है, इसलिये वह क्लब के कमरे में ही रातें बितायेगा। मैंने इजाजत दे दी। वह हमारी क्लब का एक उत्साही सदस्य निकला। सब उसकी तारीफ करने लगे। उसके चित्र मेरी समझ में कम आए। किन्तु हमारे चित्रकारों ने खूब पसन्द किए। पार्टी से उसके बारे में कोई रिपोर्ट नहीं मिली, तो भी उसका उत्साह और काम देखकर मैंने उस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

एक रात को यंग ने सभा में बोलने की इजाजत मांगी। हमारा सबसे होनहार नौजवान चित्रकार स्वान था। यंग ने शुरू से ही उसके ऊपर एक अत्यन्त उग्र राजनीतिक आक्षेप किया। हम अवाक् रह गए। यंग ने कहा कि स्वान गद्दार है; अवसरवादी हैं, पुलिस का दलाल और ट्राट्स्की का अनुयायी है। क्लब के लोग समझे कि पार्टी का मेम्बर होने की हैसियत से यंग पार्टी का ही मत प्रगट कर रहा है। मैं चकरा गया। मैंने प्रस्ताव किया कि यंग के लगाए तमाम इलजाम क्लब की केन्द्रीय समिति के पास पुष्टि के लिये भेजे जाएँ। स्वान ने भी आक्रोश दिखाया। बोला कि सब लोगों के सामने उस पर आरोप लगाए गए हैं और सब लोगो के सामने ही वह उत्तर देगा। हम मान गए कि स्वान को बोलने का अवसर दिया जाए। उसने यंग के आरोपों का खण्डन किया। लेकिन अधिकतर सदस्य घपले में पड़ गए कि किसका विश्वास किया जाए। हम सब स्वान पर विश्वास करते थे और उसके विरुद्ध वे सब बातें सुनना नहीं चाहते थे। किन्तु पार्टी को नाराज करने की भी हिम्मत हममें नहीं थी। खूब ठनकर चोंच बाजी हुई। कुछ लोग जो चुपचाप सब सुनते रहे थे, खड़े होकर बोले कि स्वान के विरुद्ध मूर्खतापूर्ण आरोप वापिस ले लिये जाने चाहियें। मैंने फिर जोर दिया कि मामला क्लब की केन्द्रीय कमिटि के पास जाना उचित है। किन्तु मेरा प्रस्ताव पास नहीं हो सका। सब को भय लग रहा था कि केन्द्रीय समिति में अधिक सदस्य कम्युनिस्ट होने के कारण यंग के लगाए हुए आरोपों की पुष्टि हो जाएगी।

बाद में कुछ लोगों ने मुझ से पूछा कि क्या यंग के आरोपों में मेरा कुछ हाथ है। मुझे बहुत दुःख हुआ और लाज के मारे मैंने यंग से सम्पूर्ण सम्बन्ध

विच्छेद कर लिए। उस नाटक को समाप्त करने के लिए मैंने यंग से पूछा कि स्वान के विरुद्ध वे आक्षेप लगाने का उत्तरदायित्व उसे किसने दिया।

"मुझे क्लब के गद्दारों को निकालने का काम दिया गया है"—यंग ने कहा।

"किन्तु स्वान तो गद्दार नहीं है?" मैंने कहा।

"एक शोधन की सख्त जरूरत है"—कहते हुए उसकी आँखें लाल हो गई और मुख पर शिराएं फूल उठीं।

मुझे उसका विप्लवी उत्साह स्वीकार करना पड़ा, किन्तु उसकी उत्तेजना में कुछ अति दीख पड़ी। मामला और भी बिगड़ने लगा। कुछ सदस्यों ने कहा कि यदि स्वान पर लगाए हुए आरोप वापिस नहीं लिए गए, तो वे सब क्लब से त्याग पत्र दे देंगे। मैं पागल हो उठा। मैंने पार्टी को लिखा कि स्वान को दण्ड देने का भार यंग को क्यों सौंपा गया? पार्टी ने उत्तर दिया कि उनको कुछ मालूम नहीं। तो फिर किस्सा क्या है, मैंने सोचा। यंग चाहता क्या है? मैंने क्लब की सभा में प्रार्थना की कि एक बार मुझे सारी बात पार्टी के पास रखने की इजाजत दी जाए। बहुत नोंक-झोंक के बाद मेरी प्रार्थना मान ली गई।

एक रात को हम दस जने पार्टी के एक लीडर के आफिस में यंग के आरोप दोबारा सुनने के लिए एकत्र हुए। पार्टी लीडर कुछ तटस्थ सा रहा। उसे मज़ाक-सा लग रहा था। यंग ने एक कागजों का पुलिन्दा खोलकर खोलकर जो आरोप लगाए वे पिछले आरोपों से भी गुरुतर थे। मैं यंग की ओर एकटक देखता रह गया। मुझे लगा कि वह भयानक भूल कर रहा है। किन्तु वह तो पार्टी का प्रतिनिधि बना बैठा था, इसलिए मैं क्या कहूं यह मेरी समझ में नहीं आया।

यंग ने पढ़ना समाप्त किया तो लीडर बोले—"क्या ये आरोप मैं भी पढ़ सकता हूँ?"

"जरूर"—यंग ने एक कापी उन्हें देते हुए कहा—"यह कापी आप रख सकते हैं। मेरे पास दस हैं"

"इतनी कापियाँ क्यों बनाईं?"—लीडर ने पूछा।

"कोई चोरी कर ले तो मैं क्या करूँ?"—यंग ने उत्तर दिया।

"यदि इस आदमी के आरोप माने गए"—स्वान बोला—"तो मैं खुलेआम क्लब से त्यागपत्र दे दूंगा और क्लब की भद्द उड़ाऊंगा"

"देखा आपने"—यंग चिल्लाया—"यह आदमी पुलिस से मिला हुआ है"

मेरी कमर टूट चुकी थी। सभा समाप्त हुई। लीडर ने आश्वासन दिया कि पार्टी विचार करके फैसला देगी। मुझे विश्वास था कि कुछ घुटाला हो रहा है, लेकिन बात मेरी पकड़ में नहीं आई। एक दिन मैं यंग से लम्बी बात करने के लिए दोपहर में क्लब में पहुंचा। किन्तु वह वहाँ नहीं था। अगले दिन भी वह दिखाई नहीं दिया। एक सप्ताह तक मैं यंग की तलाश करता रहा। क्लब के लोग पूछताछ करने लगे और जब मैंने बताया कि मुझे खुद नहीं मालूम तो उनको विश्वास नहीं हुआ। मैं सोच रहा था कि या तो वह बीमार पड़ गया या पुलिस ने उसे पकड़ लिया। एक दिन मैं और ग्रिम क्लब में जाकर उसका बिस्तर खोल बैठे। जो कुछ देखा उससे मेरी उलझन और बढ़ गई। जन्मपत्री की तरह एक लम्बी कागज के पिण्डे पर मार्क्सवादी दृष्टि से मानव जाति का इतिहास चित्रित किया गया था। प्रथम पृष्ठ पर लिखा था—"मानव की आर्थिक उन्नति की चित्रगाथा"

"यह तो बड़ी दूर की सोची यार ने"—मैंने कहा।

"बहुत मेहनती जान पड़ता है"—ग्रिम बोला।

हाथ से लिखे हुए कई लम्बे-चौड़े लेख भी मिले। कुछ राजनीतिक थे, कुछ कला सम्बन्धी। आखिर एक चिट्ठी मिली जिस पर डेट्रायट का एक पता लिखा था। मैंने पत्र लिखकर पूछताछ की। कई दिन पीछे एक उत्तर मिला। लिखा था—

"महाशय,

आपके पत्र के उत्तर में हम आपको बतलाना चाहते हैं कि मिस्टर यंग हमारे अस्पताल के एक रोगी हैं जो कुछ दिन के लिए भाग निकले थे।

वे फिर पकड़े गए और आजकल हमारे यहाँ उनके मानस की चिकित्सा चल रही है"

मुझ पर मानो बिजली गिरी हो। इतना भयानक सत्य ! फिर भला हमारी क्लब क्या हुई, जिसमें एक पागल आकर इतने दिन काम करता रहे और कोई उसे पहिचान भी न पाए। क्या हम सभी लोग तो पागल नहीं थे ? मैंने प्रस्ताव पेश किया कि स्वान के विरुद्ध समस्त आरोप वापिस ले लिए जाएं। वैसा ही हुआ। मैंने स्वयं स्वान से माफी माँगी। मेरी आँखें खुल चुकी थीं।

हमारी क्लब के कम्युनिस्ट गुट ने मुझ से अनुरोध किया कि अपने पार्टी-सैल से अपना सारा समय क्लब में लगाने की इजाजत माँग लूँ। बस, मैं अपने सैल को अपनी लेखन, संगठन तथा वक्तृता सम्बन्धी कार्यवाही से सूचित करता रहूँ। मैंने अनुरोध मान लिया। सैल पार्टी की निम्नतम शाखा का नाम है और प्रत्येक कम्युनिस्ट को एक-न-एक सैल का सदस्य बनना पड़ता है। सैल की सभाएं रात में होती हैं और पुलिस के भय से गुप्त रक्खी जाती हैं। मैं जब पहली बार सैल की मीटिंग में पहुंचा तो उसके नीग्रो कार्यकर्त्ता ने मेरा परिचय देकर मुस्कराते हुए कहा—"आइए, साथी। हमें खुशी है कि एक लेखक हमारा सदस्य बन गया।"

"मैं ऐसा कुछ लेखक तो हूं नहीं"—मैंने कह दिया।

मीटिंग शुरू हुई। प्रायः बीस नीग्रो बैठे थे। बोलने की मेरी बारी आई तो मैंने ब्यौरेवार अपनी सारी बातें कह सुनाईं। सुन कर सब चुप रहे। मैंने इधर-उधर देखा। सब सिर झुकाए बैठे थे। केवल एक स्त्री के होठों पर मैंने मुस्कराहट की एक रेखा देखी। वह सिर उठा कर कार्यकर्त्ता को ताकने लगी। कार्यकर्त्ता ने भी हँसी दबा ली। किन्तु स्त्री ने समय खो दिया और खिलखिला कर हँसने लगी। मैं सन्नाटे में आ गया। समझ में नहीं आया कि मैंने क्या बेवकूफी की है। मैंने पूछा—"क्या बात है"—सब हँसने लगे और कार्यकर्त्ता जो एक पेंसिल से खेल रहे थे, सिर उठा कर बोले—"कुछ नहीं, साथी। हमें खुशी है कि आज एक लेखक हमारे बीच आया"

लोगों का हँसना जारी रहा। समझ में नहीं आया कैसे लोग थे। मैंने तो एक गम्भीर रिपोर्ट सुनाई थी और ये हंस रहे थे। मैं कुछ खिसिया कर बोला—"मुझसे जैसा बना, किया है। लेखक का काम, मैं मानता हूं, कोई विशेष महत्व नहीं रखता। किन्तु धीरे-धीरे मैं कुछ अच्छा काम कर सकूंगा।"

"हमें विश्वास है, साथी"—कार्यकर्त्ता ने उत्तर दिया। उसकी आवाज में बड़प्पन की गन्ध थी। श्वेतांग लोग भी इतना बड़प्पन नीग्रो के प्रति नहीं दिखाया करते। मुझे क्रोध आ गया। मेरा ख्याल था कि मैं इन लोगों को जानता हूँ। किन्तु शायद मेरा भ्रम था। मैं इनसे विवाद करना चाहता था, किन्तु मन ने सलाह दी कि पहले कुछ और लोगों से पूछ-ताछ करना ठीक होगा। पूछताछ करने पर मुझे पता चला कि ये काले कम्युनिस्ट मुझे अजीब जानवर समझते थे। इनके निकट मैं एक बुद्धिवादी था। मुझे ताज्जुब हुआ। मैं तो स्कूल में भी ठीक से नहीं पढ़ा था। मैं तो स्वयं नहीं जानता था कि बुद्धिवादी किसे कहते हैं। सैल में जाने से पहले सोचा था कि शायद लोग मेरी राजनीतिक सूझबूझ को कच्चा मानकर मुझे लेने से इन्कार कर दें। शायद ये लोग मेरे बारे में कुछ खोज-खबर लेकर ही फैसला करें। किन्तु ये तो खाली खीसें निकाल रहे थे और मुझे बताया गया कि मेरे पालिश किये बूटों, साफ कमीज तथा टाई को लेकर काले कम्युनिस्टों में काफी टीका-टिप्पणी हुई थी। किन्तु सबसे ज्यादा बुरा लगा उनको मेरे बोलने का परिष्कृत ढंग। कहने लगे—"किताब की तरह बोलता है"—और सबने मुझे बुर्जुआ कहकर हाथ झाड़ दिए।

पार्टी का काम करते हुए एक नीग्रो कम्युनिस्ट रौस से मेरा परिचय हुआ। उसके ऊपर दङ्गा करवाने का मुकदमा चल रहा था। दक्षिण के कृषि-प्रधान प्रान्त में जन्म लेकर वह बड़ा होने पर उत्तर की ओर चला आया था। शहर में आते समय ग्रामीण के मन में अनेक आशाएँ होती हैं, किन्तु शहर की अनवरत अवहेलना सहते-सहते वह उखड़ा-उखड़ा-सा हो जाता है। रौस भी ऐसा ही था। दो समाज-व्यवस्थाओं और दो संस्कृतियों के सन्धिस्थल में

रहने वाले व्यक्ति के गुण और दुर्गुण दोनों ही उसमें विद्यमान थे। मैंने सोचा कि यदि उसकी कहानी सुन पाऊँ, तो कुछ जान पड़े कि देहात से आनेवालों को शहर में क्या-क्या कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं और मन में कैसा-कैसा लगता है। शायद इस प्रकार उसकी कहानी दूसरों के लिए कुछ अधिक उपादेय हो जाए। रौस से मैंने बात चलाई। वह बात मान गया। उसने मुझे घर पर निमन्त्रित किया और अपनी यहूदी पत्नी, किशोर लड़के और मित्रों से मेरा परिचय कराया। मैं घण्टों तक उसे अपनी बात समझाता रहा और कहता रहा कि वह जो कुछ मुझे बताना न चाहे सो बताने की जरूरत नहीं है। मैंने कहा—"मैं तो सिर्फ तुम्हारी वे बातें जानना चाहता हूं, जिनके कारण तुम कम्युनिस्ट बने"

पार्टी में खबर फैल गई कि मैं रौस की जीवनी लिख रहा हूं और अजीब घटनाएं घटने लगीं। एक रात को एक नीग्रो कम्युनिस्ट मुझे घर से गली में बुला ले गए। कुछ खास बात करनी थी। उसने मेरे विषय में जो भविष्यवाणी की, वह सुनकर मैं डर गया। गम्भीर होकर वह बोला—"बुद्धिवादी लोग बहुत दिन तक पार्टी में टिकते नहीं, राइट"

"किन्तु मैं तो बुद्धिवादी नहीं हूं"—मैंने विरोध किया—"मैं तो गली में झाड़ू लगाकर अपनो पेट पालता हूँ"—उन दिनों तेरह डालर प्रति सप्ताह पर मैं सड़क साफ करने का काम किया करता था।

"उससे क्या आता जाता है"—वह बोला—"हमारे पास तो कितने ही बुद्धिवादियों का कच्चा चिट्ठा रक्खा है। हिसाब लगाकर देखा गया है कि उनमें तेरह प्रतिशत से अधिक पार्टी में नहीं ठहर पाए"

"अच्छा मुझे जो चाहो कह लो। किन्तु बुद्धिवादी लोग पार्टी छोड़कर क्यों चले जाते हैं भला?"—मैंने पूछा।

"अधिकतर तो बस पार्टी छोड़ देते हैं"

"तो चिन्ता मत करो। मैं पार्टी छोड़कर जानेवाला नहीं"

"कुछ को पार्टी से निकालना भी पड़ा है"—उसने मुझे चेताया।

"क्यों।"

"साधारणतया वे पार्टी की नीति का विरोध करते रहते हैं"

"किन्तु मैं तो पार्टी की किसी बात का विरोध नहीं करता"

"फिर भी आपको क्रान्ति के प्रति अपने विश्वास का प्रमाण देना होगा"

"सो कैसे?"

"पार्टी लोगों की परीक्षा लेना जानती है"

"कैसी परीक्षा है वह? कहिए ना"

"पुलिस को देखकर आपको कैसा लगता है?"

"कुछ भी नहीं। कभी उस ओर ध्यान ही नहीं दिया"

"आप इवान्ज को जानते हैं"—एक कट्टर नीग्रो कम्युनिस्ट का नाम लेते हुए उसने पूछा।

"हाँ देखा है। मिला भी हूँ।"

"आपने यह भी देखा कि उसे चोट लगी है?"

"हाँ उसके सिर पर पट्टी बंधी थी"

"वह चोट एक जलूस निकालते समय पुलिस ने उसे मारी थी। क्रान्ति के प्रति विश्वास का यह पक्का सबूत है"

"तो क्या आप कहना चाहते हैं कि अपने को क्रान्तिकारी साबित करने के लिए मैं पुलिस से अपनी हड्डी पसली तुड़वा लूँ?"

"मैं कहता कुछ नहीं। मैं तो बात समझा रहा हूँ"

"अच्छा, मान लो कि पुलिस का डण्डा मेरे सिर पर पड़ कर मेरे दिमाग को चोट पहुंचा देता है और मैं बेकार हो जाता हूं। क्या फिर मैं कुछ लिख पाऊंगा? उससे भला क्या साबित हुआ?"

वह सिर हिलाने लगा—"सोवियत् यूनियन को इसीलिए बहुत सारे बुद्धिवादियों को गोली से उड़ाना पड़ता है"

"हे भगवान! आप जानते हैं आप क्या कह रहे हैं? आप रूस में नहीं हैं, बल्कि शिकागो के एक फुटपाथ पर खड़े हैं। आप तो पागलों जैसी बात करते हैं"

"आपने ट्राटस्की का नाम तो सुना है?"—उसने पूछा

"हां"

"उसका क्या हशर हुआ, यह भी आप जानते हैं?"

"सोवियत् भूमि से उसे निकाल दिया गया"

"भला क्यों?"

मुझे ट्राटस्की वाले झगड़े का कोई ठीक ज्ञान नहीं था, इसलिए कुछ हकलाकर मैंने कहा—"मेरा ख्याल है कि उसने पार्टी के फैसले के खिलाफ पार्टी के भीतर गुटबन्दी करने की कोशिश की थी"

"नहीं, उसे क्रान्ति-विरोधी कामों के लिए निकाला गया था"—उसने कुछ बिगड़कर कहा। मुझे पीछे पता चला कि ट्राट्स्की के गुनाह को मैंने पार्टी की भाषा में, पार्टी द्वारा प्रत्याशित क्रोध के साथ नहीं बखाना था, इसीलिए मित्र चिढ़ गया था।

"ठीक है। मैंने ट्राट्स्की को कभी पढ़ा नहीं। अल्पमतों को विषय में उसकी क्या राय है?"—मैंने पूछा

"मुझे क्या मालूम। मैं ट्राट्स्की थोड़े ही पढ़ता हूं।"

"अच्छा, यदि आप मुझे ट्राट्स्की पढ़ते देखें तो क्या कहेंगे?"

"साथी, आप बौखला गए हैं"—वह घबराकर बोला। बात खत्म हो गई। किन्तु उस दिन अन्तिम बार मैंने यह वाक्य—"आप बौखला गए हैं"—सुना हो, ऐसी बात नहीं थी। बहुत बार मुझसे यही कहा गया। मुझे कभी ऐसा नहीं लगता था कि मेरे विचार गलत हैं। मैंने कभी ट्राट्स्की की कोई पुस्तक नहीं पढ़ी थी। बल्कि मैं तो स्टालिन की पुस्तकों से ही प्रभावित हुआ था। सोवियत् भूमि में पिछड़ी जातियों को किस प्रकार उन्नति की ओर ले जाया गया था, यह मेरे लिए सबसे महत्व की बात थी। किस प्रकार रूसी भाषाविद् सोवियत् देश के कोने-कोने में जाकर ग्राम्य भषाओं का अध्ययन करते थे और लोगों को अपनी भाषाओं में ही समाचारपत्र, सामाजिक प्रतिष्ठान और सरकार चलाने की प्रेरणा देते थे, यह सब पढ़ सुनकर मैं तो मुग्ध हो चुका था। मैंने यह भी पढ़ा था कि रूस में किस प्रकार पिछड़ी जातियों को अपनी संस्कृति से प्रेम करना और अपनी परम्परा पर अभिमान करना सिखाया

जाता है। और मैंने देखा था कि अमेरिका में किस प्रकार नीग्रो जाति का दमन होता है। तो फिर मुझे वह चेतावनी देने की क्या जरूरत थी? मुझ पर यह सन्देह क्यों किया जा रहा था? मैं तो केवल नीग्रो जाति के पार्थिव और आध्यात्मिक विध्वंस की कहानी कहना चाहता था। मेरी जाति इतनी पुरातन है जितने कि ये पहाड़ और समुद्र। उनके दर्द की कहानी को, और दलित वंचितों की कहानी से जोड़ देने में क्या बुराई हो सकती है, यह मेरी समझ में नहीं आया।

पार्टी के काम ने मेरे लेखन-कार्य में भी दखल देना शुरू कर दिया। क्लब ने वामपन्थी लेखकों की एक सभा बुलाने का फैसला किया। मैंने समर्थन किया और कहा कि विभिन्न व्यवसायों के विषय में विवेचना होनी चाहिए। किन्तु मेरी बात नहीं मानी गई। फैसला हुआ कि सभा राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करेगी। मैंने पूछना चाहा कि हम अपने लेखकों से पुस्तकें लिखाना चाहते हैं या राजनीति कराना। उत्तर मिला दोनों काम। लेखक दो-चार घण्टा रोज काम करें और बाकी समय में जलसे जलूस निकालें। सभा के संयोजक एक कम्युनिस्ट नेता बने। इस प्रश्न पर विवाद हुआ कि पार्टी क्लब से क्या आशा करती है। नेता ने कहा कि राजनीतिक संगठन से लेकर उपन्यास लिखने तक सभी काम लेखकों को करने चाहिएँ। मैंने कहा कि एक ही आदमी दोनों काम नहीं कर सकता। नेता ने कहा कि दोनों ही काम करने चाहिए। नेता की बात ही मानी गई और जिस 'वामपन्थी-मोरचा' पत्रिका को बनाने के लिए इतना परिश्रम किया था, उसे बन्द करने का फैसला हुआ।

मैं समझ गया कि क्लब के अन्तिम दिन आ गए है। मैंने खड़ा होकर क्लब को तोड़ देने का प्रस्ताव पेश किया। नेता बिगड़ पड़े और मुझे पराजयवादी कहकर मेरी कड़ी आलोचना की। चीन, भारत, जर्मनी और जापान इत्यादि के विषय में ढेर के ढेर प्रस्ताव पास करके सभा विसर्जित हुई। किन्तु लेखन कार्य सम्बन्धी एक भी बात पर विचार-नहीं हुआ। सभा में मैंने जो कुछ कहा था वह मेरे ऊपर सन्देह का एक नया कारण बन गया।

ऊपर बता चुका हूं कि सन्देह मुझ पर पहले ही किया जाता था। अब पार्टी को यक़ीन हो गया कि पार्टी में कोई भयानक शत्रु घुस आया है। कानाफूसी होने लगी कि मैं गुप्तरूप से पार्टी के भीतर एक गुटबन्दी कर रहा हूं। मैं जानता था इन आरोपों का उत्तर देना व्यर्थ है। किन्तु किसी कम्युनिस्ट से मिलना मेरे लिए अब एक दुखद बात बन गई। न जाने वह मेरे बारे में क्या सोचता हो?

सभा के उपरान्त जान रीड क्लब की राष्ट्रीय कांग्रेस बुलाने का फैसला हुआ। १९३४ की गर्मी के दिन थे। राष्ट्र के कोने-कोने से वामपन्थी लेखक एकत्र हुए। किन्तु कांग्रेस की दो-चार बैठकों में बैठकर ही अधिकतर लेखक बुरी तरह चकरा गए। एक असन्तोष की भावना फैलने लगी। अधिकतर लेखक युवक और उत्साही थे और श्रेष्टतम लिख डालने की क्षमता उनमें थी। किन्तु वे समझ ही नहीं पाए कि कांग्रेस उनसे क्या कराना चाहती है और कांग्रेस किसी फैसले पर नहीं पहुँची। कांग्रेस के आखिरी दिनों में मैंने एक समिति की बैठक में भाग लिया। हम दस जने एक होटल के कमरे में एकत्र हुए थे। क्लब की राष्ट्रीय समिति के मुखियों ने क्लब के विरुद्ध वही शिकायतें कीं, जो मैं करता रहता था। मुझे आशा होने लगी कि अब क्लब में नए जीवन का संचार होगा। किन्तु जब देश के एक बड़े कम्युनिस्ट ने खड़ा होकर फैसला दे डाला कि सब क्लब तोड़ देने चाहियें, तो मैं सन्नाटे में आ गया। मैंने पूछा कि ऐसा क्यो? उन्होंने कहा कि क्लब पार्टी की नई नीति में सहायक नहीं होगी। मैंने समझाया कि क्लब का पुनर्गठन करके उसको अधिक विशद बनाया जा सकता है। उन्होंने उत्तर दिया कि एक बहुत बड़ी संस्था की आवश्यकता है, जिसमें देश के समस्त लेखक भाग ले सकें और वह संस्था नई होनी चाहिए। मुझे यह भी बताया गया कि पार्टी की नई नीति ही जीवन का सच्चा संदेश है और उस सन्देश में क्लब के लिये कोई स्थान नहीं। मैंने पूछा कि जिन नौजवान लेखकों को पार्टी ने क्लब का सदस्य बनने का आदेश दिया था, किन्तु जिनके लिये नई संस्था में कोई स्थान नहीं, उनका क्या होगा? मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। मुझे

बहुत बुरा लगा। पार्टी अपनी नीति को तेजी से बदलने के लिये एक बनी-बनाई संस्था को तोड़ रही थी और नए लोगों को लेकर, नई नीति के साथ, एक नई संस्था का गठन करना चाहती थी।

बहुमत मेरे विरुद्ध था। मैंने एक और भी नई बात देखी। जो लोग मेरे से सहमत थे, वे भी मेरा समर्थन करने के लिये तैयार नहीं हुए। मुझे मालूम हुआ कि जब किसी कम्युनिस्ट को पार्टी की नीति बता दी जाती है, तो उसका अपना मत चाहे कुछ भी हो और चाहे वह मानता हो कि उस नीति से पार्टी को हानि पहुँचेगी, तो भी नतमस्तक होकर पार्टी का अनुसरण करना उसका कर्तव्य होता है। मैंने पार्टी का विरोध किया, इसका कारण मेरा व्यक्तिगत साहस था, यह मैं नहीं कहता। मुझे और कोई रास्ता ही नहीं सूझा। मैं दक्षिण प्रान्तों में जन्मा-पला था, जहाँ कि घृणा का तीव्र वातावरण था। फिर भी मेरी समझ में नहीं आया कि एक आदमी अपना मुँह कैसे बन्द कर ले। मैं तो दक्षिण छोड़कर उत्तर में इसीलिये मारा-मारा फिरता था कि खुले आम अपने मन की कह सकूँ। और अब यहाँ भी मेरे मुँह पर ताला लगाया जा रहा था। कांग्रेस समाप्त होने से पहले यह फैसला हुआ कि अगले साल, यानी १९३५ के ग्रीष्मकाल में अमेरिकन लेखकों की एक और कांग्रेस का आयोजन हो। मुझे यह अच्छा नहीं लगा और मैंने चुप रहना चाहा। मुझे लग रहा था कि जो कहानियाँ मैंने लिखी हैं, वे इस नई नीति के कारण शायद स्वीकार न की जा सकेंगी। मन में प्रश्न उठा कि क्या उनको फाड़कर फैंक दूँ और नई लिख डालू। अन्तरात्मा ने गवाही नहीं दी। मेरी कहानियाँ तो मेरा जीवन-दर्शन थीं, मेरे प्राण, मेरी साधना, मेरा सर्वस्व। उन सबको भला पार्टी के कहने से कैसे नए साँचे में ढाल लेता?

१९३५ का बसन्त आया और लेखकों की काँग्रेस की तैयारियाँ बड़े जोर से होने लगीं। किसी अज्ञात करणवश, शायद मुझे बचाने के लिए, मुझे भी कांग्रेस का एक डेलीगेट चुना गया। मैंने अपनी नौकरी से कुछ दिन की छुट्टी ली और जिस किस तरह कई और डेलीगेटों के साथ न्यूयार्क जा पहुँचा। हम सांझ के समय पहुँचे थे। कांग्रेस की पहली बैठक कारनेगी हाल में होने का बात थी। मैंने न्यूयार्क का जान रीड क्लब के लोगों से ठहरने के लिये स्थान

मांगा। वे सब श्वेतांग थे और मेरी मांग पर असुविधा महसूस करने लगे। उनमें आपस में काना-फूसी होने लगी। मैं बैठा हुआ सब देख रहा था। मैं तो यह भूल ही गया था कि मैं नीग्रो हूँ। सारे रास्ते मैं नए लेखकों की समस्याओं पर विचार करता हुआ न्यूयार्क पहुँचा था। अब अपने रंग के बारे में ये उलझनें देखकर मेरा मन बैठ गया। एक श्वेतांग कामरेड आकर बोले—"एक मिनट में हम आपके ठहरने का प्रबन्ध किए देते हैं"

"किन्तु क्या पहले से कोई प्रबन्ध नहीं किया गया था?"—मैंने पूछा।

"सो तो किया था। किन्तु वे लोग आपको ठहराएँगे कि नहीं, ठीक से नहीं कहा जा सकता। आप तो सब समझते हैं"

"हाँ, मैं समझता तो हूँ"—मैंने ओंठ काटकर उत्तर दिया।

"बस एक सेकेण्ड ठहरिए। अभी बन्दोबस्त किए देता हूं"—मेरी कोहनी छूकर वह बोला।

"आप चिन्ता मत कीजिये"—मैंने क्रोध को दबाकर कहा।

"ओ हो। यह भी क्या कहते हैं। एक मुश्किल तो है, किन्तु अभी कुछ करता हूँ"—उसने सिर हिलाते हुए उत्तर दिया।

"किन्तु मुश्किल तो इसमें कुछ नहीं होनी चाहिये।"—मुझसे कहे बिना न रहा गया।

"नहीं, नहीं, मेरा कहने का यह मतलब नहीं था ...."

मैं लाज और क्रोध से गड़ा जा रहा था। चारों ओर लोग खड़े मेरी भद्द देख रहे थे। मैं लाल हो उठा। कुछ मिनट पीछे वह श्वेतांग बन्धु लौटा। उसकी आँखें लाल थीं, पसीना छूट रहा था।

"कुछ बन्दोबस्त हो गया क्या?"—मैंने पूछा।

"नहीं, नहीं। अभी नहीं। एक मिनट रुकिए। मैं अपने एक परिचित को फोन करके पूछता हूँ। एक दुअन्नी हो तो दीजिये"—वह हाँफता हुआ बोला।

"छोड़िये आप। मैं कुछ इन्तजाम कर लूँगा। किन्तु कुछ समय के लिये यह सूटकेस यहाँ छोड़ना चाहता हूँ"—मैंने कहा। मेरे घुटने जवाब दे चुके थे।

"आप क्या विश्वास करते है कि आप स्थान ढूँढ़ निकालेंगे?"— वह कुछ आशा का भाव लेकर बोला।

"क्यों नहीं?"—मैंने उत्तर दिया। उसे विश्वास नहीं हो पाया। वह मेरी सहायता करना चाहता था, किन्तु उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि कैसे करे? उसने मेरा सूटकेस एक आलमारी में बन्द कर दिया और मैं बाहर सड़क पर निकल आया। फुटपाथ पर खड़े-खड़े सोचने लगा कि सोऊंगा कहाँ। मेरी चमड़ी काली थी, जेब में प्रायः कुछ नहीं था। वामपन्थी साहित्य रचना में मेरी सारी दिलचस्पी हवा हो गई। मैं नहाना चाहता था, लेकिन कहीं इन्तजाम नहीं कर सका। फिर कारनेगी हाल में सभा में जा पहुँचा। वे दिल दहला देने वाली वक्तृताएँ सुनकर मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं वहाँ क्यों चला आया। मैं फिर बाहर फुटपाथ पर खड़ा होकर लोगों के चेहरे देखने लगा। शिकागो की क्लब के एक सदस्य से भेंट हो गई। उसने पूछा—"तुम्हारे ठहरने का कुछ इन्तजाम हुआ क्या?"

"नहीं। किसी होटल में जाकर देखूँगा। लेकिन होटलवालों से अपना रंग क्यों कर छुपाऊँगा?"

वह चला गया और दो मिनट में एक बड़ी, मोटी श्वेतांग स्त्री के साथ लौटा। हमारा परिचय कराया उसने।

"मेरे घर आप रात बिता सकते हैं"—वह बोली।

मैं उसके मकान तक उसके साथ गया। उसने अपने पति से मेरा परिचय करा दिया और मैंने दोनों को धन्यवाद देकर रसोई घर में अपना बिस्तर लगा लिया। भोर में उठकर मैंने कपड़े पहने, उनको जगाकर विदा मांगी और बाहर एक बैंच पर जा बैठा। जेब से कागज-पेंसिल निकालकर मैंने अपनी वक्तृता का मसविदा तैयार करना चाहा। किन्तु मेरा जी नहीं लगा। रह-रहकर मन कह रहा था—"क्या इस अभागे देश में एक नीग्रो भी अपने आपको आदमी कह सकता है?"

उस दिन मैं कांग्रेस की सभा में बैठा रहा, किन्तु कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। उस रात को मैं हारलेम[१] में पहुँचा और काले आदमियों के बीच घूमने लगा। रास्ते वालों से पूछा तो मुझे बताया गया कि हारलेम में भी नीग्रो

---

१. न्यूयार्क का वह हिस्सा जिसमें नीग्रो लोगों की बस्ती है।

लोगों के लिये कोई होटल नहीं था। मैं स्तम्भित रह गया। इधर–उधर भटकने लगा। एक बड़े से साफ होटल पर नजर पड़ी। उसमें से काले आदमी आ–जा रहे थे। श्वेतांग कोई नहीं दीख पड़ा। मन में विश्वास लेकर मैं भीतर चला गया। किन्तु दफ्तर की मेज पर एक श्वेतांग क्लर्क को बैठा देखकर मुझे ठिठकना पड़ा। मैंने उससे कहा—"एक कमरा चाहिये"

"यहाँ नहीं"—उसने उत्तर दिया।

"किन्तु यह तो हारलेम है"

"तो क्या बात है ? यह होटल केवल श्वेतांग लोगों के लिए है"

"तो काले आदमियों के लिए कौन सा होटल है ?"

"वाइ० एम० सी० ए० में जाकर पूछ देखिए"

आध घण्टा पीछे मैं वाइ० एम० सी० ए० में पहुँच गया जहां कि कट्टर नीग्रो नौजवानों से मेरी भेंट हुई। मुझे एक कमरा मिल गया और नहा–खा कर बारह घण्टे तक मैंने लम्बी तानी। जागा तो कांग्रेस में जाने को जी ही नहीं चाहा। मन कहने लगा—"मेरा रास्ता उधर नहीं है। मैं अकेला हूँ। रास्ता फिर से खोजना होगा"

फिर भी कपड़े पहन कर सभा में जा बैठा। आज क्लब के बारे में अन्तिम फैसला होने की बात थी। न्यूयार्क के एक कम्युनिस्ट लेखक ने क्लब का इतिहास बताया और क्लब को भंग करने की मांग की। विवाद शुरू हुआ। मैंने खड़े होकर यह बताया कि नौजवान लेखकों के जीवन में क्लब का क्या स्थान रहा है और क्लब को बनाए रखने की अपील की। किसी ने मेरी बात पर ताली नहीं बजाई। विवाद बन्द हुआ। वोट लिया गया। सारी सभा ने हाथ उठा कर क्लब तोड़ने का समर्थन किया। विरोध करनेवालों में मेरा हाथ अकेला था। मैं जानता था कि मुझ पर पार्टी के साथ विरोध करने का आरोप लगाया जाएगा, किन्तु उसके लिए मैं तैयार था।

क्लब टूट जाने पर पार्टी से भी मेरा सम्बन्ध टूट सा गया। मैंने सैल की सभाओं में जाना भी छोड़ दिया। मैं नए अनुशासन में बँधने से घबराता था। मुझसे कम्युनिस्ट लोग घबराते थे, क्योंकि पार्टी को मुझ पर सन्देह था।

कभी–कभी कोई साहसी बन्धु घर पर आकर मुझे बता जाता था कि किस प्रकार पार्टी के भीतर लोग एक दूसरे पर आरोप लगाते रहते हैं। यह सुन कर मुझे बहुत ताज्जुब हुआ कि बड़ी नीलसन ने मुझ पर पार्टी में प्रतिक्रिया फैलाने का दोष लगाया है। बड़ी नीलसन अमेरिका के नीग्रो लोगों को कम्युनिज्म की ओर ले जाने वालों में सर्वप्रथम था। उसने क्रेमलिन की सभाओं में वक्तृताएँ दी थी। स्टालिन ने स्वयं उसकी वक्तृताएँ सुनी थी। मैंने पूठा—"बडी नीलसन मुझे ऐसा क्यों समझाता है?"

"वह कहता है कि तुम एक पतित बुर्जुआ हो"

"इसका क्या मतलब?"

"यही कि तुम अपने विचारों से पार्टी में गंदगी पैदा करते हो"

"किस प्रकार?"

मुझे उत्तर नहीं मिला। मैंने फैसला किया कि पार्टी मुझे छोड़ देनी चाहिए। मेरे ऊपर आरोप तीव्रतर होते जा रहे थे और मेरे चुप रहने के कारण बड़ी नीलसन की ज़बान और भी तेज़ चलने लगी। मुझे हरामी बुद्धिवादी, ट्राट्स्की का चेला इत्यादि कहा गया। मुझे नेताओं के विरुद्ध विद्रोही ठहराया गया और कहा गया कि मैं अपने आपको सदा सही मानने के कारण संघर्ष के लिए किसी काम का नहीं रह गया। सारे दिन और आधी रात तक लगातार काम करने के कारण मैं बीमार पड़ गया। एक दिन किसी ने द्वार खटखटाया। माने किवाड़ खोले तो एड ग्रीन भीतर चला आया। वह मुझे पार्टी का घोर शत्रु मानता था। उसे देखकर मेरा पारा चढ़ गया। कर्कश स्वर में मैंने कहा—"क्या चाहिए? देखते नहीं कि मैं बीमार पड़ा हूं?"

"पार्टी का संदेश आपके लिए लाया हूँ"—उसने उत्तर दिया?

मैंने उसे नमस्कार नहीं किया था। न ही उसने करने की जरूरत समझी थी। न वह हँसा[१] था, न मैं। मेरे सूने कमरे को वह निहारने लगा। मैंने ताना मारा—"यह तो एक हरामी बुद्धिवादी का घर है" "किन्तु उसने पलक भी नहीं झपकी। घूरता रहा। मुझसे उसका खड़ा रहना नहीं देखा गया।

---

१. अमेरिका में एक दूसरे को देखकर मुस्कराना स्नेह का चिन्ह है।

सौजन्यतावश उसे बैठने के लिए मुझे कहना ही पड़ा। वह कुछ सिटपिटाकर फौज के अफसर की तरह बोला—"मुझे जल्दी है"

"तो कहिए क्या बात है ?"

"आप बडी नीलसन को तो जानते हैं ?"

मुझे संदेह होने लगा। शायद वह कोई झांसा देना चाहता था। इसलिए मैंने अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा। उधर की सुनना चाहता था पहले। मैंने पूछा—"हाँ, तो बडी नीलसन के बारे में क्या रह रहे थे आप ?"

"वह आपसे मिलना चाहता है"

"क्या काम है ?"—मैंने संदिग्ध भाव से पूछा।

"पार्टी के काम के बारे में आपसे बातें करना है"

"नहीं। तुम लिखना जानते हो। मैंने जो लूई[1] के सम्बन्ध में तुम्हारा लेख पढ़ा है। अच्छा है। खेल-कूद को पहले-पहले राजनीतिक दृष्टि से देख कर लिखा गया है।"

मैं चुप रहा। मेरा ख्याल था कि नीलसन कोई विचारवान आदमी होगा। ख्याल बदलना पड़ा। तो क्या वह कोई क्रियाशील व्यक्ति है, मैं सोचने लगा। वैसा भी नहीं लग रहा था।

"मैंने सुना है कि तुम रौस के मित्र हो"—उसने पूछा।

मैंने उत्तर देने से पहले सोचा। वह सीधी बात न करके चाल चल रहा था। मुझे मालूम था कि रौस पर नेताओं का विरोध करने का आरोप लगा कर उसे पार्टी से निकाला जा रहा है। यह जो कामिन्टर्न का सदस्य मुझसे रौस के साथ मेरे सम्बन्ध के बारे में पूछना चाहता था वह केवल पार्टी के प्रति मेरा रुख जानने के लिए। मैंने स्पष्ट कह दिया—"रौस कोई खास मेरा ही दोस्त हो, सो बात तो नहीं है। हाँ, उसे मैं जानता हूँ। बहुत अच्छी तरह ही जानता हूँ"

"अगर दोस्त नहीं है तो अच्छी तरह कैसे जानते हो"— अपने प्रश्न की कठोरता को अपनी हँसी से पिघलाने की चेष्टा करता हुआ वह पूछ बैठा।

---

१. विख्यात नीग्रो घूँसेबाज।

"मैंने उसकी जीवनी लिखी है। और उसके बारे में जो कुछ सब लोग जानते हैं, उतना ही मैं जानता हूं"

"वह सब मैंने सुना है। राइट, नहीं, नहीं, तुम्हें डिक कह कर पुकारूं तो अच्छा रहेगा?"

"जरूर। हाँ, तो बोलिए"

"देखो, डिक, रौस जातिवादी है"—कह कर वह रुका जिससे कि मैं उस भारी भरकम आरोप को अच्छी तरह समझ लूँ। उस आरोप का मतलब था कि रौस नीग्रो जाति के लिए खूब कस कर लड़नेवालों में गिना जाता था—"हम कम्युनिस्ट नीग्रो लोगों की जातिवादिता को बढ़ावा नहीं देना चाहते"—उसके स्वर में हँसी, आरोप और धमकी एक साथ मिली थीं।

"आपका क्या मतलब है?"

"यही कि रौस को हम बहुत आगे नहीं बढ़ा सकते"—उसने साफ साफ कह दिया।

"हमारी बातें ही जुदा हैं। रौस के विषय में लिखने से आप इसलिए घबराते हैं कि रौस आपका राजनीतिक प्रतिपक्षी है। किन्तु मुझे रौस की राजनीति में तिल भल भी दिलचस्पी नहीं हैं। मैं तो एक नीग्रो चरित्र के विशेष गुण का समावेश उसमें देख कर उसकी ओर आकृष्ट हुआ हूँ। उसके जीवन की एक घटना पर लिखी हुई एक कहानी तो मैं प्रकाशन के लिए दे भी चुका"

"क्या घटना थी वह"—नीलसन ने चमक पर पूछा

"जब वह तेरह बरस का था तो एक मुसीबत में पड़ गया था"

"ओ। मैं समझा कोई राजनीतिक घटना थी"—उसने ठण्डा पड़ कर कहा।

"मैं आपको आप की भूल जताना चाहता हूं। मैं अपने लेखों द्वारा आपसे राड़ नहीं करना चाहता। मुझमें राजनीतिक महत्वाकांक्षा है ही नहीं। मैं तो निग्रो जीवन को चित्रित करना चाहता हूँ"

"रौस के बारे में लिखना समाप्त कर चुके?"

"नहीं। मैंने और लिखने का विचार छोड़ दिया। पार्टी के लोग मुझ पर शुबा करने लगे हैं और मुझसे कतराने लगे हैं। इसीलिए"

वह हंसा। फिर बोला—"डिक, देखो हमारे पास लोग कम हैं और वक्त बड़ा नाजुक आ गया है"

"पार्टी के लिए तो वक्त हमेशा ही नाजुक रहता है"—मैंने कह दिया

"तुम तो अविश्वासी हो, डिक। क्या नहीं हो?"—हंसी रोककर मुझे घूरते हुए उसने पूछा।

"नहीं। लेकिन सच कहता हूं। प्रत्येक सप्ताह, प्रत्येक मास कोई न कोई घमासान खड़ा ही रहता है"

"तुम भी अजीब आदमी हो"—वह फिर हंसकर, खांसता हुआ बोला—"हमारे सामने एक काम है। नया काम। फासिज्म का खतरा ही अब सबके लिए एकमात्र खतरा है"

"मैं मानता हूं"

"फासिस्टों को पीटना ही होगा। तुम्हारे बारे में बातें हुई हैं और हम तुम्हारी योग्यता जानते हैं। हम चाहते हैं कि तुम हमारे साथ काम करो। हमें अपनी सँकरी गली छोड़कर राजमार्ग पर निकलना है। हम चाहते हैं कि हमारी आवाज धर्मप्राण लोगों में, छात्रों में, क्लबों में, व्यवसायी और मध्यवित्त लोगों में, सब जगह पहुँच जाए"

"मुझे जो गालियां दी गई हैं, क्या वही राजमार्ग पर जाने का रास्ता है"—मैंने धीरे से छेड़ा

"वह सब भूल जाओ"—उसने यह नहीं कहा कि मुझे गालियाँ नहीं दी गईं। इसका मतलब था कि उसकी बात मैं नहीं मानूँ तो गालियाँ फिर मुझपर पड़ने लगेंगी। मैंने कहा—"मुझे नहीं मालूम कि नया काम कहाँ तक निभा सकूगा।"

"हम तुम्हें एक बड़ा काम देना चाहते हैं"

"बोलिए, मैं क्या करूँ?"

"महंगाई के विरोध में एक समिति का गठन करना चाहते हैं"

"महंगाई !"—मैंने विस्मित होकर कहा"—इस मामले में मैं क्या जानता हूं भला ?"

"कोई बड़ी बात नहीं। तुम सीख जाओगे"

मैं एक उपन्यास पर जुटा हुआ था और ये हजरत मुझसे नून, तेल का हिसाब करवाना चाहते थे। मन में कहा कि क्या यह लेखक के रूप में मेरा कोई महत्व नहीं समझता।

"नीलसन भैया"—मैंने कहा—"जिस लेखक ने कोई अच्छी चीज़ नहीं लिखी वह किसी काम का नहीं होता। मैं भी उसी कोटिका लेखक हूं। लेकिन मेरा मन कहता है कि किसी दिन जरूर कुछ लिख पाऊँगा। मैं आपसे कोई विशेष मेहरबानी नहीं चाहता। एक पुस्तक लिख रहा हूं। जो छः महीने में पूरी हो जाएगी। मुझे मालूम हो जाएगा कि मेरा मन झूठ कहता है या सच। फिर मैं आपके पास सेवा के लिए हाजिर हो जाऊंगा"

"डिक, तुम्हें जनता तक पहुँचना चाहिए"—मक्खी की तरह मेरी बात उड़ाता हुआ वह बोला।

"आपने मेरा काम देखा है। क्या आप नहीं समझ सकते कि उस दिशा में कुछ कर दिखाने का अवसर मुझे मिलना चाहिए।

"पार्टी को तुम्हारी इन सब साधों से कोई मतलब नहीं"

"तो शायद पार्टी में मेरा स्थान नहीं"—मैं भी अकड़ पड़ा।

"नहीं नहीं, ऐसा क्यों कहते हो। तुम तो बहुत स्पष्टवक्ता हो"—मुझे घूरता हुआ वह बोला।

"मैं मन की बात कहने को तड़प उठा हूं। इसलिए आपसे ही शुरुआत कर दी। पार्टी ने मुझे तंग कर मारा है और सचमुच मेरा जी भर गया है"

उसने हंसते-हंसते एक सिगरेट जलाई। फिर सिर हिलाता हुआ कहने लगा—"डिक, तुम्हारे साथ बीमारी यह है कि तुम श्वेतांग लेखकों में बहुत उठे-बैठे हो। उन्हीं की तरह तुम बातें भी करने लगे हो। लेकिन तुम्हें अपने लोगों से परिचय बढ़ाना चाहिए"

"मेरा विचार है कि मैं अपने लोगों को जानता हूं। मैं अपने इलाके के तीन चौथाई घरों में आता-जाता हूं"—मुझे ऐसा लगने लगा कि उससे बातें करना फिजूल है।

"लेकिन उनके साथ तुम्हें काम भी तो करना चाहिए"—वह बोला।

"मैं तो रौस के साथ काम कर ही रहा था। पार्टी ने ही मुझ पर गुप्तचर होने का शक करके मेरा काम छुड़ा दिया"

"डिक, पार्टी ने फैसला किया है कि तुम्हें यह काम करना ही होगा"—वह अचानक गम्भीर होकर बोला

मैं चुप हो गया। उसकी बात का अर्थ मैं जानता था। पार्टी का फैसला एक कम्युनिस्ट के लिए आखिरी फैसला होता है, और उस फैसले को न मानना पार्टी के साथ द्रोह माना जाता है क्योंकि इससे पार्टी की क्रियाशीलता में बाधा आती है। सिद्धान्ततः तो यह कठोर अनुशासन मैं मानता था। मैं जानता था कि मजदूर एक क्रियात्मक एकता के बिना कभी भी राजनीतिक सत्ता नहीं हथिया सकते। सदियों के दलित, वंचित आपस में विभक्त, निराश, प्रथभ्रष्ट मजदूरों के मन मुर्दा थे और कम्युनिस्ट पार्टी का कठोर अनुशासन ही उनमें जान डालने का एक तरीका जान पड़ता था। नीलसन ने साफ-साफ मुझसे पूछा था कि मैं कम्युनिस्ट हूं या नहीं। मैं कम्युनिस्ट रहना तो चाहता था, किन्तु मेरे कम्युनिज्म का ध्येय था लोगों के दुःख सुख को जानकर उनके दिलों को हिलाना। यह सब नीलसन को कैसे समझाता। वह खांसकर मेरी बात उड़ा देता। मैंने कहा—"अच्छा, मैं उस समिति का गठन करके फिर किसी दूसरे को सौंप दूंगा"

"तो तुम यह सब करना नहीं चाहते?"

"नहीं"—मैंने जोर देकर कहा

"तो फिर यहाँ नीग्रो इलाके में क्या करना चाहते हो?"

"मैं नीग्रो कलाकारों का संगठन बनाना चाहता हूं"

"पार्टी अब उसकी जरूरत नहीं समझती"

मैं समझ गया कि वह सारा काम मुझसे ही कराना चाहता है। मैं उठ खड़ा हुआ। मैं हमेशा के लिए विदा लेना चाहता था, किन्तु मन अभी तैयार नहीं हो पाया था। मैं बाहर चला आया। मुझे अपने ऊपर क्रोध आ रहा था, नीलसन और पार्टी पर भी। पार्टी के फैसले का विरोध मैंने नहीं किया था। किन्तु उसे पूर्णतया स्वीकार भी नहीं किया था। मैं चाहता था कि लिखने और सोचने के विचार के लिए मुझे जरूर समय मिलना चाहिए।

अब मेरा काम था देर रात तक सभाओं में जाकर वाद-विवाद करना तथा अन्य कम्युनिस्टों के सहयोग से हमारे इलाके की जनता का नेतृत्व संभालना। हम वासस्थान सम्बन्धी समस्याओं पर सोच-विचार करते और नीग्रो जाति की तकलीफों से नगर के प्रमुखों को अवगत करने के उपाय ढूंढते। जब नून-तेल के दामों की बात चलती तो मैं होंठ काटता रहता। मेरा जी चाहता था कि घर जाकर अपना उपन्यास लिखूँ। नीलसन मुझसे तेज आदमी था और मैं कोई चाल चलता उसके पूर्व ही उसने अपनी चाल चल दी। एक रात उसने मुझे बुला भेजा। जब मैं एक होटल में उससे मिलने पहुंचा तो उसके साथ एक नाटा, पीला आदमी भी था जो हाव-भाव में नीलसन की नकल-सी करता रहता था। वह चश्मा लगाए ऐसी शकल बनाए रहता था, मानो उसे गम्भीर विचार से अवकाश ही नहीं मिल रहा हो। उसकी चाल में बड़प्पन की बू थी। बोलते समय वह प्रत्येक शब्द को इस प्रकार उच्चारण करता था मानो उन शब्दों का एक ऐसा अर्थ है जो कि हम साधारणतया नहीं समझ पाते। ज़रा-ज़रासी बातों को वह बढ़ा चढ़ाकर कहने का आदी था। उसने बताया कि उसका नाम स्मिथ है और वह वाशिंगटन से आया है। उसका इरादा था कि अमेरिका की समस्त नीग्रो संस्थाओं को एक सूत्र में बाँधकर एक राष्ट्रीय संगठन खड़ा किया जाय ताकि क्रियाशीलता की एकता प्राप्त हो सके। हम तीनों एक टेबल पर बैठ गए। मैं समझ गया था कि ये लोग एक अन्तिम मांग मुझसे करना चाहते हैं और यदि मैंने इन्कार कर दिया तो खुलकर ठनेगी। स्मिथ ने अचानक पूछा—“राइट, तुम्हें स्विट्ज़रलैण्ड जाना कैसा लगेगा?”

"अच्छा लगेगा। किन्तु अभी यहां काम हैं"

"वह छोड़ो। यह दूसरा काम ज्यादा जरूरी है"—नीलसन ने वकालत की।

"स्विट्जरलैण्ड में मैं क्या करूँगा?"

"नौजवान डेलीगेट बनाकर तुम्हें एक नवयुवक सभा में भेजेंगे। वहाँ से सोवियत् भूमि जा सकते हो"—स्मिथ ने समझाया।

"मेरी इच्छा तो बहुत है, लेकिन काम से फुर्सत जो नहीं मिलेगी। जो कुछ मैं लिख रहा हूं, वह छोड़ा नहीं जा सकता"—मैंने कहा।

हम तीनों चुपचाप एक दूसरे को देखते हुए सिगरेट पीने लगे। स्मिथ से मैंने पूछा—"नीलसन ने मेरे मन की बात तो आपको बताई होगी"—स्मिथ ने उत्तर नहीं दिया। मुझे देर तक घूरता रहा। फिर अचानक गुर्रा उठा—"राइट, तुम काठ के उल्लू हो।"

मैं उठकर खड़ा हो गया। स्मिथ ने मुँह फेर लिया। मुझे तनिक और क्रोध आया होता तो उसकी नाक तोड़ डालता। नीलसन हँसने लगा।

"यह सब कहना क्या जरूरी था?"—मैंने क्रोध से काँपकर पूछा। मुझे याद आया कि बचपन में जब भी किसी ने मुझे गाली दी थी, तो मैंने जी तोड़कर मार-पीट की थी। किन्तु अब मैं आदमी था और अपने क्रोध पर काबू पाना ही मेरा धर्म था। मैंने अपना हैट उठाया और बाहर निकल गया।

"आखिरी सलाम"—मैं कहता आया।

सैल की अगली सभा में मैंने बोलने की इजाजत मांगी। नीलसन वहां था, इवान्ज और ग्रीन भी। मैंने कहा—

"बन्धुओ, पिछले दो साल से मैं आप लोगों के साथ काम करता आया हूँ। फिर भी मैं देखता हूं कि पार्टी में मेरी स्थिति दिन पर दिन कठिन होती जा रही है। यह सब कैसे हुआ सो एक लम्बी कहानी है, जो यहाँ सुनाने से कोई लाभ नहीं। लेकिन मुझे अपनी उलझन का किनारा मिल गया है। मैं चाहता हूं कि पार्टी की सदस्यावलि से मेरा नाम काट दिया जाए। पार्टी के आदर्शों से मेरा कोई मतभेद नहीं। किन्तु पार्टी के फैसले मानना मेरे लिये और सम्भव नहीं रह गया। मैं उन संस्थाओं का सदस्य बना रहूंगा, जहाँ कि

पार्टी का प्रभाव है और वहाँ पार्टी के प्रोग्राम को निभाने की चेष्टा करूँगा। मैं बात को जिस मनोभाव से कह रहा हूँ, उसी मनोभाव से आप उसे सुनेंगे, यह आशा मुझे है। शायद भविष्य में फिर कभी पार्टी के नेताओं से मिलकर मैं बता सकूँ कि मैं क्या-क्या कर सकता हूं"

मैंने बोलना बन्द किया तो चारों ओर सन्नाटा छाया था। सभा का नीग्रो मन्त्री घबड़ाकर नीलसन, इवान्ज और ग्रीन की ओर ताकने लगा।

"क्या साथी राइट की बात पर कोई बहस करना चाहते हैं?—आखिर मन्त्री ने पूछा।

"मेरा प्रस्ताव है कि बहस स्थगित की जाए"—नीलसन ने कहा। सबने उसका समर्थन किया। मैं जाने के लिये उठ खड़ा हुआ। "मैं अब जाता हूं"—कहकर मैंने इजाजत चाही। किसी ने मुँह न खोला। मैं अन्धेरी रात में घर की ओर बढ़ा तो मेरे सिर पर से मानो एक बोझ सा उतर गया था। और मैंने बोझ को एक भद्र भाव से ही उतारकर पटका था। मैंने गाली-गलौज नहीं की। शिकायत नहीं की, उलाहने नहीं दिए, किसी पर आक्षेप नहीं किया। अपना कोई विश्वास नहीं छोड़ा।

अगली रात को दो नीग्रो कम्युनिस्ट मेरे घर आए। उन्होंने ऐसा भाव बनाए रक्खा जैसे उनको पहली रात की घटना मालूम ही न हो। मैंने धैर्य-पूर्वक उनको सब कुछ बता दिया। उन्होंने अपने आने का आशय समझाते हुए कहा—"नीलसन तो और ही किस्सा बताता फिरता है"

"क्या कहता है?"

"कहता है कि पार्टी के भीतर ट्राट्स्कीवादी एक दल खड़ा करके तुम पार्टी में से और मेम्बरों को तोड़ना चाहते हो"

"क्या?"—मैंने चमकर पूछा—"किन्तु यह सत्य नहीं है। मैंने पार्टी से नाम कटाने की बात कही थी। किसी भगड़े के लिये मैं तैयार नहीं हूं"—मैं सोचने लगा कि इसका मतलब क्या हो सकता है? फिर मैं बोला—"मेरी समझ में अब मुझे पार्टी से सम्बन्ध तोड़ डालना चाहिए। नीलसन ने अपनी चाल नहीं बदली तो मैं त्यागपत्र दे दूंगा"

"तुम त्याग पत्र नहीं दे सकते"—वे बोले।

"क्या मतलब?"—मैंने पूछा।

"कम्युनिस्ट पार्टी से कोई त्याग पत्र नहीं दे सकता"

मैं उनकी तरफ देखकर हँसने लगा। बोला—"तुम्हारा दिमाग ठिकाने नहीं है"

"नीलसन तुमको पार्टी से निकालने का ऐलान करेगा। त्यागपत्र की बात वह उठने ही नहीं देगा। त्याग पत्र का मतलब होगा कि लोगों को पार्टी में कोई गड़बड़ दीखने लगे। नीलसन इसकी इजाजत नहीं दे सकता"

मैं क्रोध से तमतमा उठा। क्या पार्टी इतनी भीरु और आत्म-विश्वासहीन है कि मेरी बात पर विश्वास नहीं कर सकती! इन सब हथकण्डों का क्या मतलब? फिर अचानक सब कुछ मेरी समझ में आ गया। ये सब तो जारशाही के दिनों में गुप्त षडतन्त्रकारियों के हथकण्डे थे। मैंने पार्टी का फैसला नहीं माना इसलिये पार्टी मुझ पर कालिख पोतना चाहती थी। किन्तु अमेरिका में इसकी क्या जरूरत थी। यहाँ तो वातावरण ही दूसरा था। पार्टी क्या छायालोक में रहती थी? मैंने बन्धुओं से कहा—

"नीलसन से कह देना कि यदि वह झगड़ा बढ़ाना चाहता है, तो मैं भी तैयार हूं। अगर वह चुप रहे तो अच्छा होगा। किन्तु यदि खुलकर लड़ना चाहता है, तो पागल है। और क्या कहूँ?

मुझे नहीं मालूम कि मेरा पैगाम नीलसन तक पहुँचा या नहीं। किन्तु मेरे खिलाफ खुले आम कुछ नहीं कहा गया। हाँ पार्टी के भीतर बवण्डर उठ खड़ा हुआ। मुझे गद्दार, विश्वासहीन, आदर्श भ्रष्ट और न जाने क्या-क्या कहा गया। मेरे साथी मुझे जानते थे, मेरे परिवार तथा बन्धु-बान्धवों को जानते थे। मेरा घोर दारिद्रय भी उनसे छिपा नहीं था। किन्तु मेरे व्यक्तिवाद से वे सदा घबराते रहे थे। और व्यक्तिवाद तो मेरी नस-नस में समाया था।

इसी समय मेरी नौकरी बदल गई। फैडरल नीग्रो थियेटर में मुझे प्रचारक का काम मिला। कई बार मुझे पार्टी के भीतर चलने वाली कतरब्योंत जानने की बड़ी इच्छा होती थी। किन्तु जो कुछ भी सुन पाता था, उसमें एक दूसरे पर आरोप और लाञ्छन लगाने के सिवाय कुछ नहीं मिलता था। थियेटर में

जो नाटक खेले जाते थे, वे सब श्वेतांग लेखकों के लिखे होते थे। थियेटर की डाइरेक्टर एक श्वेतांग महिला थी। वह किसी भी नाटक को लेकर उसमें नीग्रो पात्र और भूमिका का समावेश कर देती थी और बस वही नाटक नीग्रो जीवन का प्रतिबिम्ब बताकर जनता के सामने रक्खा जाता था। चालीस के करीब नीग्रो अभिनेता और अभिनेत्रियाँ थियेटर में काम करते थे। प्राय: सभी ऊबे से रहते थे। मुझे सब ओर बड़ी व्यर्थता-सी दीख पड़ी। यहाँ एक अवसर था कि नीग्रो जीवन का यथार्थ प्रदर्शन किया जा सके, किन्तु किसी ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया था। मैंने अच्छी तरह से सोच समझकर अपने श्वेतांग मित्रों से बात चलाई। वे थियेटर के मामलों में कुछ हाथ रखते थे। मैंने प्रस्ताव किया कि उस श्वेतांग महिला की जगह कोई ऐसा डाइरेक्टर होना चाहिये, जो नीग्रो जीवन को जानता हो। उन्होंने कुछ न कुछ करने का वायदा किया। एक महीने के भीतर ही वह श्वेतांग महिला वहाँ से हटाई गई और हमारा थियेटर एक दूसरे स्थान पर ले जाया गया। मेरी सिफारिश पर एख प्रतिभाशाली यहूदी, चार्ल्सडिशीम को डाइरेक्टर बना दिया गया। उससे बातें करके मैंने अपने मन की कह डाली।

अब मैं खुश था। आखिर मैं एक ऐसी स्थिति में था, जहाँ से कि मैं सुझाव पेश कर सकता था और मेरी बातों पर ध्यान दिया जाता था। मैंने इरादा किया कि एक अच्छा नीग्रो थियेटर बनाने की पूरी चेष्टा होनी चाहिये। मैंने काम करनेवालों की एक सभा बुलाकर डिशीम का परिचय सबसे कराया। डिशीम भी कुछ बोले और सबने उनका स्वागत किया। इसके बाद पाल ग्रीन का एकाँकी नाटक सबको दिया गया और सबके पार्ट नियुक्त हुए। मैं बैठकर रिहर्सल देखने लगा। किन्तु कुछ गड़बड़-सी दीख पड़ी। नीग्रो अभिनेता अभिनेत्रियाँ पहले तो हकलाए, फिर चुप हो गए। डिशीम कुछ घबरा-से गए। एक अभिनेता उठकर बोला—"डिशीम महाशय, हमारा खयाल है कि यह नाटक अश्लील है। अमेरिका की जनता के सामने हम ऐसा नाटक प्रस्तुत करना नहीं चाहते। हमें विश्वास नहीं होता कि नीग्रो जाति का जीवन कहीं ऐसा है, जैसा कि इस नाटक में दिखाया गया है। हम तो ऐसा नाटक खेलना चाहते हैं जिससे जनता हमें चाहने लगे"

"तो कैसा नाटक चाहिए?"—डिशीम ने पूछा।

वे कुछ नहीं बोले। कुछ जानते ही नहीं थे। मैंने दफ्तर में जाकर उन सबका पुराना रिकार्ड देखा। बेचारे सदा से सस्ते नाटक खेलते रहे थे। एक अच्छा नाटक सामने देख कर वे घबरा गए। सोचने लगे कि यदि जनता ने उस नाटक को पसन्द नहीं किया तो उनकी बदनामी होगी। किन्तु जनता क्या चाहती है क्या पसन्द करती है, यह वे जानते ही नहीं थे। एक बार तो मुझे विश्वास होने लगा कि नीग्रो लोगों के बारे में श्वेतांग लोग जो कहते हैं, वह ठीक है। नीग्रो लोग बच्चे हैं जो कभी बड़े नहीं होंगे। डि शीम ने सबसे कह दिया कि वे जो नाटक चाहें वही खेलने का बन्दोबस्त किया जाएगा। किन्तु सब भीगी बिल्ली-से बैठे रहे। उन्हें अपने मन की इच्छाएँ जताने की भी आदत नहीं थी।

कई दिन पश्चात् मुझे मालूम हुआ कि सबने मिलकर एक आवेदन-पत्र लिखा है जिसनें डिशीम के निकाले जाने का माँग की गई है। मैं सन्नाटे में आ गया। मुझसे भी उस आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया। मैंने इन्कार कर दिया। मैंने पूछा—"क्या आप अपने दोस्तों को नहीं पहिचानते?"

सब चुप रहे। मैंने डिशीम को बुला भेजा और सलाह की कि क्या किया जाए। डिशीम ने पूछा—

"बोलिए—मैं क्या करूँ?"

"इनसे दिल खोलकर बातें कीजिए। कह दीजिए कि आवेदन-पत्र देकर आपको निकाल देना इनका अधिकार है"

डिशीम ने सभा बुलाकर कह दिया—"आप लोगों को मेरे विरुद्ध आवेदन-पत्र देने का पूरा अधिकार है, किन्तु मैं स्वयं चाहता हूं कि बातचीत करके ही ग़लतफहमी दूर कर ली जाए तो अच्छा होगा।" एक नीग्रो ने खड़े होकर पूछा—"आपको किसने कहा कि हम आवेदन-पत्र दे रहे हैं?"

डिशीम ने मेरी ओर देखकर दो-चार टूटे-फूटे वाक्य कहे। एक नीग्रो लड़की चिल्लाई—"हमारे थियेटर में एक भेदिया लगा है"

सभा के उपरान्त कुछ नीग्रो मेरे आफिस में घुस आए और जेब से छुरियाँ निकाल कर मेरी ओर हिलाते हुए बोले—"इसके पहले कि हम

तुम्हारी आतें निकाल बाहर करें, तुम यह काम छोड़ कर चले जाओ"—मैंने अपने श्वेतांग मित्रों को फोन कर दिया। मैं बोला—"मुझे तुरन्त दूसरे काम पर भेज दो, नहीं तो मेरी हत्या होने में देर नहीं"

चौबीस घण्टे के भीतर मैंने और डि शीम ने एक दूसरे से विदा ली और दोनों उस थियेटर को सलाम करके बाहर निकल आए। मुझे एक दूसरे थियेटर में भेज दिया गया और मैंने कसम खा ली कि अपने विचार लिख भले ही डालूँ, किसी के सन्मुख रक्खूँगा नहीं।

एक सांझ को कई नीग्रो कम्युनिस्ट मेरे पास आकर बोले कि बहुत जरूरी और गुप्त बातें मुझसे करनी हैं। मैंने अपने कमरे का दरवाजा बन्द करके उनको बैठाया। वे बोले—"डिक, पार्टी तुम्हे रविवार को एक मीटिंग में बुलाएगी"

"क्यों? मैं तो अब मेम्बर भी नहीं हूँ"—मैंने कहा।

"कोई बात नहीं। वे चाहते हैं कि तुम मीटिंग में आओ"

"लेकिन सड़क पर तो कम्युनिस्ट मुझसे मुँह फेर कर चले जाते हैं। मीटिंग में मेरा क्या करेंगे?"

वे कुछ सिटपिटाए। शायद बताना नहीं चाहते थे। मैंने कहा—"अगर बात नहीं बताओगे तो मैं मीटिंग में नहीं आ सकता"

कुछ कानाफूसी करने के बाद उन्होंने मुझे बताने का फैसला किया। कहने लगे—"डिक, रौस पर पार्टी मुकदमा चलाएगी"

"किस लिए?"

उन्होंने मुझे आरोपों की एक लम्बी लिस्ट सुना डाली। रौस से अनेक कसूर हुए थे। मैंने पूछा—

"तो इन सबसे मेरा क्या मतलब?"

"तुम आओगे तो समझ जाओगे"—मुझे सन्देह होने लगा। शायद वहाँ बुलाकर वह मुझ पर मुकदमा चलाना चाहते हों, ताकि मुझ पर कालिख पोत सकें। मैंने कहा—"मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ। तुम लोग मुझपर ही मुकदमा चला बैठे तो?"

उन्होंने कसम खाई कि ऐसा नहीं होगा। पार्टी तो रौस का मुकदमा मुझे दिखाकर यह बताना चाहती थी कि “मजदूरों के शत्रुओं” का क्या हशर होता है। बातें होती रहीं और एक नई घटना देखने का लालच मुझपर सवार हो गया। मैं मुकदमा देखना चाहता था, किन्तु यह नहीं चाहता था कि मेरे ऊपर मुकदना चलने लगे। मैंने कहा—

“नीलसन ने मुझपर जो आरोप लगाए हैं, वे मिथ्या हैं। मैं यदि मुकदमे में आता हूं तो वे सच्चे तो नहीं हो जाएगे ?”

“नहीं, नहीं। तुम आओ तो”

“बहुत अच्छा। लेकिन एक खयाल रहे। यदि मेरे साथ धोखा हुआ तो लडूंगा। कान खोल कर सुन लीजिए। नीलसन पर मेरा विश्वास नहीं है। मैं राजनीतिज्ञ नहीं हूं और जो आदमी दिन-रात जालासाज़ी करता रहता है, उसकी चालें पहले से समझना भी मेरे बस की बात नहीं है”

अगले रविवार को दोपहर बाद रौस का मुकदमा चला। सभा-भवन में, द्वार पर और गली में साथी पहरा दे रहे थे। मैं पहुँचा तो तुरन्त भीतर ले जाया गया। मैं उत्तेजित-सा था। ऐसी सभाओं का एक नियम होता है कि भीतर जाने के उपरान्त सभा समाप्त हुए बिना आप बाहर नहीं आ सकते। डर रहता था कि आप पुलिस के पास जाकर सभा पर धावा न करवा दें। अभियुक्त रौस हाल के दूसरे सिरे पर एक मेज़ के सहारे बैठा था। उसका मुख सूखा था। मुझे दुःख हुआ। किन्तु मुझे ऐसा भी लगा कि रौस को मज़ा आ रहा है। उसने सूने जीवन में यह एक दिलचस्प घटना थी।

मैं सोचने लगा ति कम्युनिस्ट बुद्धिवादियों से क्यों घृणा करते हैं ?

रूसी क्रान्ति का जो इतिहास मैंने पढ़ा था उसी पर मेरी आँखें गईं। पुराने रूस में करोड़ों दरिद्र, निरक्षर लोग थे, जिनका मुट्ठी भर शिक्षित और अभिमानी रईस लोग शोषण करते थे। रूस के कम्युनिस्टों ने शिक्षित वर्ग का वही रूप देखा था। इसी लिए उनको बुद्धिवादियों से घृणा है। वे यह नहीं देख पाए कि पश्चिम के देशों में गरीब लोग भी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ एक नीग्रो भी, यदि उसको पढ़ाई-लिखाई से प्यार हो तो, शोषण और

दारिद्र्य के बीच रहता हुआ पढ़-लिख कर संसार को समझने की क्षमता प्राप्त कर सकता है। किन्तु कम्युनिस्टों ने तो इन सब बातों को समझने की जरूरत ही नहीं समझी।

मुकदमा एक शान्तभाव से शुरू हुआ। जैसे किसी ने मुर्गी चुराई हो और पड़ौसी लोग उस पर विचार करने बैठे हों। कोई भी बोलना चाहने पर बोल सकता था। बोलने की पूर्ण स्वाधीनता थी। फिर भी मैंने देखा कि सभा की बातचीत एक बन्धे हुए दायरे के बाहर नहीं निकल सकी। कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के एक सदस्य ने उठकर संसार की वर्त्तमान परिस्थिति का चित्रण किया। उसने जर्मनी, जापान और इटली में फासिज्म के आक्रमणों की कहानी खूब बढ़ा-चढ़ा कर सुनाई। रौस के अपराधों को साबित करने के लिए यह भूमिका जरूरी थी। सबको यह समझना जरूरी था कि दलित वंचित मानवता किस भयानक बीहड़ से गुजर रही है। और जनता के दु:ख सन्ताप के बारे में कम्युनिस्ट पार्टी के पास तथ्यों की कमी नहीं होती। उन्हें झूठ बोलने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती।

दूसरे वक्ता ने सोवियत् राष्ट्र का महत्व समझाया। किस प्रकार मजदूरों का एकमात्र देश शत्रुओं से घिरा था, किस प्रकार सोवियत् राष्ट्र अपने शिल्पोद्योग बढ़ाने की जी तोड़ कोशिश कर रहा था और किस प्रकार सोवियत् सरकार मजदूर संसार को एकता के सूत्र में बाँधकर शान्ति का पथ-प्रदर्शन कर रही थी। यह सब भी बहुत हद तक सच था। किन्तु अभी तक अभियुक्त के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा गया। और लोगों की तरह बैठा वह भी सब कुछ सुन रहा था। अभी समय नहीं आया था कि इस संसारव्यापी संघर्ष में उसके पापों का निर्णय किया जा सके। निर्णय के पूर्व एक कसौटी की जरूरत थी, जिससे कि किसी पार्टी-मेम्बर के गुनाहों का हिसाब लगाया जा सके।

आखिरकार एक वक्ता ने शिकागो के नीग्रो लोगों के दु:ख-दर्द की कहानी शुरू की और बताया कि उन नीग्रो लोगों का संसार-व्यापी मजदूर

आन्दोलन से क्या सम्बन्ध है। अगले वक्ता ने उस आन्दोलन में शिकागो की कम्युनिस्ट पार्टी का स्थान और महत्व बताया और हाल में जितने लोग बैठे थे, सबको विश्वास होने लगा कि संसार में जो घोर नैतिक संग्राम चल रहा है, उसमें व्यक्तिगत रूप से उनका भी हाथ है। तीन घण्टे तक ये वक्तृताएं चल चुकी थीं और सबके हृदय में धरती पर मानव के जीवन की एक नई झाँकी उतर चुकी थी। सांझ होते-होते रौस पर लगाए हुए आरोपों का जिक्र होने लगा। ये आरोप पार्टी के लीडरों ने नहीं लगाए बल्कि उन लोगों ने जो रौस के निकटतम बन्धु थे और जो उसे अच्छी तरह जानते थे। आरोप बहुत भारी थे। रौस का कचूमर निकलने लगा। जो नैतिक दवाब उस पर पड़ रहा था, उसके नीचे दबकर वह त्राहि-त्राहि कर उठा। उसके विरुद्ध आरोप लगाने के लिए किसी पर जोर नहीं दिया गया। सबने अपने आप ही कह डाला कि किस दिन उनकी रौस से क्या-क्या बाते हुई थीं। रौस की "काली करतूतों" का घड़ा धीरे-धारे भरने लगा।

फिर रौस अपना बचाव करने के लिये खड़ा हुआ। मैंने सुना था कि वह कुछ गवाह पेश करेगा। किन्तु उसने किसी का नाम नहीं लिया। खड़ा होकर वह काँपने लगा। उसने बोलना चाहा, किन्तु शब्द मुँह से नहीं निकल पाए। हाल में मौत का सन्नाटा छाया था। रौस को रोम-रोम से "पाप" की गन्ध आने लगी। उसके हाथ काँप रहे थे और मेज का सहारा लेकर ही वह खड़ा रह सका। उसने एक मन्द, भीत स्वर में कहा—"साथियों, मुझ पर जो आरोप लगाए गए हैं, सब सच हैं"

और उसका स्वर सुबकियों में डूब गया। किसी ने उसे प्रेरणा नहीं दी थी। न उसे मारा-पीटा अथवा धमकाया गया था। यदि वह चाहता तो हाल के बाहर जा सकता था और जीवन भर किसी कम्युनिस्ट का मुँह देखने की उसे जरूरत नहीं थी। किन्तु यह सब उसने नहीं किया, करना नहीं चाहा। पार्टी के साथ उसके प्राणों का गठबन्धन हो चुका था और मरते दम तक उसका पिण्ड छूटना कठिन था। वह कहता रहा कि किस प्रकार उसने गुनाह किए और किस प्रकार वह पश्चात्ताप करना चाहता है।

मैं बैठा हुआ उन लोगों के बारे में सोचने लगा, जिन्होंने मास्को के मुकदमों[१] पर सन्देह किया था। यदि उन्होंने यह दृश्य देखा होता तो शायद उनका सन्देह दूर हो जाता। रौस ने कोई नशा नहीं किया था। वह जागृत अवस्था में ही था। कम्युनिस्ट पार्टी के भय के कारण उसने वे सब गुनाह अपने सिर नहीं लिए थे। दण्ड का विधान भी स्वयं उसी ने किया था। कम्युनिस्टों ने तो केवल उसके साथ बातें करके उसको एक नई दृष्टि प्रदान की थी, जिससे कि वह अपने गुनाहों को देख सके। फिर वे चुपचाप बैठ कर उसके पापों की कहानी सुनते रहे थे। वह उन्हीं में का एक था, उसका रंग और जाति चाहे जो हो। उसका हृदय उनके हृदयों से मिलकर धड़कता था। ऐसी अवस्था में उसके गुनाह यदि उसको उन साथियों से बिलगाना चाहें तो उसके लिए एक ही रास्ता था। उसे प्रेरणा मिली कि अपने गुनाह क़बूल कर ले और क्षमा की प्रार्थना करे।

मुझे एक दृष्टि से तो यह दृश्य अच्छा लगा। किन्तु उसके भीतर भरे अज्ञान और अन्धेपन को देखकर मैं सिहर उठा। उनके जीवन में इतनी क्षुद्रता थी, इतना संकुचित था उनका जीवन और उन्होंने दुःख-दर्द इतने दिन तक झेला था कि उनके लिए शत्रु और मित्र को पहिचानना एक प्रकार से असम्भव हो गया था। मुझे वे सब शत्रु मान बैठे थे। यदि उनके हाथ में राज्यसत्ता होती, तो मुझे गद्दार कहकर वे फांसी भी दे देते। उनको पूर्ण विश्वास था कि वे सच्चे रास्ते पर थे और मैं गुमराह। और वहाँ बैठने को मेरा जी नहीं चाहा। मैं बाहर के मुक्त वातावरण में जाकर वह सब भुला देना चाहता था। उठकर मैं द्वार के पास पहुंचा। एक साथी ने सिर हिलाकर कहा—"आप अभी नहीं जा सकते"

"लेकिन मैं जा रहा हूँ"—क्रोध से चिल्लाकर मैंने उत्तर दिया। हम एक दूसरे को घूरते हुए खड़े हो गए। एक और साथी भागकर आया। मैं आगे

१. मास्को के मुकदमों में सब अभियुक्तों ने स्वयं अपने गुनाह स्वीकार किए थे। उनके विरुद्ध कोई गवाही इत्यादि की जरूरत नहीं समझी गई। इन मुकदमों में ही लेनिन के समस्त साथियों को स्टालिन ने मौत के घाट उतारा था।

बढ़ा। पहले वाला साथी दूसरे का संकेत पाकर रास्ते से हट गया। वे हंगामा नहीं चाहते थे। मैं भी नहीं चाहता था। उन्होंने मेरा रास्ता छोड़ं दिया। शिकागो की अन्धेरी गलियाँ पार करके घर जाते-जाते मेरा मन शोक से भर गया। मैं फिर एक बारगी अकेला रह गया था। मुझे उनके धिक्कार से इतनी चोट नहीं पहुँची थी कि मैं आँसू बहाता। बचपन में ही मैंने यह सीख लिया था कि अज्ञान से चोट खाना उचित नहीं होता। बिस्तर में पड़े-पड़े मैंने अपने आपसे कहा—"मैं उन्हीं का हमदर्द हूं। वे मुझे दूतकारें, तो भी"

फैडरल एक्स्पैरीमैण्टल थियेटर से फैडरल लेखक परिषद में मेरी बदली हो गई। इस प्रतिष्ठान में अधिकतर लेखक कम्युनिस्ट थे। वे मुझ जैसे "गद्दार" से एक शब्द भी बोलना पाप समझते थे। मैं उनके साथ एक आफिस में काम करता था, एक रेस्तरां में चाय पीता था, एक लिफ्ट में उतरता चढ़ता था, किन्तु उनमें से किसी ने भी किसी दिन आँख उठाकर नहीं देखा, न कभी एक शब्द मुझसे कहा। एक महीना काम करने के बाद मुझे निबन्ध विभाग का भार सोंपा गया और मेरी मुसीबत आ गई। एक दिन परिषद के प्रधान ने मुझे बुलाकर पूछा—"राइट, तुम किसकी सिफारिश से इस काम पर आए थे?"

"मालूम नहीं। किन्तु, क्यों?"

"तो तुरन्त तुम्हें पता लगाना चाहिए"

"क्या बात है?"

"कुछ लोग अयोग्य बताकर तुम्हें यहाँ से हटाना चाहते है"

उसने कई आदमियों के नाम लिए जो कल तक मेरे साथी थे। मैं समझ गया कि बात कहाँ तक पहुंच चुकी है। वे मेरी रोटी छीनने पर तुले थे।

"आप उनकी शिकायतों का क्या जवाब देना चाहते हैं"—मैंने पूछा

"कुछ भी नहीं"—वह हँसकर बोला—"मैं समझता हूँ कि किस्सा क्या हैं। मैं उन्हें सफल नहीं होने दूंगा। मैं नहीं चाहता कि तुम इस काम से भी हाथ धो बैठो"

मैं उसे धन्यवाद देकर चलने लगा। लेकिन उसके शब्दों ने एक शंका मेरे मन में उठा दी थी। उलट कर मैंने पूछा—

"इस काम से भी! आपने क्या कहा?"

"तो क्या तुम पुरानी कहानी नहीं जानते?"

"कौनसी कहानी? आप कह क्या रहे हैं?"

"तुम फैडरल नीग्रो थिएटर छोड़कर क्यों आये थे?"

"वहाँ कुछ कहां सुनी हो गई थी। वहाँ के नीग्रो लोगों ने मुझको वहाँ से भगा दिया"

"तो क्या तुम्हारा खयाल है कि उन लोगों को किसी ने उकसाया नहीं था?"—वह हंसकर बोला।

मैं माथा पकड़ बैठ गया और मुँह बाए उसकी ओर देखता रहा। यह तो बहुत भयानक बात थी।

"यहाँ तुम्हें डरने की जरूरत नहीं। काम करते रहो, लिखते रहो"—उसने कहा

"मुझे विश्वास नहीं होता कि ....

"खैर । भूल जाओ"

पर अभी तो बहुत कुछ होना बाक़ी था। एक दिन दोपहर को मैं अपना काम समाप्त कर बाहर निकला तो गली में एक जलूस देखा। झण्डे इत्यादि लिए हुए मेरे पुराने साथी, आदमी और औरतें, लेखकों की वेतन-वृद्धि के लिए चिल्ला रहे थे। मुझे उस जलूस के बीच से होकर रास्ता पार करना था। ज्योंही मैं उधर बढ़ा, किसी ने मेरा नाम लेकर कहा—

"वह देखों राइट है। साला ट्राट्स्की का चेला"

"हम तुमको पहचानते हैं, जानते हैं...............राइट गद्दार है............ सारी भीड़ चिल्लाने लगी।

एक क्षण मुझे ऐसा लगा जैसे कि मैं मर चुका। अब तो नौबत यहाँ तक आ गई थी कि सरे बजार मुझपर गालियाँ बरसने लगीं। मैं नीचे से ऊपर तक हिल उठा। दिन बीतने लगे। मैं अपना काम करता रहा। वहाँ की यूनियन का

प्रधान भी मैं चुना गया, हालांकि पार्टी ने मेरे चुनाव में जमकर मेरा विरोध किया। यूनिनन में मेरा प्रभाव मिटाने के लिए कम्युनिस्ट यूनियन को तोड़ने के लिए तैयार हो गए। १९३६ के मई दिवस को हमारे सदस्यों ने फैसला किया कि हम भी सार्वजनिक पैरेड में भाग लेंगे। हमें आदेश भी मिल गया कि हमारे यूनियन के लोग पैरेड में शामिल होने के लिए कहां एकत्र हों। किन्तु जब मैं ठीक समय पर ठीक स्थान पर पहुंचा तो देखा कि पैरेड चल चुकी है। मैंने अपने यूनियन के झण्डे की खोज की, किन्तु कहीं नहीं देख पाया। एक नीग्रो से पूछा तो वह बोला—

"वह यूनियन तो पन्द्रह मिनट पहले आगे निकल गई है। तुम शामिल होना चाहते हो तो यहीं चले आओ"

मैं उसको धन्यवाद देकर भीड़ को चीरता हुआ आगे बढा। सहसा किसी ने मेरा नाम पुकारा। मैंने मुड़कर देखा कि मेरी बाईं ओर हमारे इलाके की कम्युनिस्ट पार्टी के लोग लाइन बाँधे मार्च करने के लिए तैयार खड़े थे। एक पुराना साथी बोला—"यहाँ चले आओ" मैं उसके पास पहुंचा तो वह बोला—"आज पैरेड में शामिल नहीं होगे क्या?"

"मेरी यूनियन से मैं बिछुड़ गया हूं"—मैंने कहा।

"कोई बात नहीं। हमारे साथ चलो"

"कैसे कहूँ"—मुझे पार्टी के साथ अपने झगड़े की बात याद आ गई।

"यह मई दिवस है। अपने लोगों का साथ निभाओ"—वह फिर बोला।

"तुम तो जानते हो मेरे साथ क्या मुसीबत है"—मैंने कहा।

"वह कोई बात नहीं। आज तो सभी मार्च कर रहे हैं"

"मेरा जी नहीं मानता"—मैंने सिर हिलाकर कहा।

"तुम डर गए क्या? आज तो मई दिवस है"—उसने फिर कहा और मेरा हाथ पकड़ कर लाइन में खींच लिया। मैं खड़ा खड़ा उससे बातें करने लगा। इतने में कोई चिल्लाया—"लाइन से बाहर निकलो"

मैंने मुड़कर देखा। पैरी नाम का एक श्वेतांग कम्युनिस्ट मुझे घूर रहा था। मैंने कहा—

"आज मई दिवस है और मैं मार्च करना चाहता हूँ"

"निकल जाओ"—वह फिर चिल्लाया

"मुझे लाइन में बुलाया गया है"—मैंने कहा। मैंने उस नीग्रो कम्युनिस्ट की ओर देखा जिसने मुझे बुलाया था। मैं खुले आम मार पीट नहीं चाहता था। मित्र को देखा तो उसने आखें फेर लीं। वह डरा हुआ था। मेरी समझ में नहीं आया कि क्या करूं। मैंने उससे कहा—

"तुम्हीं ने तो मुझे बुलाया था"—उसने उत्तर नहीं दिया। मैंने उसकी बाँह पकड़ कर कहा—"कह क्यों नहीं देते कि तुमने मुझे बुलाया था"

"मैं आखिरी बार कहता हूं कि लाइन से निकल जाओ"—पैरी चिल्लाया।

मैं नहीं हिला। मैं चाहता था कि हट जाऊँ किन्तु मेरे भीतर इतने आवेश इधर उधर दौड़ रहे थे कि मैं पत्थर हो गया। एक और श्वतांग कम्युनिस्ट पैरी की सहायता के लिये आ पहुंचा। पैरी ने मेरी कालर पकड़ क़र खींचना शुरू कर दिया। मैंने पाँव अड़ा दिए तब दोनों ने मुझे दबोच लिया। मैं छूटने के लिए हाथ पाँव मारता हुआ बोला—"मुझे छोड़ दो"

किन्तु कुछ हाथों ने मुझे धरती पर से उठा लिया था। दूसरे ही क्षण मुझे फेंक दिया गया। एक दीवार पकड़ कर मैंने सिर के बल गिरने से अपने आपको बचाया। धीरे-धीरे उठकर मैं खड़ा हो गया। पैरी और उसका साथी मुझे घूर रहे थे। श्वेतांग और काले कम्युनिस्टों की लाईनें शीतल आँखों से मुझे निहार रही थीं, जैसे मैं उनका कोई नहीं। मेरे हाथों में दर्द था, खून भी बह रहा था, किन्तु अचानक मुझे विश्वास नहीं हो सका कि मेरे साथ कल के साथियों ने ऐसा व्यवहार किया है। दो श्वेतांग कम्युनिस्टों ने सरे बाजार मुझे मारा था और काले कम्युनिस्ट खड़े देखते रहे थे मैं जड़ होकर रह गया। मेरे भीतर सूना सूना होने लगा। किन्तु मुझे क्रोध नहीं आया। मेरा बचपन बीत गया था।

सहसा कम्युनिस्ट पार्टी का दस्ता मार्च करने लगा। विश्व क्रान्ति के प्रतीक, हँसिया हथौड़े के चिन्होंवाले लाल झण्डे मई दिवस की हवा में

लहराने लगे। अनेक कण्ठों से गान उमड़ पड़ा। अगणित पदचापों ने धरती को हिला दिया। मेरे पास से नर नारियों की कतार पर कतार गुजरने लगी। सबके मुखपर आत्मविश्वास था। मैं कुछ दूर तक जलूस के पीछे चला, फिर पार्क में जाकर एक बैञ्च पर बैठ गया। मैं कुछ सोच नहीं रहा था। सोचने की तो शक्ति ही गवां बैठा था। मेरे मस्तिष्क पर एक स्पष्ट छाप पड़ चुकी थी। मैं बड़बड़ाने लगा—"ये अन्धे हैं। इनके शत्रुओं ने इन पर जुल्म ढा-ढा कर इन्हें अन्धा बना दिया है"—मैंने एक सिगरेट सुलगाई। धूप में चमकती हवा में एक गान भरता जा रहा था—"भूख के बन्दियो अब उठ बैठो"

मुझे अपनी लिखी कहानियां याद आई। उन कहानियों में मैंने कम्युनिस्ट पार्टी को प्रथम और गौरवमय स्थान दिया था। मुझे खुशी हुई कि वे कहानियां मैं लिख चुका था, कि वे छप चुकी थीं। क्योंकि मेरा दिल कहने लगा कि वैसी कहानियां मैं फिर कभी नहीं लिख सकूँगा, कि जीवन की वैसी गहन अनुभूति फिर मुझे कभी नसीब नहीं होगी, कि उतनी आशा से मैं फिर कभी नहीं फड़क पाऊँगा, कि उतना अटूट विश्वास मेरे मानस में फिर कभी नहीं जुट पाएगा। जलूस अब भी जा रहा था। झण्डे अब भी लहरा रहे थे। आशा के स्वर अब भी निकल रहे थे। किन्तु मेरे लिए..............

मैं घर की ओर चल पड़ा। मन कह रहा था कि चराचर विश्व में जिस तत्व के विषय में हम कुछ नहीं जानते वह है मनुष्य का हृदय, कि जीवन में जिसकी साधना हम कभी नहीं करते वह है एक मानवीय जीवन का आदर्श। मैंने सोचा कि शायद मेरे जले हुए दिल से एक चिंगारी निकलकर इस अन्धेरे को चमका दे। कोशिश करके देखूँगा, मैंने कहा। इसलिए नहीं कि मैं चाहता हूँ, बल्कि इसलिए कि वैसा किए बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। मैं अपनी वाणी इस शून्य में बहाऊँगा और प्रति-ध्वनि की आशा में बैठा रहूंगा। यदि किसी दिन एक प्रतिध्वनि सुन पड़ी तो मेरी वाणी और ऊँची उठेगी। कहूँगा, आगे बढ़ो, संघर्ष करो। जीवन की जो भूख हम सबके भीतर अंगडाई लेती है, उसके मायने समझो। मानवीयता अनिर्वचनीय है। उसकी ज्योति अपने हृदय में कभी मत बुझने देना।

द्वितीय भाग

उन पुजारियों की आपबीती जो पार्टी के सदस्य न होकर भी पार्टी की बात मानते थे

आँद्रे जीद

जीवनी — पेरिस नगर में नवम्बर १८६९ में आँद्रे जीद का जन्म हुआ था। वहीं इनकी शिक्षा–दीक्षा समाप्त हुई। इनके पास जीवन–यापन के पर्याप्त साधन थे और इनको कभी रोटी की समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। शायद इसी कारण ये अपनी तरह के लेखक बन सके। इन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनका हमारे युग पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। १९४७ में इनको साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार भी मिला था। अभी प्राय: एक वर्ष पूर्व इनकी मृत्यु हो गई।

यद्यपि ये कभी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं बने, किन्तु एक समय इन्होंने दृढ़ विश्वास किया था कि कम्युनिज्म के मार्ग से ही मानव समाज को मुक्ति मिल सकेगी। सोवियत् लेखक संघ का निमन्त्रण पाकर ये जून १९३६ में सोवियत् रूस गए थे। किन्तु बुरी तरह निराश होकर लौटे। उसके उपरान्त ये अपनी व्यक्तिवादी उदार फिलासफीकी की ओर लौट चले।

जीद महाशय जब जीवित थे, तभी इनकी अनुमति पाकर कुमारी एनिड स्टार्की ने निम्नोक्त निबंध का संकलन इनकी दो पुस्तकों से किया था, जो कि इन्होंने रूस से लौटकर लिखी थीं। कुमारी एनिड स्टार्की एक आयरिश महिला हैं, जिनका फ्रैञ्च साहित्य से विशेष परिचय है।

होमरके[१] एक आख्यान में देवी देमेतर अपनी खोई हुई पुत्री को खोजती हुई राजा सिल्युस के दरबार में पहुंची। वह एक धायका वेश धारण किए थी, इसलिए किसी ने उसको नहीं पहिचाना। उसको एक नवजात शिशु देमोफून की देखरेख के लिए रख लिया गया। रात के समय जब सब सो जाते थे, तो द्वार बन्द करके देमेतर देमोफून को उसके नरम, सुखद पालने में से उठाकर नंगे बदन ही धधकते कोयलों पर लिटा देती थी। ऊपर से उसका यह कार्य अत्यन्त नृशंस था। किन्तु अन्तर में देमोफून के लिए गहन प्यार की प्रेरणा पाकर ही, उसे देवता बना डालने के उद्देश्य से, वह ऐसा काम करती थी। कोयलों पर लेटे शिशु को वह उसके ऊपर झुककर दुलारती रहती थी, मानो अनागत मानव जाति का वह प्रतीक हो। देमोफून उस अग्निपरीक्षा में पूरा उतरा और आशा से अधिक ओजस्वी बन गया। किन्तु देमेतर अपना काम पूरा नहीं कर पाई। एक दिन शिशु की उद्विग्न मां, मेतानीरा, रात को उसके कमरे में घुस आई और देवी को एक ओर धकेलकर वे कोयले उसने बिखेर दिए। उन कोयलों के साथ ही वे सारे अतिमानवीय गुण भी बिखरकर लुप्त हो गए। शिशु को बचाने के लिए मां ने देवता का बलिदान कर डाला था।

कुछ वर्ष पूर्व मैंने अपने लेखों में सोवियत् यूनियन के[२] लिए अपनी श्रद्धा एवं भक्ति का निवेदन किया था। मेरा खयाल था कि वहां एक ऐसा अपूर्व सामाजिक प्रयोग किया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप मानव-समाज की बड़ी उन्नति होगी। आशा के अतिरेक से उस दिन मेरा मानस नाच उठा था और मुझे विश्वास हो गया था कि समस्त संसार में वह आशा की लहर फैलकर रहेगी। मैं अपने आपको सोवियत् प्रयोग के युग में पाकर सौभाग्यशाली मानता था। समाज के इस नवजन्म का साक्षात्कार करने के लिए मैं अपना समस्त जीवन बलिदान करने के लिए कटिबद्ध हो गया था। मेरे हृदय पर, भावी संस्कृति के नाम पर, सोवियत् यूनियन ने पूर्ण एवं दृढ़ अधिकार जमा लिया था।

---

१. प्राचीन ग्रीस के महान काव्यकार। २. रूस का सरकारी नाम।

रूस में पहुँचने के चार दिन पश्चात् गोर्की की[१] अन्येष्टि के दिन मैंने मास्को के लाल चौक में ललकार कर कहा था कि मानव सभ्यता का भविष्य निश्चित रूप से सोवियत् यूनियन के भविष्य से जुड़ा हैं। मैंने दावा किया था—"बहुत दिन तक सभ्यता-संस्कृति सम्पन्न वर्ग की बपौती रही है, क्योंकि उसके विकास के लिए अवकाश और साधन चाहिए। समाज के कितने ही अन्य वर्गों को इसलिए कठोर परिश्रम करना पड़ता था, कि कुछ लोग जीवन का उपभोग कर सकें। संस्कृति, साहित्य और कला का उद्यान एक व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान सुरक्षित था और वे चन्द बुद्धिशाली लोग ही उसमें प्रवेश पा सकते थे, जिनको कि बचपन से कभी भी दारिद्र्य का मुंह न देखना पड़ा हो। यह सत्य है कि योग्यता सदा धन के साथ नहीं मिलती। फ्रैञ्च साहित्य में मोलीयर, दिदरो और रूशो इत्यादि साधारण जनता के लोग थे। किन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि इन लेखकों को पढ़ने के लिए अधिकतर सम्पन्न वर्गवाले ही अवकाश पाते हैं। जब रूस में अक्तूबर क्रान्ति का ज्वार आया और रूस की जनता जाग उठी, तो हम प्रतीची[२] के लोग कहते थे और विश्वास करते थे कि उस ज्वार में कला एवं साहित्य डूब जाएंगे। हमारे मन में प्रश्न उठता था—'क्या साहित्य किसी वर्ग विशेष की बपौती न रह जाने पर खतरा पैदा नहीं करेगा?' आज इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए देश-देश के साहित्यिक एकत्र होकर एक गुरुतर उत्तरदायित्व का भार वहन करने निकले हैं। हम कहते हैं कि सचमुच आज संस्कृति खतरे में है। किन्तु वह खतरा क्रान्ति की मुक्ति-कामी शक्तियों से नहीं, बल्कि इन शक्तियों को कुचलनेवाले दलों की ओर आता है। संस्कृति की सबसे भारी विभीषिका है महायुद्ध जिसकी ओर आज राष्ट्रवाद की शक्तियां, घृणा और स्पर्द्धा का वातावरण खड़ा करके हमें खींचे लिए जा रही हैं। आज अन्तर्जातीय और क्रान्तिकारी शक्तियों का यह उत्तरदादित्व है कि वे संस्कृति को इस महान खतरे से बचाकर और भी उज्ज्वल बनाएं। आज संस्कृति का

१. रूस के एक महान् लेखक।
२. यूरोप के पाश्चात्य देशों वाले साधारणतया रूस को प्राची में मानते हैं।

भविष्य सोवियत् यूनियन के भविष्य से सम्बद्ध है और इसीलिए हम संस्कृति की रक्षा अवश्य कर पाएंगे"

यह वक्तृता मैंने अपने रूस-भ्रमण के प्रारम्भिक दिनों में दी थी, जब कि मुझे विश्वास था कि रूसवालों के साथ संस्कृति सम्बन्धी प्रश्नों पर गम्भीर विचार-विनिमय किया जा सकता है। मैं आज भी वह विश्वास लौटाना चाहता हूं। किन्तु मेरा कर्त्तव्य है कि अपनी भूल तुरन्त स्वीकार कर लूँ, क्योंकि मुझपर उन लोगों का दायित्व है जिन्होंने मेरी बातें सुनकर रूस के बारे में अपना मत बनाया है। व्यक्तिगत स्वाभिमान को मेरा कंठ नहीं रोंधना चाहिए, क्योंकि कुछ बातें मुझसे और मेरे स्वाभिमान से अधिक महत्व रखतीं हैं। सोवियत् यूनियन से भी बढ़कर महत्व है, उन बातों का क्योंकि उनके ऊपर मानवजाति और मानव सभ्यता का भविष्य निर्भर करता है।

जब तक रूस में मेरा भ्रमण रूसियों द्वारा नियोजित रहा मुझे सब कुछ बहुत ही अच्छा लगा। मैंने मजदूरों को, उनके कारखानों, विश्राम-गृहों तथा घरों में देखा और हर्ष से मेरा हृदय नाच उठा। दो व्यक्तियों के बीच मित्रता होते सोवियत् यूनियन में कुछ भी देर नहीं लगती और वह मित्रता गहरी होती है। आँखें चार होते ही दो व्यक्तियों के बीच सहानुभूति और स्नेह के बन्धन तुरन्त बन जाते हैं। सोवियत् यूनियन में एक उत्कट भ्रातृभाव उमड़कर वहां जानेवाले को हिला देता है। गर्व से मेरा सीना फूल गया और प्रेम के अतिरेक से मेरी आँखें डबडबा आईं। जिन बच्चों को मैंने कैम्पों में देखा, वे हृष्ट-पुष्ट थे। उनकी देखरेख का समुचित प्रबन्ध था और प्रसन्नता के कारण उनकी आँखों में आशा और विश्वास की चमक मिलती थी। वैसी ही उज्ज्वल प्रसन्नता का भाव मैंने विश्राम-गृहों में मजदूरों के मुखों पर देखा। दिन का काम समाप्त करके मजदूर सांझ के समय इन क्रीड़ा गृहों में एकत्रित होते थे। सोवियत् यूनियन के प्रत्येक नगर में एक क्रीड़ागृह और किंडरगार्टन[१] है। अन्य भ्रमणकारियों की नाई मैंने भी नमूने के कारखाने,

१. बच्चों का नये तरीके का स्कूल जिसमें खेल कूद ही शिक्षा का माध्यम है।

क्लब, क्रीडाक्षेत्र इत्यादि देखकर खूब वाह–वाह की। रूस के लिए श्रद्धा से मेरा मानस भर गया। और मैं चाहने लगा कि वैसी श्रद्धा औरों में भी जगाऊँ। इसलिए आज मेरा कर्त्तव्य है कि मैं वे बातें बताऊँ जिनके कारण मेरी श्रद्धा मिट गई। श्रद्धा और भक्ति का भाव इतनी आसानी से मिटाया नहीं जा सकता और कोई गहरी चोट खाकर ही हम स्वप्नलोक से बाहर निकला करते हैं।

जब सरकारी सवारी को छोड़कर मैं अकेला ही रूस की जनता से सीधा सम्पर्क प्राप्त करने के लिये निकल पड़ा तो मेरी आँखें खुलीं। मैंने काफी मार्क्सवादी साहित्य पढ़ा था, इसलिए रूस मुझे बहुत अजीब नहीं लगा। किन्तु मैंने अनेक भ्रमण–कथाएं भी पढ़ी थीं, जिनमें एक स्वप्नलोक का खाका खींचा गया था। मेरी प्रथम भूल यह थी कि मैं रूस की तारीफ में लिखी बातों को सच मान बैठा। रूस के विरुद्ध सच्ची–सच्ची बातें इतनी घृणा के साथ न कही गई होती तो शायद मैं वह भूल न करता। रूस के भक्त तो रूस में कोई बुराई देख ही नहीं सकते। किन्तु रूस के विषय में सत्य का उद्घाटन भी घृणा के साथ किया जाता है। इस प्रकार सत्य घृणा का सहारा लेता है और मिथ्या प्रेम की आड़ में आगे बढ़ता है। मेरी कुछ ऐसी आदत है कि जिनको मैं प्यार करता हूं उनके साथ कुछ विशेष सख्ती से पेश आता हूं। मेरी राय है कि प्यार के निवेदन का सर्वोत्तम तरीका तारीफ नहीं हो सकता। इसलिए मैं सोचता हूँ कि सोवियत् यूनियन के विषय में खरी खरी बातें कह दूं तो सोवियत् यूनियन की अधिक सेवा कर सकूँगा। व्यक्तिगत तौर से मुझे सोवियत् यूनियन के विरुद्ध कोई शिकायत नहीं है, क्योंकि मुझे तो वहाँ हर प्रकार का आराम ही मिला। मेरी नुक्ताचीनी से चिढ़ कर कुछ लोगों ने कहना शुरू कर दिया है कि मैंने व्यक्तिगत तौर पर वहाँ कुछ तकलीफ पाई होगी अथवा निराशा झेली होगी, इसलिए मैं सोवियत् यूनियन से नाराज हो गया हूं। इन सब बातों में कोई सार नहीं, क्योंकि जितने सुख चैन से मैंने रूस का भ्रमण किया, उतना कभी मुझे जीवन में और कहीं नहीं मिला हैं। मुझे सुन्दर मोटर कार, रेल का प्राइवेट डिब्बा, होटलों में सबसे अच्छा कमरा और खाना इत्यादि मिले और मेरी हर जगह खूब आवभगत हुई। मुझे आराम पहुंचाने में

कोई कोर–कसर नहीं रक्खी गई। किन्तु यही सब तो मेरी आँखों में खटका। मैं समानता देखना चाहता था। और मुझे मिले सम्मान में विशेष अधिकारों की छाप थी। जब मैं रूसी अधिकारियों के चंगुल से निकल कर सीधा मजदूरों के पास पहुंचा तो मैंने देखा कि अधिकतर वे लोग घोर दरिद्रता का जीवन बिता रहे हैं। मुझे प्रत्येक रात को जो बादशाही डिनर[१] दिया जाता था उस पर कितना खर्च होता होगा यह मैं ठीक से नहीं जानता, क्योंकि मुझे किसी दिन बिल चुकाने नहीं पड़े। मेरे एक मित्र जो रूस में प्रचलित दरभाव समझते हैं मुझे बतलाते हैं कि डिनर में बैठनेवालों में से प्रत्येक पर दो तीन सौ रूबल तो अवश्य खर्च होता होगा। और जो मजदूर मैंने वहाँ देखे उनको तो केवल पाँच रूबल रोज मिलते थे। वे केवल काली रोटी और सूखी मछली खा कर गुजर करते थे। हम रूस में सरकार के अतिथि नहीं थे। हमें तो सोवियत लेखक संघ ने निमन्त्रित किया था। संघ के पास बहुत रुपया पैसा है। आज भी सोचता हूं कि उन्होंने कितनो रुपया हम पर बहा दिया। हम छः जने थे। फिर हमारे साथ गाइड तथा मेजबान मिलाकर खासी भीड़ हो जाती थी। सबका खर्च संघ को उठाना पड़ रहा था। उनको विश्वास था कि इतने लम्बे चौड़े खर्चे का बदला मैं उन्हें अवश्य दूंगा। शायद मेरी खरी बातें सुनकर प्रावदा[२] को इसीलिये अधिक क्रोध आया है कि मुझपर वह सब खर्च एकदम बरबाद हो गया। यह मैं मानता हूं कि उनके लिए मेरा स्वागत करके अपने देश के सर्वोत्तम पदार्थ मुझे देना उचित था। किन्तु उत्तम और साधारण के बीच एक बहुत बड़ा तारतम्य देख कर मैं चोंक उठा। एक ओर तो इतना भोग–विलास और दूसरी ओर इतनी भयानक दरिद्रता मुझसे देखी नहीं गई। रूस ने जो कुछ किया है, उसके प्रति मुझ में श्रद्धा ही है। किन्तु मैं रूस से कुछ आशाएं कर बैठा था इसलिए वहाँ पर भी अमीरी और गरीबी का वही पुराना नक्शा देखकर मुझे चोट लगी।

१. रात का खाना। पाश्चात्य में यह एक सामाजिक अवसर होता है।

२. रूस की कम्युनिस्ट पार्टी का अखबार।

मैं कैसे बताऊं कि सोवियत् यूनियन का मेरे जीवन में क्या महत्व था। मैंने उसको अपनी पितृभूमि ही नहीं माना था, बल्कि वहां से प्रेरणा पाई थी कि जिस स्वप्नलोक की प्रतीक्षा करने का मुझ में साहस नहीं था उसके धरापर अवतरण की बाट ज़ोहने लगूं। सोवियत् यूनियन मेरी समस्त आकांक्षा और अभीप्सा का केन्द्र बिन्दु बन चुकी था। अभी सोवियत् यूनियन निर्माण के शैशव काल में है, यह हमें अवश्य याद रखना चाहिए। वे भविष्य के द्वार पर खड़े हैं। वहाँ बुराइयाँ और अच्छाइयाँ दोनों ही हैं। उज्ज्वल को देखकर काला देखने पर मन को ठेस तो लगती है। किन्तु उज्ज्वल को देखकर हम काले को देख पाने का साहस छोड़ बैठते हैं। शायद इसीलिए मैंने सोवियत् यूनियन को परखने में कुछ कठोरता से काम लिया हो। हमें क्षोभ उन्हीं पर आता है जिनसे हम कुछ आशा लगा बैठते हैं। मैंने तो मानवता के भविष्य की बाज़ी सोवियत् यूनियन पर लगा दी थी। इसलिए निराशा का धक्का सहने के लिए मैं किंचित्मात्र भी तैयार नहीं था।

मुझे रूस में शिक्षा और संस्कृति की ओर असाधारण प्रगति बहुत अच्छी लगी। किन्तु शोक की बात है कि शिक्षा द्वारा लोगों को यही समझाया जाता है कि सोवियत् यूनियन में कोई बुराई नहीं है और रूस संसार का सर्वश्रेष्ठ देश है। संस्कृति का वहाँ एकमात्र अर्थ है, सोवियत् यूनियन के गुण गाना। उस संस्कृति में विवेक का लेशमात्र भी नहीं और निष्पक्ष विवेचना को स्थान नहीं दिया जाता। मैं यह जानता हूं कि वहाँ आत्म-विवेचना का ढोल पीटा जाता है। पहले-पहले तो मुझे विश्वास हुआ था कि इमानदारी के साथ की गई आत्म-विवेचना बहुत बड़ा काम कर सकती है। किन्तु शीघ्र ही मुझे पता लगा कि आत्म-विवेचना का एक ही अर्थ है—यह देख-रेख करना कि कोई काम पार्टी की नीति के अनुगत हो रहा है या नहीं। पार्टी लाइन पर कभी वाद-विवाद नहीं होता। पार्टी लाइन को स्वत: सिद्ध श्रुतिवाक्य मानकर ही और सब बातों की विवेचना होती है। इससे बढ़कर भयावह मानसिक स्थिति और नहीं हो सकती और संस्कृति के लिए तो यह धारण अत्यन्त घातक है। रूस के नागरिकों को बाहर के संसार के विषय में कुछ भी जानकारी रखने

का अवसर नहीं मिलता। सबसे बुरी बात है रूस के नागरिकों का यह विश्वास कि बाहर जो कुछ भी है, वह गन्दा और गर्हित है। इसके विपरीत बाहरवालों की रूस के बारे में राय की वे बहुत अधिक परवाह करते हैं। वे यह जानने को उत्सुक रहते हैं कि बाहर के लोग ठीक प्रकार से रूस के गुण गाते हैं या नहीं। उन्हें डर लगा रहता है कि बाहर के लोगों में कहीं रूस के बारे में कोई अपयश न फैल जाए। बाहर वालों से वे कुछ जानना अथवा सीखना नहीं चाहते। बस बाहरवालों से अपनी तारीफ सुनना ही उनको अच्छा लगता है।

मैं एक नमूने[१] का सामूहिक खेत देखने गया। वह रूस के बहुत सुन्दर और सम्पन्न सामूहिक खेतों में से एक है। मैंने कई घरों के भीतर जाकर देखा। सब एक से बने थे और सबके भीतर एकसी चीज–बस्त थी। कहीं भी मैंने व्यक्ति वैशिष्य का चिन्ह नहीं देखा। जैसे रूस में सारे आदमी एक ही ठप्पे में बनकर निकले हों। मेरा मन बैठने लगा। सब मकानों में एक ही प्रकार का भोंडा फर्नीचर था, और वही स्टालिन की चिरपुरातन, चिरनूतन तसवीर। बस और कुछ भी नहीं था। सजावट अथवा व्यक्तिगत रुचि का नाम निशान भी नहीं देखा। एक घर में रहनेवाला दूसरे घर में जाकर यह भुला सकता था कि उसने घर बदला है। हाँ, समस्त आमोद–प्रमोद सब लोग सामूहिक रूप से उपभोग करते हैं और वे घर तो केवल रैनबसेरे के लिए बने हैं। उनके सारे जीवन का केन्द्रबिन्दु उनके घर नहीं, बल्कि क्लब हैं। मैं यह मानता हूँ कि लोगों के व्यक्तित्व का बलिदान करके उनके लिए सामूहिक सुख का प्रबन्ध किया जा सकता है। किन्तु इस पामाली को उन्नति क्यों कर मान लूं? व्यक्तित्व और विशेषत्व का उदय ही उन्नति का, सभ्यता–संस्कृति का सच्चा प्रतीक है। रूस में धारा ठीक उल्टी बह रही है। फिर भला मैं रूस पर अपनी श्रद्धा कैसे बनाए, रक्खूं? रूस में आज यह सर्वस्वीकृत मान्यता है कि किसी भी प्रश्न का सही उत्तर केवल एक ही हो सकता है

---

१. बाहर वालों को दिखाने के लिये रूस में कुछ माडल बने रहते है।

और प्रतिदिन 'प्रावदा' का प्रातः कालीन संस्करण लोगों का बता देता है कि उन्हें क्या मानना चाहिए, क्या विश्वास और क्या विचार उचित है। मैं जब रूस में था तो यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि वहाँ के समाचार पत्रों में स्पेन के गृह-युद्ध का बिल्कुल जिक्र ही नहीं है। बाहर हमारे देशों में तो उस गृहयुद्ध को लेकर सर्वत्र एक गरमागरम विवाद चल रहा था। मैंने अपने अनुवादक से अपने मन की बात कही। पहले तो वह कुछ घबराया। फिर मुझे मेरे सुझाव के लिए धन्यवाद देकर बोला कि वह मेरा प्रश्न अधिकारियों तक पहुँचा देगा। उस सांझ को डिनर के समय काफी कुछ वक्तृताएं इत्यादि हुई। सबके नामपर बधाई के प्याले पीए गए। तब मेरे मित्र जेफला ने उठकर प्रस्ताव किया कि स्पेन में कम्युनिस्टों की विजय कामना करते हुए भी एक प्याला पीया जाए। रूस के साथी कुछ घबरा से गए और शरमाकर उन्होंने प्रस्ताव किया कि प्याला स्टालिन के नाम पर पीया जाए को अच्छा रहेगा। जब मेरी बारी आई तो मैंने जर्मनी के राजनैतिक बन्दियों के लिए प्याला पीने का प्रस्ताव किया। इस बार सबने ताली बजाई और हर्ष के साथ वह प्याला पिया। किन्तु साथ ही स्टालिन के नाम पर एक और प्याले का प्रस्ताव भी रक्खा गया। मेरी समझ में बात आने लगी। पार्टी ने जर्मनी के राजनैतिक बन्दियों के विषय में अपनी नीति स्पष्ट कर दी थी। किन्तु अभी तक प्रावदा में स्पेनिश गृहयुद्ध के विषय में खुलासा कुछ भी नहीं कहा गया था और वहाँ पर प्रस्तुत व्यक्तियों में से कोई भी नेतृत्व का खतरा उठाने के लिए तैयार नहीं था। कोई कुछ कह देता और प्रावदा का मत कुछ और निकालता, तो बेचारे को लेने में देने पड़ जाते। कई दिन पीछे जब मैं सैबास्टोपोल[१] पहुँचा तो प्रावदा ने स्पेन के साथ गाढ सहानुभूति दिखलाई और वह संकेत पाते ही सारे देश में सहानुभूति की लहर दौड़ गई। रूस में लोगों को प्रावदा की प्रतिध्वनि करने की आदत सी पड़ गई है। उसे मिथ्या-चार कहना ग़लत होगा। किन्तु रूस में यह बात ऐसी सत्य है कि एक आदमी से बात करने के बाद आपने जैसे सारे रूसियों से बातें कर लीं।

---

१. कृष्ण सागर पर स्थित रूस की प्रसिद्ध बन्दरगाह।

पूंजीवाद के पतन से रूस के मजदूरों को स्वाधीनता नहीं मिल सकी है—यह बात बाहर के मजदूरों को भली भाँति समझ लेनी चाहिए। यह मानता हूँ कि रूस में मजदूरों का शोषण करने वाले अब ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियों के हिस्सेदार नहीं। किन्तु रूस के मजदूरों का शोषण अवश्य हो रहा है और वह भी एक ऐसे सूक्ष्म, जटिल और कुशल तरीके से कि मजदूर बेचारा यह भी नहीं जान पाता कि दोष किसे दे। रूस के अधिकांश मजदूर घोर गरीबी का जीवन बिताते हैं। उनको नाममात्र की मजदूरी मिलती है, जिससे कि उनका पेट काटकर वहाँ के चाटुकार, मोटे कर्मचारियों के विलास के साधन जुटाए जा सकें। वहाँ के शक्तिशाली लोग अपने से नीचे वालों के प्रति जो उपेक्षा का भाव दिखाते हैं वह मुझसे नहीं सहा गया। और नीचे वाले लोग जिस प्रकार घिघियाते गिड़गिड़ाते हैं, वह भी कोई सहृदय आदमी नहीं सह सकेगा। यदि हम यह बात मान लें कि वहाँ अब कोई वर्ग-विभेद नहीं रहा गया है, तो उन करोड़ों भुखमरों को क्या कहेंगे जो रूस में सर्वत्र फैले पड़े हैं। रूस में एक भी भुखमरा देखने का विचार वहाँ जाने के पूर्व मेरे मन में नहीं आया था। स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि वहाँ इतने दीन-हीन लोग मिलेंगे। और वहाँ गरीब के प्रति दया, सहानुभूति और उदारता दिखलाना अपराध है। रूस में गरीब से सब नफरत करते हैं। वहाँ कुछ लोगों ने अपनी ऐश-इशरत के लिए अनेकों लोगों को नंगा भूखा बनाकर छोड़ दिया है। मैं वेतन की असमानता को बुरा नहीं मानता। ऐसी असमानता तो आवश्यक और किसी हद तक अनिवार्य भी है। किन्तु बड़े-छोटे के सामाजिक भेदभाव को मिटाने का कोई रास्ता हमें खोजना ही चाहिए। रूस में उस रास्ते की खोज कोई नहीं करता। वहाँ तो शासकों की एक श्रेणी बन गई है, जो खूब उपभोग करने के आदी हो चले हैं और जो वहाँ की असमानता को मिटाना नहीं चाहते। मैं ऐसे लोगों को कभी भी पसन्द नहीं कर सकता। रूस में पूंजीवादी व्यवस्था के सारे लक्षण विद्यमान हैं। क्रान्ति से वहाँ की पूंजीवादी मनोवृत्तियां मरी नहीं, कुछ दब चाहे गई हैं। मनुष्य को बाहर से कानून इत्यादि बनाकर कभी भी नहीं सुधारा जा सकता। उसके

लिए हृदय–परिवर्तन की आवश्यकता है। किन्तु रूस में तो सुधार की प्रवृत्ति भी मैंने नहीं देखी। वहाँ तो समस्त पूंजीवादी मनोवृत्तियों का पोषण होता है, जिसके फलस्वरूप पुराना वर्गमय समाज वहाँ फिर बनता जा रहा है। वहाँ एक ऐसे वर्ग का उदय हो रहा है जिसको भोग के सिवाय कुछ नहीं करना पड़ता। और इस वर्ग में स्थान पाने के लिए योग्यता अथवा बुद्धि की भी आवश्यकता नहीं होती। केवल चापलूसी और खैरख्वाही करनेवाले ही उसमें शामिल हो सकते हैं। कुछ आगे चलकर यही वर्ग धनिक वर्ग बन जायेगा। शायद मुझे झूठ–मूठ भय लग रहा है। मेरी हार्दिक कामना है कि मेरा भय झूठा निकले।

सोट्ची[१] में मैंने मजदूरों के लिए बनाए गए बहुत सारे हस्पताल और विश्राम–गृह देखे। ये स्थान सुन्दर हैं। यहां सुन्दर उद्यान और स्नान–क्षेत्र बने हैं। यह तारीफ की बात है कि ये विलास के साधन मजदूरों के लिए जुटाए जाएं। किन्तु जिनको ये विलास प्राप्य हैं वे तो उसी वर्ग के लोग हैं जो सोवियत् समाज में शासक बने बैठे हैं। यहां पर उन्हीं लोगों को आने की इजाजत है जो कि पार्टी के सामने सिर झुकाते रहते है। और इन विश्राम–गृहों को बनाने वाले मजदूरों के रहने के लिए बने हुए घरोंदे, जो पास में ही दीख पड़ते हैं, मनुष्य के रहने योग्य स्थान नहीं कहे जा सकते।

सिनोप नगर के जिस होटल में मैं ठहरा था वह तो और भी सुन्दर और समृद्ध है। उसकी तुलना हमारे देशों के बड़े से बड़े होटलों से की जा सकती है। प्रत्येक कमरे में स्नानागार है और अलग बरामदा भी। कमरों में साज–सामान भी अनुपम है और खाने–पीने का प्रबन्ध बहुत अच्छा है। होटल के पास एक फार्म है जिसकी उपज से होटल का काम चलता है। फार्म पर सुन्दर घोड़े, स्वस्थ गायें और सब प्रकार के सूअर तथा मुर्गे इत्यादि मिलते हैं। किन्तु फार्म के उस पार जाते ही आप लाइन पर लाइन छोटे–छोटे घर देखेंगे, जिनमें अनेकों साधारण लोग रहते हैं। उनको घर कहना अन्याय

१. कृष्ण सागर पर बना एक विहार स्थान।

होगा। वे तो छः फीट वर्गाकार काल-कोठरियां हैं जिनमें एक साथ चार-चार व्यक्ति रहते हैं। और उनका किराया है दो रूबल प्रति व्यक्ति, प्रति मास !

कम्युनिज्म के सिद्धान्त के अनुरूप रूस में मजदूरों की तानाशाही का उदय तो नहीं हो सका है। किन्तु नौकरशाही की तानाशाही अवश्य वहां मिलती है। यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा भ्रान्ति ही फैलेगी। सोवियत् रूस में यह होने की किसी को आशा नहीं थी। वहां मजदूरों को इतनी भी स्वाधीनता नहीं है कि अपने हितों की रक्षा करने के लिए अपने प्रतिनिधि चुन कर सरकार में भेज दें। वहां वोट देने का अधिकार एक मिथ्या पाखण्ड मात्र है। मजदूर लोग उन्हीं को चुन सकते हैं, जिनको कि पार्टी ने पहले ही चुन लिया हो। मजदूरों को धोखा दिया जाता है, ठगा जाता है और उनके हाथ-पांव बांध कर उनको बेकार बना डाला गया है। यह नाटक स्टालिन ने विशेष कौशल से खेला है। सारे संसार के कम्युनिस्ट स्टालिन के गुण गाते रहते हैं और मानते हैं कि रूस में मजदूर का राज आ गया है। यही नहीं, जो रूस के गुण गाने में शामिल नहीं होता, उसको वे गद्दार और जनशत्रु इत्यादि अनेक गालियां देते हैं। किन्तु रूस में एक नयी धोखाधड़ी का बोलबाला है। यदि रूस में कोई उन्नति करना चाहता है, तो उसे पुलिस का दलाल बनना पड़ता है। पुलिस उससे भेदिये का काम कराती है और उसकी रक्षा करती है। एक बार जो उस मार्ग पर चल पड़ता है उसके लिए रुकना कठिन हो जाता है और फिर कोई मित्रता अथवा दयामाया का बन्धन उसके लिए नहीं रह जाता। वह एक के बाद एक पाप करता चला जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज रूस में सब एक दूसरे पर सन्देह करते हैं। किसी के मुख से निकली हुई साधारण बात उसके विनाश का कारण बन सकती है। इसलिए सबको मुँह बन्द रखना पड़ता है। बच्चों को भी खुल कर बातचीत करने का साहस नहीं होता।

मुझे एक नमूने का शहर बोलचेवो दिखाने के लिए ले जाया गया। वहां के समस्त निवासी वे अभियुक्त लोग हैं जिनको चोरी और हत्या

इत्यादि के अपराध में पकड़ा जाता है। यह शहर एक छोटी सी बस्ती के रूप में शुरू हुआ था। रूस के शासकों का विश्वास था कि अपराधी लोग किसी मानसिक रोग अथवा विकार के वशीभूत होकर ही अपराध कर बैठते हैं; यदि उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया जाए और उन्हें साधारण जीवन यापन की सुविधाएँ दी जाएँ, तो वे अवश्य ही काम के नागरिक बन सकते हैं। वह बस्ती बढ़ते-बढ़ते एक विशाल नगर बन गई है, जिसमें कारखाने, पुस्तकालय और क्लब खुल गए हैं। मैंने उस नगर को देखकर उसे सोवियत् यूनियन का एक अत्युत्तम प्रयोग समझा और सराहा। मुझे पीछे चलकर पता लगा कि उस नगर में केवल वहीं अपराधी बस सकते हैं जो पुलिस के दलाल बनकर अपने साथी कैदियों की सजाएँ बढ़वाने का काम करते हों। उन्हें गन्दे कैदखानों से लाकर यहां बसाया जाता है। मैं सोच नहीं सकता कि इससे बढ़कर और नैतिक पतन क्या हो सकता है।

रूस का मजदूर आज अपने कारखाने से और रूस का किसान सामूहिक खेत से जकड़ डाला गया है। यदि किसी मजदूर को यह भ्रम हो जाए कि उसको रूस में अन्यत्र कहीं अच्छा काम अथवा अधिक वेतन मिल सकता है, और वह अपना स्थान बदलना चाहे तो उसको नौकरी से हाथ धोना पड़ता है। किसी और कारखाने में उसको काम मिलने की गुञ्जाइश नहीं। यदि मजदूर की नौकरी छुट जाए तो उसे रहने का मकान भी छोड़ना पड़ता है क्योंकि मकान काम के साथ मिलता है और यद्यपि उसमें रहने के लिए मजदूर का बराबर किराया देना पड़ता है, तो भी वह उस पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं जता सकता। इसके सिवाय नौकरी छोड़ने पर उसे उस रुपए से भी हाथ धोना पड़ता है, जो कि उसके वेतन से काट-काटकर प्रतिमास उसके बुढ़ापे के लिए जमा किया जाता है। उस फण्ड में जो रुपया कारखाने की ओर से जुड़ा होता है, उसके मिलने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत यदि कारखाने के अधिकारी उसका तबादला करना चाहें तो वह इन्कार नहीं कर सकता। न उसको अपनी इच्छा अथवा स्वार्थ के अनुसार एक स्थान पर ठहरने की छूट है, न स्थान बदलने की। यदि वह

पार्टी का सदस्य न हो तो और मजदूर जो पार्टी के सदस्य हैं, उससे कम काम करके और कम योग्य होते हुए भी, उससे अधिक कमाते हैं। किन्तु वह अपनी इच्छानुसार पार्टी का सदस्य भी नहीं बन सकता। यदि उसमें चापलूसी और फरमाबर्दारी के गुण नहीं हैं तो वह पार्टी के किसी काम का नहीं। इसके विपरीत यदि वह पार्टी का सदस्य बन भी जाए तो पार्टी का सदस्य बन भी जाए तो पार्टी छोड़ना उसके लिए कठिन हो जाता है। पार्टी छोड़ते ही उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ता है और नौकरी के साथ जो-जो सुविधाएं मिलती हैं वे सभी छिन जाती हैं। उस पर ऊपर से संदेह और होने लगता है, और किसी दिन भी वह आफत में पड़ सकता है। सब यह प्रश्न पूछने लगते हैं कि पार्टी में रहकर जब केवल जीहुजूरी के कारण ही इतनी सुविधाएं प्राप्त होती हैं तो कोई पार्टी क्यों छोड़ता है? निश्चय ही दाल में काला होगा। जब पार्टी ने सबके लिए सोचने-विचारने का भार अपने सिर पर लिया है और जबकि पार्टी ने सबके लिए एक सुन्दर स्थान का सृजन किया है, तो क्यों कोई अपने लिए स्वयं सोचने-विचारने की विडम्बना उठाए? जरूर कुछ दाल में काला है। रूस में अपने आप सोचने-विचारने का मतलब आफत मोल लेना है। सब उसे क्रान्ति का शत्रु कहकर पुकारने लगते हैं। और यदि पार्टी का सदस्य ऐसी धृष्टता कर बैठे तो तुरन्त उसे पार्टी से निकाल दिया जाता है और साइबेरिया में ही उसका अन्त होने की अधिक सम्भावना है। इस प्रकार रूस में रीढवाले व्यक्त्यिों का अकाल पड़ता जा रहा है। जो भी तनिक साहसी, स्वाधीन एवं रीढवाले व्यक्ति होते हैं वे एक एक करके गुम होते रहते हैं। मुझे उन सहस्रों लोगों की आवाज अपने चारों ओर सुन पड़ रही है, जिनको नतमस्तक न होने के कारण साइबेरिया इत्यादि में सड़ना पड़ रहा है। उनकी आवाजें सुनते-सुनते मैं लम्बी रातों में चौंक पड़ता हूँ। उनकी जबान बन्द है, इसलिए उनकी बात कहने को मेरा जी करता है। यदि मेरी आवाज उन तक पहुँच पाई और उन्होंने मुझे धन्यवाद भर कह दिया तो मैं अपना जीवन सार्थक मानूंगा। उनके बन्धुत्व की तुलना में प्रावदा में गाई हुइ मेरी गुणगाथा का मेरे निकट कानी कौड़ी भी मूल्य नहीं। उनका

पक्ष लेने को आज कोई तैयार नहीं है। जिनपर आज न्याय और स्वतन्त्रता की रक्षा का दायित्व है, वे चुप हैं और जनता का उनसे जैसे कोई सम्बन्ध ही नहीं। मैं जब अपनी आवाज उठाता हूं तो मार्क्स की दुहाई देकर मुझसे बार-बार एक ही बात कही जाती है, कि इतने लोगों का निर्यातन, मजदूरों की भुखमरी, मताधिकार का लोप, इत्यादि तो चन्द तात्कालिक समस्याएं हैं। मुझसे कहा जाता है कि १९१७ की जनक्रान्ति को बनाए रखने के लिए यह मूल्य चुकाना अनिवार्य है। किन्तु इतना मूल्य चुकाने पर उसके बदले में कोई उपलब्धि तो मैं किसी ओर नहीं देख पा रहा। अब समय आ गया है कि इस बीभत्स सत्य की ओर हमारी आँखें खुल जाएं। हम रूस में व्यक्तिगत और विचार की स्वाधीनता का लोप भी स्वीकार कर लेते, यदि हमको यह दिखा दिया जाता कि वहाँ पर लोगों के जीवन स्तर में कुछ प्रगति हुई है। किन्तु स्वाधीनता तो गई-सो गई। रूस में आज पूंजीवादी समाज के घोर कुत्सित गुणों का उदय होता जा रहा। रूस के शासकों की मनोवृत्ति अत्यन्त तुच्छ, संकुचित और प्रतिगामी है। और जिसको वे क्रान्ति-विरोध कहते हैं, वह तो क्रान्ति की वही धारा है जिसने ज़ारशाही का महल ढाया था। ज़ार-शाही को उखाड़ने वालों के मानस में जो भ्रातृभाव और न्यायवृत्ति छल-छलाते थे, वे अब लुप्त हो चुके। आज वह पुराना उत्साह नहीं रहा। आज तो क्रान्ति के खण्डहर मात्र बचे हैं, जिन पर बैठकर आंसू बहाने को जी चाहता है। आज क्रान्ति के नाम पर समानता और न्याय का गला घोंटा जाता है। और जो लोग इस दुराचार के विरुद्ध आवाज उठाते हैं उनकी या तो सुनवाई नहीं होती अथवा उनका सफाया किया जाता है। आज रूस की क्रान्ति के बारे में वाद-विवाद करना निरर्थक है। आज रूस में जीहुजूरी का बोलबाला है। सरकार जो कुछ करे उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करना ही आज प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य बन गया है। सरकार की तनिक सी समालोचना अथवा तनिक सा विरोध करना मौत के मुँह में जाना है और दमन का हथौड़ा तुरन्त आ पड़ता है। रूस में आज जो जितना ही ऊँचा स्थान प्राप्त किए बैठा है, वह उतना ही निकम्मा और चापलूस है। वहां स्वाधीन होने का दावा करते ही

व्यक्ति को पीस डाला जाता है। थोड़े दिन में रूस के "क्रान्तिकारियों" में केवल मुनाफाखोर, जल्लाद और अत्याचार के बेबस शिकार ही बच रहेंगे। आदमी कहलाने लायक शायद ही कोई जीवित रह सके। अपने आपको स्वाधीन कहनेवाला मजदूर तो आज पिसपिस कर मिट चुका है। मेरा विश्वास है कि संसार के किसी भी देश में, यहाँ तक की हिटलर की जर्मनी में भी, आदमी के मन और बुद्धि को इस प्रकार दास नहीं बनाया गया हैं, कहीं भी साधारण व्यक्ति इतना दलित, वंचित और मोहताज नहीं, जितना की सोवियत् रूस में। इस प्रकार विरोधी लोगों के लिए दमन करना खतरे से खाली नहीं। दमन के शिकार हमेशा आँतकवादी होने पर तुल जाते हैं। यदि किसी राज्य में सारे नागरिक एक ही मत के हो जाएं तो शायद सरकार का काम आसान हो जाए। किन्तु वहाँ सभ्यता संस्कृति का दिवाला भी अवश्यम्भावी है। सच्ची बुद्धिमानी इसी में है कि हम अपने विपक्षियों की बातें सुनें और उनको क्रियान्वित होने का अवसर दें, ताकि वे जन-कल्याण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा पाएं और जन-शत्रुता पर कटिबद्ध न हों।

सब आदमी एक जैसे नहीं होते, यह हमको मान लेना चाहिए। इस सत्य को भुलाकर, मनुष्यों के साथ जोर जबर करना और सब व्यक्तियों-को बाहर से काट-छाँटकर एक से बनाने का प्रयत्न करना, घृणास्पद और भयावह बात है। कलाकारों के विषय में तो यह बात और भी अधिक लागू होती है। किसी लेखक का सच्चा महत्त्व है उसकी क्रान्तिकारी चेतना, उसकी विरोध करने की शक्ति। महान लेखक सदा विद्रोही होता है और अपने समाज तथा काल की मान्यताओं के विरुद्ध आवाज उठाता है। इसलिए यह सोचना पड़ता है कि सोवियत् यूनियन में लेखक किस प्रकार जीवित रह सकता है, जब कि सरकार ने उसकी विद्रोही भावना को पूर्णतः कुचल डाला है। उसके लिए अब एक ही रास्ता रह गया है—स्थापित समाज-व्यवस्था का गुण गाता रहे। यही बात सोच-सोचकर मुझे सोवियत् यूनियन के बारे में घोर चिन्ता होने लगती है। रूस में जाने से पूर्व भी मेरे मन में ये प्रश्म उठे थे, किन्तु रूस में तो मुझे उनका समाधान मिला नहीं। सूक्ष्मदर्शी, मौलिक कला

वहाँ कैसे पनप सकती है ? रूस के एक चित्रकार ने मुझ से कहा था कि अब सूक्ष्मता और मौलिकता का देश के लिए कोई महत्व नहीं रह गया, जरूरत भी नहीं रही। वह कहने लगा कि यदि नाटक देखने के बाद मजदूर को उसके दो चार गाने बाहर जाकर गाने की प्रेरणा न मिले तो नाटक किस काम का। इसलिए जो कुछ मजदूर आसानी से समझ सके, उसी की जरूरत है। मैंने विरोध किया। मैं समझाना चाहता था कि कला की महान कृतियाँ पहले-पहले कुछ गिने चुने लोगों की ही समझ में आती हैं और पीछे चलकर ही जनमत उनकी ओर झुकता है। उस चित्रकार ने यह माना कि रूस में यदि एक बार बीथोविन भी असफल रहे तो दूसरी बार उसे कोई अवसर नहीं मिलेगा। बोला—"कलाकार को पार्टी की नीति को सार्थक करना होगा। अन्यथा उसके महानसे-महान प्रयास भी थोथे ठहराए जाएंगे। हम अब एक महान जाति बन चुके हैं। हमारे राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप ही कलाकारों को भी काम करना चाहिए।" मैंने कहा कि इसका मतलब तो जीहुजूरी हुआ, जिसके लिए कोई सच्चा कलाकार कभी तैयार नहीं हो सकता। इसलिए सच्चे कलाकार चुप रहेंगे, क्योंकि दूसरों के इशारों पर काम करना उनके बस का नहीं होता। इस प्रकार संस्कृति का जनाजा निकल जाएगा। वह मेरी बात ही नहीं समझ सका। वह कहने लगा कि मैं बूर्जुआ की तरह बातें करता हूं। उसका विश्वास था कि जिस मार्क्सवाद ने अन्यान्य क्षेत्रों में इतनी सफलता प्राप्त की है, वह भला संस्कृति के क्षेत्र में भी महान चमत्कार दिखाएगा। उसके विचार में अभी तक रूस में महान कला का उदय होने में इसलिए देर लग रही थी कि कलाकार अपने पुराने तौर-तरीके छोड़ना नहीं चाहते थे। बोलते-बोलते उसका स्वर ऊँचा हो गया और वह एक भाषण देने लगा। जैसे कोई रटा हुआ पाठ पढ़ रहा हो। मेरा धैर्य नष्ट हो गया और मैं उसको कोई उत्तर दिए बिना ही उठकर चला आया। कुछ समय बाद वह मेरे कमरे में आकर बोला कि वह मेरी बात मानता है, किन्तु नीचे होटल के लाउञ्ज में तो उसे मेरा विराध ही करना पड़ा, क्योंकि कोई सुन ले तो आफत आ जाए। उसे शीघ्र ही अपने चित्रों की एक प्रदर्शनी करनी थी, इसलिए पार्टी की कृपा की और भी अधिक आवश्यकता थी।

जब मैं रूस में पहुंचा तो कला और साहित्य के क्षेत्र में वाद-विवाद चल ही रहा था। मैंने भी उसे समझना चाहा। किन्तु मैंने देखा कि किसी सिद्धान्त को लेकर झगड़ा नहीं था। जो भी कलाकृति पार्टी को पसन्द नहीं आती थी, उसी को थोथा कहकर अस्वीकार कर दिया जाता था। मुझे यह सब देखकर रोना आ गया। यह सब राजनीति में चाहे उपादेय हो, किन्तु संस्कृति के लिए तो घातक है। जहाँ पर आलोचना मुक्त और स्वाधीन नहीं, वहां संस्कृति का जनाजा एक दिन अवश्य निकल कर रहेगा। रूस में सौन्दर्य उपासना को बूर्जुआ प्रवृत्ति कहा जाता है और जो कुछ पार्टी को पसन्द नहीं आता उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता। एक कलाकार कितना ही योग्य और महान हो, किन्तु यदि वह पार्टी की बात मानकर काम नहीं करता तो कोई उसका नाम नहीं लेगा। हाँ, यदि वह पार्टी का अनुयायी है तो मालामाल होने में देर नहीं लगती। बात समझ में आती है। एक सरकार यदि किसी अच्छे कलाकार से अपना गुणगान करा सकती है, तो उसका बहुत काम निकलता है। इसलिए ऐसे कलाकार को पाल-पोसकर रखना सरकार का कर्त्तव्य हो जाता है। किन्तु ऐसा कलाकार जीते जी मर जाता है, यह भी हम नहीं भुला सकते।

सोवियत् रूस में लेखकों को सबसे ज्यादा महत्व दिया जाता है। मेरी जो आवभगत और सम्मान वहाँ हुआ वह देखकर मैं डर गया कि कहीं अपनी मर्यादा न खो बैठूँ। मैंने आँखें खोलकर देखा। यह तो देख पाया कि लेखक को जो सुयोग और साधन रूस में उपलब्ध हैं, वे और किसी देश में नहीं। किन्तु एक शर्त है। लेखक को पार्टी की जीहुजूरी में ही लिखना पड़ता है। रूस में किसी को खुलकर आलोचना करने की भी छूट नहीं, क्योंकि वहां आलोचना को भी राजनैतिक विरोध मानकर घोर दण्ड देने का विधान है। इसलिए लेखक को पार्टी के सामने नतमस्तक होकर निबाहना पड़ता है। रूस की विज्ञान-परिषद के एक प्रख्यात सदस्य को जेल जाना पड़ा क्योंकि उन्होंने वैज्ञानिक समस्याओं पर अपने ढङ्ग से सोचना चाहा था। उनके बारे में बाहर के वैज्ञानिक ऐसे ही पूछताछ करते थे तो कह दिया जाता था कि वे बीमार हैं। एक दूसरे वैज्ञानिक ऐसे ही अपराध के कारण प्रोफेसरी और

प्रयोगशाला से निकाले गए थे। वे यदि खुली चीट्ठी लिखकर माफी नहीं मांगते तो उन्हें साइबेरिया भेजने की तैयारी हो चुकी थी। निरंकुश राज्यसत्ता सदा इस प्रकार के बलात्कार करती आई है। यदि आज रूस में कोई वकील न्याय के पक्ष में आवाज उठाना चाहे तो मारा जाएगा। जिसको पार्टी अथवा सरकार अपराधी ठहरा देती है, उसको बचाने की कोशिश करना वकील के लिए मौत के मुँह में जाना है। स्टालिन अपनी तारीफ के सिवाय कुछ नहीं सुनना चाहता। इसलिए आज उसके चारों ओर ऐसे लोग हैं जिनकी अपनी कोई राय नहीं और जो स्टालिन की हां-में-हां मिलाना ही जीवन का ध्येय समझते हैं। स्टालिन को उसकी भूल सुझाई जाए तो क्यों कर? स्टालिन का चित्र हर जगह दीख पड़ता है, लोग उसके नाम की माला जपते हैं। उसके नाम को बार-बार लिए बिना कोई भाषण नहीं हो सकता। यह कहना कठिन है कि लोग स्टालिन के प्रति श्रद्धा-भक्ति के कारण ऐसा करते हैं, अथवा भय से कांप कर। एक घटना याद आती है। टिफलिस जाते हुए हम उस गाँव से गुजरे जहाँ स्टालिन का जन्म हुआ था। मैंने सोचा कि रूस में हमारा जो सम्मान हुआ है उसके लिए धन्यवाद का एक तार स्टालिन को उसके गाँव से भेज दूं तो अच्छा रहेगा। शायद ऐसा मौका फिर न मिले। मैं कार से उतरकर गांव के तार घर पर पहुंचा। तार लिखकर मैंने बाबू को दे दिया। मैंने लिखा था—"आप के गाँव से गुजरते हुए मुझे आपको धन्यवाद देने की प्रेरणा होती है।" तार बाबू ने तार भेजने से इन्कार कर दिया। उसने मुझे समझाया कि स्टालिन को 'आप' कहकर पुकारना धृष्टता है। स्टालिन को 'हे महान मजदूर नेता' 'हे जनता के प्रभु' इत्यादि नामों से सम्बोधित करने का रिवाज रूस में है। मुझे बात बेहूदासी लगी। भला स्टालिन को यह चापलूसी कैसे अच्छी लग सकती है, मैंने कहा। किन्तु बाबू ने मेरी एक नहीं सुनी और सिर हिलाता रहा। मुझे निराशा हुई। मुझे वह भेद की दीवार दिखाई देने लगी जो स्टालिन और रूसी जनता के बीच खड़ी हो चुकी है और जो दिन-पर-दिन दृढतर होता जाती है। इसी प्रकार मुझ से अपनी वक्तृताओं में भी हेरफेर करने का अनुरोधे किया गया। मैं सोवियत् यूनियन का 'भविष्य' नहीं कह सकता

था। मुझसे कहा गया कि 'भविष्य' शब्द के साथ 'शानदार' शब्द मुझे हमेशा जोड़ना चाहिए, क्योंकि सोवियत् यूनियन के 'भविष्य' की बात है, कोई मज़ाक नहीं। इसी प्रकार किसी राजा को 'महान' कहने पर उन्होंने आपत्ति की। राजा कैसे 'महान' हो सकता है। 'महान' इत्यादि शब्द तो लेनिन और स्टालिन इत्यादि के लिए ही उपयुक्त हैं। लेनिनग्राड में मुझे छात्रों और लेखकों की एक सभा में बोलने का निमन्त्रण मिला। मैंने अपनी वक्तृता लिखकर कमिटी को जांच के लिए दे दी। वह पढ़कर मुझे बतलाया गया कि जो कुछ मैं कहना चाहता हूं वह पार्टी की नीति के विपरीत है और बहुत भद्दा लगेगा। हारकर मुझे वक्तृता देने का इरादा ही छोड़ना पड़ा। वक्तृता निम्नलिखित थी:—

"मुझे कई बार कहा गया है कि समकालीन सोवियत् साहित्य के विषय में मैं अपना मत प्रगट करूँ। मैं बतलाना चाहता हूं कि अभी तक मैं इस विषय में चुप क्यों रहा हूं। मास्को के लाल चौक में गोर्की की अन्त्येष्टि के दिन मैंने कुछ शब्द कहे थे। उन्हीं को आज और खुलासा तौर से दोहराना चाहता हूँ। उस दिन मैंने कहा था कि क्रान्ति ने रूस के सम्मुख कुछ नए प्रश्न प्रस्तुत किए हैं। सोवियद् यूनियन के लिए उन प्रश्नों को सामने लाना सौभाग्य की बात है। उन प्रश्नों का जो उत्तर सोवियत् यूनियन देगी उस पर सभ्यता का भविष्य निर्भर करता है। इसलिए उन प्रश्नों को आज यहां फिर दोहराना चाहता हूँ। जनता का बहुमत, चाहे उसमें कितने ही विज्ञ व्यक्ति क्यों न हों, कभी भी कला की दुरूह बातों को नहीं समझ पाता। बहुमत के लिए तो कला की गहराइयों के कोई मायने नहीं। इसलिए साधारण और तुच्छ कोटि की कला ही जनता अपनाती रही है। और तुच्छता बूर्जुआ कला में ही मिलती हों, यह नहीं कहा जा सकता। क्रान्तिवादी कला भी उतनी ही तुच्छ हो सकती है। क्रान्ति के सिद्धान्त, चाहे वे कितने ही भव्य और उच्च क्यों न हो, कभी भी कला को महानता प्रदान नहीं कर सकते। महान कला में कुछ मौलिकता होनी चाहिए। उस कला में कुछ नए प्रश्न उठाए जाते हैं और उनका उत्तर देने का प्रयास किया जाता है। बहुत बार तो महान कलाकार उन

प्रश्नों का उत्तर दे डालते हैं, जिनको कि स्पष्ट रूप से हमने अभी सोचा भी नहीं है। इस दृष्टिकोण से देखने पर कहना पड़ता है कि मार्क्सवादी सिद्धान्तों से ओत-प्रोत कलाकृतियां मुझे टिकाऊ नहीं लगतीं। भविष्य में उन्हें प्रयोग ही कहा जाएगा। तात्कालिक वितण्डावाद के ऊपर उठ सकने वाली कला-कृतियां ही टिकाऊ हो सकती हैं। आज क्रान्ति सफल हुई है, इसके कारण कला को एक खतरे का सामना करना पड़ रहा है। क्रान्ति से पूर्व दमन से जो खतरा कला को था, उससे यह नया खतरा बहुत बड़ा है। आत्मतृप्ति क्रान्तिवादी कला के प्राण ले सकती है। कला को बचाए रखने के लिए क्रान्ति के लिए यह अतीव आवश्यक है कि कलाकार को पूर्ण स्वाधीनता दे। स्वाधीनता के बिना कला का मूल्य नहीं रहता और न रहती है उसमें कोई सार्थकता। आज जनता की वाह-वाह सुनकर कोई कलाकार अपने आपको सफल मान सकता है। किन्तु जनता तो तुच्छ और साधारण को ही सराहने की क्षमता रखती है। इसलिए ख्याति और वाह-वाह पाकर कलाकार के पथ भ्रष्ट होने का बहुत बड़ा खतरा है। मुझे ऐसा लगता हैं कि आज सोवियत् यूनियन में एक कीट्स, बौदेले अथवा रिम्बौ अज्ञात रहकर नष्ट हो सकता है। उनकी गहराई को जनता नहीं समझ सकती, इसलिए उनको तो यहाँ कलाकार ही नहीं माना जाएगा। किन्तु मुझे तो कीट्स, बौदेले और रिम्बौ जैसों में बहुत श्रद्धा है। आरम्भ में उनकी अवगणना हुई थी, किन्तु आज वे अमर हो गए। इसीलिए कि उनको पहिचानने वाले चन्द लोग थे, जिन्होंने उनको मरने नहीं दिया। आप शायद कहेंगे कि आपको कीट्स, बौदले और रिम्बौ की कोई जरूरत नहीं। शायद आपका मत है कि जिस गलित-विगलित समाज का चित्रण वे कलाकार करते थे, वही समाज उनका स्रष्टा भी था। यदि आज उनकी नहीं सुनी जाती, तो नए समाज का कसूर नहीं, नए समाज के लिये यह गौरव की बात है कि वह पुराने समाज के कलाकारों को नहीं समझ सकता। उन कलाकारों से भला नए समाज को क्या सीखना है ? जो कलाकार नए समाज को कुछ सिखा सकते हैं, वे नए समाज में जाने-पहिचाने जाते हैं, नए समाज के गुण गाते हैं; इत्यादि-इत्यादि। किन्तु मेरा

व्यक्तिगत विचार है कि जो कला–कृतियाँ केवल हमारा मन बहलाती हैं, उनका कानी–कौड़ी भी मूल्य नहीं। यदि किसी संस्कृति को आगे बढ़ाना है, तो ऐसी कला–कृतियों की अवहेलना करनी होगी। जो साहित्य केवल अपने समाज की प्रतिध्वनि मात्र है, उसके विषय में अधिक कहना व्यर्थ है। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना एक नए समाज के लिये एक हद तक उचित हो सकता है। किन्तु वह आदत यदि शीघ्र ही नहीं छोड़ी जाए, तो परिणाम दुखद ही निकलता है।"

जब तक मनुष्य दलित वंचित रहता है, जब तक सामाजिक अन्याय उसको उभरने नहीं देता, तब तक हम विश्राम कर सकते हैं कि मुक्त होने पर वह बहुत कुछ कर दिखाएगा। शायद दलित वंचित वर्गों में कोई अपूर्व, अज्ञात क्षमता हो। जैसे कोई बच्चा बड़ा होकर अपनी तुच्छता का परिचय जब तक नहीं देता, तब तक हम उससे आशाएँ लगाए रहते हैं, ठीक उसी प्रकार हम मान बैठे हैं कि दलित वंचित जनता मुक्ति पाकर न जाने क्या कर दिखाएगी। किन्तु जनता में इतने बड़े विश्वास का मैं तो कोई कारण नहीं देखता। जनता अधिकारी वर्ग से कुछ कम पतित है, यह बात मानी जा सकती है। किन्तु जनता को जनार्दन कहना मुझे नहीं जँचता। आज सोवियत् रूस में जनता के बीच से ही एक नए बूर्जुआ वर्ग की सृष्टि हो रही है, जो हमारे बूर्जुआ वर्ग से कहीं अधिक गया–बीता है। ज्योंही उनकी भूख–प्यास मिटी त्योंही वे भूखे–प्यासों से नफ़रत करने लगते हैं। उनमें ईर्ष्या और परिग्रह की भावना जोर पकड़ने लगती है। जो कुछ उनको जीवन में नहीं मिला था, उसको हथियाने के लिये उनके लोभ की सीमा नहीं रहती। उनको देखकर विश्वास नहीं होता कि वे ही किसी दिन क्रान्ति के जन्मदाता थे। उन्होंने क्रान्ति को दुकान बना डाला है। वे चाहे अब भी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हों, किन्तु उनके हृदय में आज कम्युनिज्म का कोई अंकुर नहीं रह गया। मेरी यह शिकायत नहीं है कि सोवियत यूनियन में बहुत काम नहीं हुआ। उस देश की जैसी स्थिति है और जहाँ से क्रान्ति ने उसको उठाया था, वह जाननेवाला मान लेगा कि रूस में बहुत कुछ काम होने की कोई

सम्भावना नहीं थी। किन्तु मुझे रूस की थोथी डींग से बहुत नफ़रत होती है। रूस वाले ढोल पीटते रहते हैं कि उन्होंने यह कर लिया, वह कर लिया, कि समस्त संसार को उनका अनुकरण करना चाहिये। यह सब कुछ बकवाद हैं। रूस में कोई भी ऐसी बात नहीं हैं, जिसका अनुकरण हम बाहर वाले कर सकें।

मैं फ्रांस और अन्यान्य देशों के कम्युनिस्टों को दोषी मानता हूं। मेरा संकेत उन कम्युनिस्टों की ओर नहीं है जो स्वयं धोखे में रहे हैं। मैं उनको दोषी मानता हूँ, जिनको सत्य अपनी आँखों से देखने का अवसर मिला है और जो सत्य को जानते हैं। उन्होंने अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए संसार के मजदूरों से झूठ बोला है, मजदूरों की आँखों में धूल झोंकी है। आज संसार के मजदूरों को कम्युनिस्टों की धोखेबाजी और फरेब से खबरदार होना चाहिए। रूस के मजदूर कम्युनिस्टों की बातों में आकर नरक–यातना भोग रहे हैं। अन्य देशों के मजदूरों की आँखें खुलनी चाहिएँ।

रूस की दशा अत्यन्त शोचनीय और असन्तोषजनक है। फिर भी यदि मुझ वहाँ सुधार अथवा प्रगति की कोई गुञ्जायश दीख पड़ती तो मैं चुप रहता। किन्तु मैं देखता हूँ कि सोवियत् यूनियन अधपात के गर्त में दिनपर दिन गिरता जा रहा है। क्रान्ति में इतनी मुसीबतें उठाकर, इतनी खूनखराबी करके जो स्वाधीनताएँ और अधिकार जनता ने पाए थे, वे तो एक–एक करके जनता खो रही है और कोई न कोई कारण बताकर जनता के साथ बलात्कार बढ़ता ही जा रहा है। इसके सिवाय मैं देखता हूँ कि कम्युनिस्ट पार्टियाँ अन्य देशों को भी उसी नरक की ओर खींच ले जाना चाहती हैं। अतएव खुलेआम अपनी आवाज़ उठाकर कम्युनिज्म का विरोध करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

किसी पार्टी के प्रति मेरा मैत्रीभाव मुझे चुप नहीं कर सकता। सत्य को मैं सब पार्टियों से ऊपर स्थान देता हूँ। मैं जानता हूँ कि मार्क्सवाद में सत्य जैसी किसी धारणा का समावेश नहीं है। निरपेक्ष सत्य की सत्ता ही मार्क्सवादी नहीं मानते। उनके लिए सत्य सदा सापेक्ष है। किन्तु ऐसे गम्भीर काम में सत्य को

सापेक्ष मानना गुनाह है, पाप है। इसका मतलब है दूसरों की आँखों में धूल झोंकना। हमें इमानदारी से सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए। हम जो कुछ चाहते थे वह नहीं हुआ, अथवा जो होने की हम आशा करते थे वह नहीं हुआ—इस कारण झूठ बोलने की कोई जरूरत मैं नहीं समझता। सोवियत् यूनियन ने हमारे स्वर्णिम सपनों से झूठा खेल खेला है और हमें यह दिखा दिया है कि किस प्रकार एक सच्ची क्रान्ति भी मटियामेट होकर दुःख का कारण बन सकती है। आज रूस में वही पुराना पूँजीवादी समाज फिर से स्थापित हो चुका है। यही नहीं, वहाँ एक नवीन निरंकुशता और तानाशाही का जन्म हुआ है, जो व्यक्ति का शोषण करके ही दम नहीं लेती, बल्कि जो व्यक्ति को पीसकर सब प्रकार से दासत्व की बेड़ियों में बांध देती है। देमोफून की नाई रूस देवता बनने में असफल रहा है। देमोफून को तो जलते कोयलों पर से उठा लिया गया था, किन्तु सोवियत् यूनियन को नरक-यन्त्रणा से बचाने का रास्ता मुझे अभी तक नहीं सूझता।

लूई फिशर

जीवनी — इनका जन्म २९ फरवरी सन् १८९६ संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के फिलेडलफिया राज्य में हुआ था। कई साल तक स्कूल में अध्यापक रहे। फिर १९२१ में इनको 'न्यूयार्क पोस्ट'[१] वालों ने पत्रकार की हैसियत से बर्लिन भेज दिया। इसके उपरान्त पञ्चीस साल तक ये युरोप एवं एशिया में घूमते रहे। इन्होंने कभी किसी राजनीतिक पार्टी में नाम नहीं लिखाया। तो भी ये सोवियत् रूस के घोर हिमायती थे। स्पेन के गृहयुद्ध में वहां जाकर इन्होंने प्रजातन्त्र का समर्थन किया था। इन्होंने रूस पर कई पुस्तकें लिखी हैं।

भारत में इनका नाम सर्वविदित है। हमारे स्वाधीनता संग्राम का पक्षपात करके इन्होंने अमेरिका में हमारे दृष्टिकोण का प्रचार किया। महात्मा गांधी का इनसे अच्छा परिचय था और गांधीजी का संदेश अमेरिका तक ले जानेवालों में इनका प्रमुख स्थान रहा है। अभी हाल में इनकी लिखी महात्मा गांधी की जीवनी प्रकाशित हुई है।

---

१. एक प्रसिद्ध दैनिक समाचार पत्र।

मैंने बचपन में उन विद्रोहियों की कहानियाँ सुनी थीं, जो साइबेरिया की नमक की खानों से निकल भागे थे और जिन्होंने फिर से जीवन का वरदान पाया था। मेरे–माता का जन्म रूसी नगर कीव के पास एक छोटे से नगर में हुआ था। वे मुझे सुनाया करते थे कि किस प्रकार रूस के किसान वोडका[१] से मदमस्त होकर खूनखराबी करते रहते थे। जार के दरबारी राजकुमार पीटर क्रोपाट्किन बाद में प्रसिद्ध अराजकतावादी बने। उनकी आप बीती पढ़ कर मुझमें मानवता और आदर्श–शीलता के स्पन्दन जागा करते। मैंने टाल्सटाय[२], तुर्गनेव[२], और डौस्टोयस्की[२] के उपन्यास तथा गोगोल[२] और गोर्की[२] की कहानियाँ पढ़ीं। मैं रूस में नहीं गया था, तब भी रूस का एक धुंधला चित्र मेरे मानस पर अंकित हो चुका था। रूस कुछ पिछड़ा–सा लगता था, मानों एक साथ ही वह सभ्य और असभ्य, शिक्षित और अशिक्षित, दोनों ही हो। वहाँ फैले घोर अन्धकार में संस्कृति, शान–शौकत और वैभव के कुछ सितारे बार–बार चमक उठते थे।

एक प्रकार से तो मैं अमेरिका के बाहर समस्त संसार से अनभिज्ञ था। जर्मनी के साथ प्रथम महायुद्ध मुझे इस अज्ञान से बाहर खींच लाया, किन्तु युद्ध के तूफान में मैं यह नहीं देख पाया कि रूस के जार का पतन हो चुका है और वहाँ नवम्बर १९१७ में सोवियत् सरकार बन गई है। रूस में होनेवाली दो क्रान्तियों का उस समय मुझ पर कुछ भी असर नहीं पड़ा। यदि आँखें खोल कर देख भी लेता तो भी शायद बात मेरी समझ में नहीं आती। ज़ार के पतन के बाद केरेन्सकी की सरकार को लेनिन ने संसार की सबसे गणतान्त्रिक सरकार माना था। मैं अवश्य ही यह प्रश्न पूछता कि फिर भला क्यों लेनिन ने उस सरकार का तख्ता उलट कर बॉल्शेविक तानाशाही रूस में कायम की?

फौज से छुट्टी पाकर मैं १९२० मे घर लौटा। मुझे यह जानने की उत्कट इच्छा थी कि प्रथम महायुद्ध क्यों हुआ और युद्ध के कारण जानने के लिए

---

१. रूस की शराब। २. प्रसिद्ध रूसी लेखक।

मैंने अनेक देशों में अनेकों विद्वानों द्वारा लिखे ग्रन्थ उलटने-पलटने शुरू किए। उनके निष्कर्ष भिन्न-भिन्न थे, किन्तु युद्ध के लिए दोष उन्होंने कई देशों पर थोपा था। सर्वप्रथम वे ज़ार के रूस और आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य को दोषी मानते थे। जर्मनी का नाम दूसरे दरजे पर था और सबके बाद फ्रान्स तथा इंगलैण्ड का नाम आता था। इन सब बड़े राष्ट्रों ने गुप्त सन्धियाँ करके छोटे देशों का बटवारा करने का षड्यन्त्र रचा था। इन सबकी प्रसारात्मक महत्वाकांक्षाओं ने एक दूसरे से टकरा कर युद्ध को जन्म दिया था। न्यूयार्क के उदारवादी साप्ताहिक समाचार पत्र कह रहे थे कि वरसाई की सन्धि उन्हीं पुराने, कुत्सित, साम्राज्यवादी सिद्धान्तों पर टिकी है। प्रेसीडेन्ट विलसन कभी-कभी आदर्शवाद की हाँक लगा लेते थे। और सब देशों के राजनीतिक नेताओं को तो अपने-अपने देश के लिए भूमि और धन हथियाने में ही दिलचस्पी थी, उन्हें स्थायी शान्ति स्थापित करने की भला क्या फिक्र होती।

धीरे-धीरे युद्ध और शान्ति सम्बन्धी प्रश्नों के प्रति मेरा एक नया दृष्टिकोण बन चला। उससे बॉलशेविक दृष्टिकोण का काफी मेल खाता था। पेनसिलबेनिया महाविद्यालय मे एक छात्र था जो रूसी भाषा जानता था। उसने मुझे रूस के विदेश मन्त्री चिचरींन के वे सन्देश पढ़कर सुनाए जो उन्होंने रूस की ओर से पूँजीवादी देशों की सरकारों के पास भेजे थे। उन सन्देशों में कटुता, उग्रता और व्यँग भरे थे। चिचरीन ने रूस के गृहयुद्ध में जारशाही के पक्षपातियों और प्रतिक्रियावादियों की सहायता करने के लिए पूंजीवादी सरकारों की कठोर आलोचना की थी। बॉलशेविक चारों ओर शत्रुओं से घिरे थे। फिर भी उन्होंने समस्त संसार को चुनौती दी कि जो लोग नए संसार का उदय रोकना चाहते हैं, उनके दाँत खट्टे किए जाएंगे। मुझे ऐसा लगा कि रूस एक दलित राष्ट्र है और वह उन शक्तियों से लोहा ले रहा है, जिनमें कि युद्ध करने की क्षमता तो है किन्तु जिनको शान्ति का पथ नहीं सूझता। मुझ में युद्ध और क्रान्ति के जन्मदाता युरोप को देखने की गहन इच्छा जाग उठी। मैं छोटे-मोटे काम करके जो कुछ कमा पाता था, उसी में से

धीरे-धीरे बचाकर मैं दिसम्बर १९२१ में घूमने निकल पड़ा। पहले-पहले मैंने एक स्वतन्त्र संवाददाता बनने की ठानी।

युरोप तो कबाड़खाना बना पड़ा था। युद्ध से लौटे हुए भले चंगे मर्दाने ब्रिटने के शहरों में गा-गाकर भीख मांगते थे अथवा फेरी लगाकर पेन्सिल बेचते थे। लन्दन के प्रेक्षागृहों में अधिकतर सीटों पर स्त्रियाँ बैठीं दिखाई देती थीं। उनके आदमी युद्ध में मर चुके थे। फिर से जीवन में उनको पुरुष पाने की कोई आशा न थी। जो कभी उनके होते वे तो फ्रांस और बेलजियम की युद्ध-भूमि में गड़े थे। गोर्की ने अपील की थी कि रूस के ढ़ाई करोड़ अकाल पीड़ितों के लिए अनाज भेजा जाए। जनवरी १९२२ में पोलैंड से मैंने लिखा—"एक ऐसा बवण्डर आया है जिससे कोई भी नहीं बच सका है। फिर भी राष्ट्रवाद की वही पुरानी हुँकार मुझे सुनाई दे रही है।" पोलैण्ड के सामने अनेकों घरेलू समस्याएं थीं, किन्तु अपनी सेनापर समस्त धन खरच किए जा रहा था, क्योंकि विलना नगर पर अधिकार जमाना पोलिश लोग आवश्यक समझते थे। बीयना में अंधेरा होते ही एक निर्मम उदासी छा जाती थी। एक अजीब-सी मुर्दनी और जड़ता का वातावरण वहाँ मैंने देखा। गलियों में मद्धम रौशनी जलती थी। किन्तु अमीर लोगों के होटलों में तथा नाटकशालाओं में तेज प्रकाश, जीवन का स्पन्दन, मोटर कारें, नाच, गान, मद्य और सुन्दर वेशभूषा अब भी वैसी ही थी। वीयना के सट्टेबाजों के विरुद्ध जनता ने एक दंगा हाल में ही किया था, जिसमें बैंकों, होटलों और बड़ी दूकानों की खिड़कियों में लगे कांच टूटकर गिर पड़े थे।

जर्मनी अपने आकार-प्रकार, धनधान्य और केन्द्रीय स्थिति के कारण युरोप का सबसे महत्वशील देश है। कई बार उसने युरोप को आतंकित और पराजित किया है। कई बार उसने युरोप में प्राण और बलका संचार किया है। किन्तु उन दिनो जर्मनी पर एक काली रात घिर आई थी। जर्मनी का सिक्का बढ़ते-बढ़ते प्राय: बेकार हो चला था। घर के भीतर राजतन्त्रवादी और प्रजातन्त्रवादी दलों में घमासान छिड़ा था। १९२२ में जेनोआ नगर में एक अन्तर्जातीय कान्फ्रेन्स बैठी थी। विजेता देश न कुछ भूल सके, न क्षमा कर

सके और न एकता ही दिखा सके। युद्ध के कारण जर्मनी का सर्वथा बहिष्कार किया गया और क्रान्ति के कारण रूस से कोई भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहता था। इस प्रकार अछूत बने ये दोनों देश एक दूसरे के निकट आने लगे और दोनों ने गुप्त रूप में एक दूसरे को हथियारबन्द होने में सहायता पहुँचाई। प्रथम महायुद्ध के खून से लथपथ और चौंधियाया हुआ युरोप दूसरे युद्ध की ओर अग्रसर हो रहा था और युरोप के नागरिक तथा राजनीतिज्ञ हाथ झाड़कर अपनी विवशता की दोहाई देते हुए खड़े थे।

मैं सोवियत् रूस के बारे में पुस्तकें पढ़ता था तथा वाद-विवाद सुनता रहता था। बॉलशेविक लोग जनता की हिमायत करते थे। वे गरीबों के लिए धरती, भोजन, शान्ति, काम, घर, शिक्षा, स्वास्थ्य, कला और सुख की माँग करते थे। वे कहते थे कि वे जाति-भेद का नाम मिटा देंगे। शोषण, असमानता, धन का अत्याचार, राजाओं की प्रभुता और साम्राज्यवादी प्रसार की भावना—सभी के विरुद्ध उनका स्वर सुनाई देता था। वे अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव के प्रचारक थे। उन्होंने रूस के कराल पाशसे पोलैण्ड, फिनलैण्ड तथा बाल्टिक तटस्थ देशों को मुक्ति दी थी। उन्होंने चीन और ईरान में जारशाही द्वारा प्राप्त रूस के विशेष अधिकारों और सुविधाओं का परित्याग किया था। इसलिए संसार के दलित वंचित वर्ग और उन वर्गों के हिमायती रूस में एक नए युग के उदय का प्रथम प्रभात देखने लगे थे।

अब समाजवाद छोटे-मोटे वक्ताओं की वाणीमात्र नहीं था। संसार के षष्ठांश भूभागपर फैला एक महान राष्ट्र, समाजवाद का प्रचार करने के लिए एक स्वर से बोल उठा था। इतिहास में प्रथम बार एक सरकार ने आदर्शवादियों, विद्रोहियों और तीर्थंकरों के पथ पर बढ़ने का बीड़ा उठाया था। मानव जाति को रोमांच तो होता ही। किन्तु सत्ताशील, रूढिवादी, युद्धबाज, सम्राज्यवादी, स्थापित स्वार्थों के ठेकेदार तथा श्वेतांग जातियों-को श्रेष्ठतर माननेवाले वर्ग भी भय से कांप उठे। उनके भय में दूसरे वर्गों की आशा छुपी थी।

बॉलशेविक क्रान्ति की सब ओर धाक थी। वे लोग केवल रूस में ही आमूल परिवर्तन करके रुकना नहीं चाहते थे। वे समस्त संसार में युद्ध,

दरिद्रता और दुखदर्द को मिटाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे। इसीलिए सभी देशों के साधारण लोगों, मजदूरों तथा बुद्धिजावियों को ऐसा लग रहा था, मानो रूस की क्रान्ति उनके अपने जीवन में घटने वाली एक महत्वशील घटना है। रूस के साथ इस सहानुभूति का कारण उन लोगों की रूस के विषय में जानकारी नहीं थी। वे तो अपने देशों में जो असन्तोष के कारण थे, उन्हीं से चिढ़कर रूस के पक्षपाती बने थे। अधिक लोगों को यह बिल्कुल नहीं मालूम था कि रूस में क्या हुआ था और क्या हो रहा था। किन्तु रूस की बात चलते ही वातावरण में गरमी आ जाती थी। रूस के पक्षपाती रूस के रास्ते में बाधाओं का उल्लेख करते और समझाते कि रूस आगे चलकर क्या-क्या रंग दिखाएगा। रूस के विरोधी पूछते कि रूस में हुआ क्या है जो रूस की पूजा की जाए। इस प्रकार इस वाद-विवाद का अन्त नहीं हो पाता था और मुझमें ठीक-ठीक बात जानने की एक तीव्र उत्कण्ठा जाग उठी। मैं सितम्बर १९२२ में बर्लिन से मास्को पहुँचा। उस समय मैं रूसी भाषा का एक शब्द भी नहीं जानता था। सोवियत् प्रणाली से भी मेरा किंचित्मात्र परिचय नहीं था। हां उन लोगों के आशा-विश्वास के प्रति सहानुभूति अवश्य थी। मैं यह भी जानता था कि उन लोगों की परिस्थिति अत्यन्त कठोर है। मैं यह सोचकर रूस नहीं गया था कि मैं किसी स्वप्नदेश अथवा मक्का जा रहा हूं।

किसानों के विद्रोह, भुखमरी और उत्पादन की अवनति से बाध्य होकर सोवियत् सरकार ने १९२१ में एक नयी आर्थिक नीति का अवलम्बन किया था। उसके अनुसार छोटे-मोटे पूँजीवाद और बाहर से आनेवाली आर्थिक सहायता को प्रश्रय मिला था। दुर्बल सोवियत् सरकार-को पीछे हटना पड़ा था। लेनिन ने अपनी हार कबूल की, किन्तु अपनी हार को छुपाने की कमी कोशिश नहीं की। रूस के लेनिनग्राड और कीव इत्यादि प्रमुख नगरों में छोटी-मोटी जरूरत की चीजें बेचनेवाले बिसाती और छोटे-छोटे दुकानदार एक बाढ़ की तरह फैलने लगे। सबमें एक आशा का संचार था, जल्दी से जल्दी अमीर बन जाने के लिए स्पर्धा भी। सरकार ने कई जूए के अड्डे खोले थे और सरकार द्वारा चलाए गए होटलों तथा संगीतशालाओं में वे पदार्थ बिकते थे जो कि बाहर के साधारण नागरिकों को नसीब नहीं थे। यह सब

देखकर कम्युनिज्म अथवा एक नए जीवन की बात सोचना कठिन था। पूंजीवाद की दृढ़ मनोवृत्तियां तनिक सी सुविधा पाकर जाग उठीं। मुझे भय लगने लगा कि क्रान्ति की हत्या हो रही है। कम्युनिस्टों ने मुझे समझाया कि ऐसी कोई बात नहीं। बाहर से देखने पर कम्युनिज्म का कोई लक्षण नहीं था। किन्तु कम्युनिस्टों से बातें करके कुछ विश्वास होने लगता था।

कम्युनिस्ट पार्टी सोवियत् रूस की सबसे महत्वशील संस्था थी। उन लोगों के त्याग और बलिदान की भावना देखकर मुझे किसी संतसंप्रादाय की याद आती थी। और उनका अनुशासन, गुप्तमन्त्रणा की क्षमता, तथा हुक्म मानने की आदत देखकर ऐसा लगता था, जैसे वे किसी सेना के सदस्य हों। वे ही शासन के रक्षक, प्रवर्तक तथा पथप्रदर्शक थे। पार्टी ही नीति का सूत्रपात करती थी और समस्त सत्ता पार्टी के हाथ में थी। फिर भी प्रत्यक्ष रूप में पार्टी सत्ता का प्रयोग करती नहीं दीख पड़ती थी। पार्टी सरकार को सलाह देती थी, आगे बढाती थी और सरकार पर निगरानी रखती थी। काम का वह विभाजन मुझे ठीक जँचा। इससे सत्ता प्राप्त कम्युनिस्टों के भ्रष्ट होने का डर नहीं था। सरकार के अधिकतर कर्मचारी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। किन्तु पार्टी के और हजारों ऐसे सदस्य भी थे, जिनको सरकार में कोई पद नहीं मिला था। पार्टी के बड़े नेता स्टालिन, जिनोवीव, बुखारिन इत्यादि किसी सरकारी पद पर नहीं थे।

पार्टी के लोग एक दूसरे को साथी कहकर पुकारते थे और सबको एक समान वेतन मिलता था, जिसके कारण उनमें एक शुद्ध जीवन–यापन करने की भावना पाई जाती थी। कम्युनिस्टों के अधिकारों से उनके उत्तरदायित्व अधिक थे। पार्टी प्रत्येक कम्युनिस्ट से एक आदर्श–स्थापना की आशा करती थी। उस आदर्श में धर्म का घोर विरोध, कम्युनिज्म में गहन विश्वास, व्यक्तिगत नैतिकता तथा राजनैतिक तथा राजनैतिक श्रद्धाभाव का समावेश था। उस आदर्श से गिरने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। रूस में चारों ओर जीवन का संचार था। खेत और जंगल छोड़कर दलपर दल लोग शहरों में धंसे चले आ रहे थे। सब जगह नौजवान लोगों का बोल–बाला था। लेनिन

की आयु थी ५२ वर्ष, ट्राट्स्की ४३ वर्ष के थे। और स्टालिन ने भी जीवन के ४३ वर्ष पूरे किए थे। इसके सिवाय जिनोवीब और कामानेव ३८ वर्ष के, बुखारिन ३४ वर्ष के तथा राडेक कुल ३७ वर्ष के थे।

क्रान्ति ने देश का मन्थन किया था, जिसके फलस्वरूप पुराने वर्ग पिसकर मटियामेट हो गए और नवीन शक्तियों ने सिर उठाया। उन नवीन लोगों को जो अवसर मिला था, उसके लिए वे इतने कृतज्ञ थे कि कठोर अनुशासन, सख्त मेहनत और सब प्रकार के बलिदान झेलने के लिए वे तैयार हो गए थे। देश के अधिकतर हिस्सों में अकाल फैला था। एक वक्त के भोजन का मूल्य अरबों रूबल हो गया था। रूस में सिक्के का हाल जर्मनी से भी बुरा था। रूस में पहिले ही बहुत दरिद्रता थी। विश्व–युद्ध, गृहयुद्ध और क्रान्ति के हंगामे से और भी विनाश बढ़ा। मैं तो वहाँ की गरीबी देखकर थर्रा उठा। किन्तु सरकार अथवा जनता में मैंने थकान अथवा निराशा का भाव नहीं देखा। उनका उत्साह तो संक्रामक था। देखनेवालों पर भी छा जाता था। मेरी समझ में नहीं आया कि मास्को स्थित विदेशी कूटनीतिज्ञ और संवाददाता क्यों उस राष्ट्र के पुरुषार्थ का मज़ाक उड़ाते थे, जो कि कमर कसकर अपने आपको कीचड़ से निकालने की जी तोड़ चेष्टा कर रहा था। मैं गरीबी के वातावरण में जन्मा और पला था, इसलिए गरीबी को मिटा डालने का वह व्रत बहुत ही स्तुत्य लगा। बालशेविकों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का अपहरण किया था और भूमि–का राष्ट्रीयकरण भी। इन सब बातों के विरुद्ध होने पर भी बॉल्शेविकों का विरोध करने को मेरा जी नहीं चाहा। क्रान्ति ने मानो अतीत को धो–पोंछकर मिटा डाला था। मेरे लिए यह एक बहुत बड़ी बात थी। अब सोवियत् देश एक ऐसी दिशा में मार्ग खोज रहा था जिधर पहले कोई राष्ट्र कभी नहीं गया। मुझे उनके साहस पर श्रद्धा ही हुई। उनकी इमानदारी पर शक करना किसी के लिए भी असम्भव होता।

मैंने अपने लिए कम्युनिस्टों के गुणों की एक तालिका बना ली थी। उसमें सर्वप्रथम उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता का स्थान था। देशों की सीमाएं अधिकतर बलात्कार और युद्ध द्वारा बनती हैं। राष्ट्रवाद युद्ध, आर्थिक स्पर्धा

एवं घृणा का उत्पादक है। उसे भी एक प्रकार का जातिवाद माना जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। बॉल्शेविक सब जातियों को एक समान मानते थे। सोवियत् यूनियन में एक सौ से अधिक जातियां थी। किन्तु जो जातियां आगे बढ़ी हुई थीं वे पिछड़ी जातियों के लिए सब प्रकार के त्याग करने पर तुल गईं। रूस के बाहर बॉल्शेविक राष्ट्रीय विभाजनों को स्वीकार करते थे, किन्तु उनका उद्देश्य था एक अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट समाज की प्रस्थापना, जिसके फलस्वरूप शाश्वत शान्ति का राज्य धरा पर उतर आए।

नए रूस का प्राय: सभी देशों ने विरोध किया था। रूस के साथ सब की ओर से दुर्व्यवहार और अन्याय हुआ था। पूंजीवादी कूटनीतिज्ञों–को इस नए देश के साथ राजनैतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करके, शान्ति और नवोत्थान में दिलचस्पी नहीं थी। वे गड़े मुर्दे उखाड़कर चिल्ल–पों मचा रहे थे। वे रूस से अपने पुराने ऋण मांग रहे थे। रूस में उनकी जो सम्पत्ति जब्त हो गई थी, उसे वापिस लेना चाहते थे और रूसी आदर्शों पर कुठाराघात करने में उनको मज़ा आ रहा था। दोस्तों से बातें करते समय मैं भी बॉल्शेविकों की मूर्खता और गंवारपन की भर्त्सना करता था। किन्तु युरोप और अमेरिका में भ्रमण करते समय मैंने देखा कि वहाँ लोग दो दलों में विभक्त हो चुके हैं। एक वे जो रूस के पक्ष में थे, दूसरे वे जो रूस का विरोध करते थे। इस दूसरे पक्ष का साथ देने को मेरा जीं नहीं चाहा। अमेरिका के जीवन में भरी तुच्छता और निरुद्देश्यता देखकर रूस के प्रति मेरा आकर्षण और भी बढ़ गया। इटली में घबराया हुआ गणतन्त्र मुसोलिनी के हाथों मर चुका था। जर्मनी के सोशलिस्टों को युद्ध के बाद एक अच्छा अवसर मिला था, जिसमें वे जर्मनी के युद्धबाजों की जड़ें उखाड़ सकते थे। युद्धबाज थे जर्मनी के बड़े–बड़े जमींदार, कारखानेदार तथा फौजी वर्ग। सोशलिस्टों ने इन वर्गों के साथ नरमी दिखाकर मेरी सहानुभूति खो दी। जब वे सोशलिस्ट बॉल्शेविकों की तीव्र आलीचना करने लगे तो उनके प्रति मैं और भी असहिष्णु हो गया। आखिर बॉल्शेविकों ने जारशाही और पूंजीवाद का नाश किया था। सोशलिस्ट जिन्होंने कुछ नहीं किया था, किस मुंह से उनकी

बदनामी कर सकते हैं, यह मेरी समझ में नहीं आया। मैंने यह सोचना ही छोड़ दिया कि पूंजीवाद का स्थान कभी सुधारवादी, गणतन्त्रात्मक समाजवाद ले सकेगा। मेरे पास पूंजीवाद का एकमात्र जवाब कम्युनिज्म ही रह गया।

मुझे धीरे–धीरे ऐसा लगने लगा कि मैंने फैसला कर लिया है। फैसला करने के लिए विभिन्न पक्षों का प्रस्तुत होना आवश्यक होता है। मैं कमरे की बन्द हवा से तूफान को अधिक पसन्द करता था। मुझे ईमान्दार पुरुषार्थी अच्छे लगते थे। मुझे सोवियत् देश इसलिए अच्छा लगा कि वहाँ दलित जनगण की मुक्ति के लिए एक नया प्रयोग किया जा रहा था। उन्होंने शक्तिशाली वर्गों का सिर नीचा किया था। वे दुर्बल थे। संसार के रूढ़ीवादी और प्रतिक्रियाशील लोग उनके विरुद्ध युद्ध–परायण थे। इन सब बातों के घात–प्रतिघात मेरे मानस पर पड़े और मेरे संस्कारों ने रूस के पक्ष में फैसला दे दिया।

धीरे–धीरे मेरा पक्षपात यहाँ तक बढ़ा कि सोवियत् देश में होने वाली नित्यप्रति की घटनाओं की मीमांसा करने की जरूरत मैंने नहीं समझी। पक्षपात करने के बाद अपने पक्ष के साधारण अवगुणों पर हमारा ध्यान नहीं जाता। धार्मिक विश्वास तर्क द्वारा नहीं हिलाया जा सकता। देश–भक्ति और व्यक्तिगत प्यार मोहब्बत में भी ऐसा ही अन्धापन होता है। कितने ही तथ्य जुटा दिए जाएँ, किन्तु पक्षपाती के कान पर जू नहीं रंगती। जो बातें रूस के विरुद्ध जाती थीं उनको मैं तात्कालिक मानता था, मिथ्या आरोप कह कर उड़ा देता था, अथवा रूस के पक्ष में और महत्व की बातें बता कर हलका कर डालना था। मैं रूस की हालत को ध्यान से देखता समझता रहता था और रिपार्ट भेजने में भी मैंने कभी बेईमानी नहीं की। मेरी बहुत सी रिपोर्ट रूस के विरुद्ध भी होती थी, किन्तु रूस की सामाजिक व्यवस्था में अथवा रूस के उज्ज्वल भविष्य में मेरा विश्वास तिल भर भी कम नहीं हुआ।

४ मार्च १९२५ को न्यूयार्क के समाचार–पत्र 'नेशन' में मेरा एक लेख छपा। शीर्षक था—"बॉल्शेविक रूस में राजनीतिक बन्दी।" उसमें मैंने एमा

गोल्डमैन और अलेक्जान्डर बर्कमैन का जिक्र किया। वे दो विख्यात अराजकतावादी थे, जो १९२०-२१ में रूस में आए थे। अब वे राजनीतिक बन्दियों का प्रश्न लेकर रूस पर आक्षेप कर रहे थे। लेख में मैंने लिखा— "उन दिनों (१९२०-२१ में) आज (१९२५) की अपेक्षा रूस की जेलों में अधिक राजनीतिक बन्दी थे और उनके साथ आज से बहुत बुरा व्यवहार होता था। बर्कमैन और गोल्डमैन यह सब जानते थे, क्योंकि उनको रूस में घूमने-फिरने की स्वाधीनता थी और वे बॉल्शेविकों के विरोधियों से मिल कर भी खोज-खबर रखते थे। फिर भी उन्होंने बॉल्शेविज्म का समर्थन किया था और बहुत से अराजकतावादियों को कम्युनिज्म अपनाने के लिए प्रोत्साहन दिया था। उन दिनों क्यों नहीं ये राजनीतिक बन्दी उनकी आँखों में खटके? एक ही कारण था। उन दिनों वे रूस के पक्षपाती थे और राजनीतिक बन्दियों की बात उन्हें रूस की सफेद पोशाक पर एक तुच्छ-सा कलंक लगती थी। किन्तु आज वे रूस में विश्वास खो बैठे हैं तो यह राजनीतिक बन्दियों का मामला और अब सब कुछ को छुपा कर उन्हें रूस के विरुद्ध जिहाद उठाने में मदद दे रहा है।"

बर्कमैन ने मेरे लेखका उत्तर बर्लिन से दिया। उन्होंने लिखा—"रूस में निवास के अपने प्रारम्भिक दिनों में मेरी भावना बॉल्शेविकों के लिए बहुत अच्छी थी। मैं उनके काम में सहायता देना चाहता था। फिर भी प्रत्येक अवसर पर मैंने उनको समझाना चाहा था कि क्रान्ति को सहिष्णुता की नीति अपनानी चाहिए और अपने वामपन्थी विरोधियों के साथ ईमान्दारी से पेश आना चाहिए। इससे क्रान्ति की अधिक सेवा होती। किन्तु वे तो अपने विरोधियों को मिटा डालने पर तुले थे। आज भी मैं उनकी नीति को बदलवाने की चेष्टा करता रहता हूं। क्रान्स्ट्राड[१] के हत्याकाण्ड के बाद बॉल्शेविकों से मेरा सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। तो भी मैं उनका शत्रु नहीं बना हूं। पर राजनीतिक बन्दियों का विरोध मैं कड़े स्वर में अवश्य करूंगा।"

---

१. एक जहाज का नाम जिसके नाविकों की सहायता से लेनिन ने सत्ता हथियाई थी। १९२१ में ये नाविक क्रान्ति से असन्तुष्ट होकर बलवा कर बैठे तो लेनिन ने बड़ी बेरहमी से उनको कुचल डाला। अनेक नाविक लाल सेना ने गोली से उड़ा दिए।

बर्कमन ने मेरे ही मत की पुष्टि की थी। एक समय वह सोवियत् का हिमायती था, किन्तु राजनीतिक बन्दियों के प्रति बॉलशेविकों का पाशविक व्यवहार देखकर उसे घृणा होती थी। कुछ दिन बाद क्रोन्सटाड के नाविकों के विद्रोह को जिस बर्बरता से दबाया गया वह देखकर बर्कमैन सोवियत् सरकार के विमुख हो गया। इसलिए अब उसके लिए यह राजनीतिक बन्दियों की बात उस सरकार के विरुद्ध एक प्रमाण बन गई। पहले जो बात बॉल्शेविकों के प्रति उसमें सन्देह उपजाती थी, वही अब उनके प्रति उसकी घृणा को दृढ़ करने लगी। मन पर गहरी चोट पड़ने से ही ऐसा होता है। मेरे ऊपर वह चोट पड़ने में अभी कई वर्ष की देर थी।

हाँ, मैं सोवियत सरकार को अपने मन की तुला पर तोलता तो बराबर रहता था। लेकिन तुला किस ओर झुकेगी इसके लिए उस तुला के पलड़ों में रक्खे तथ्यों पर ऑखें उठाना आवश्यक था। एक ओर, १९२४ से ही मैंने देख लिया था कि सोवियत् सरकार व्यक्ति स्वाधीनता की परवाह नहीं करती। हमारे पाश्चात्य देशों में व्यक्ति-स्वाधीनता की पूजा की जाती है। बॉल्शेविक ऐसा कुछ नहीं मानते थे। वे कहते थे कि व्यक्ति को आर्थिक स्वाधीनता देना अधिक ऊँचा आदर्श है। इसलिए वे वहाँ की खुफिया पुलिस की करतूतों की मार्जना करते रहते थे और कहते थे कि स्वाधीन समाचार-पत्रों का देश में होना बहुत आवश्यक नहीं है। मुझे उनकी ये सब बातें पसन्द नहीं थी, क्योंकि मैं तो सदा व्यक्ति-स्वाधीनता को सब अधिकारों से ऊपर मानता आता हूं। दूसरी ओर, मैं मानता था कि बॉल्शेविक एक नया समाज बनाने के लिए कृतसंकल्प हैं। उस समाज में मानव द्वारा मानव का शोषण नहीं रह जाएगा। यह सब सोचकर मैं कुछ और बातों के कारण उपजी सोवियत् सरकार के विरुद्ध अपनी कटुता थूक देता था।

सोवियत् सरकार जो वायदे करती थी वे मेरी कल्पना को फड़का देते थे। सोवियत् सरकार की वे हुण्डिया जिनके कई साल बाद भुनाने का आश्वसन रूस की जनता को दिया जाता था, मेरी आँखों में उस सरकार के तात्कालिक दिवालिएपन को छुपा लेती थी। रूस के काले अतीत की बातें बार-बार सोचकर उनके भविष्य का स्वप्न मेरे लिए और भी सार्थक होने

लगता था। देश के वर्तमान की बात मैंने सोचने का प्रयास ही नहीं किया। बॉल्शेविकों की समस्त जमा पूँजी थी भविष्य और उसी के शेयर काट-काट कर वे धन्ना सेठ होने का दम भर रहे थे। प्रत्येक पञ्चवर्षीय योजना का मसविदा प्रस्तुत करते समय वे कहते थे कि वर्तमान को भूल जाओ, भविष्य में देखना क्या-क्या होता है। वर्तमान में यदि खाने को नहीं मिलता तो शिकायत करना बेईमानी है, क्योंकि समाजवाद के निर्माण के लिए भूखों मरना सबका कर्तव्य है। आज आप मक्खन खाने का हठ कर बैंठे तो नदियों पर वे बड़े-बड़े बाँध कैसे बाँधेंगे जिनके फलस्वरूप देश में अनेक गुनी बिजली, फौलाद और मक्खन पैदा होने की आशा है। मैं इस तर्कजाल में फँस गया।

सोवियत् सरकार इस तर्क पद्धति का जादू अच्छी तरह समझ गई थी। इसलिये वह उज्ज्वल भविष्य जितना ही दूर हटता गया, उतना ही उसको निकट बताने का उनका हठ बढ़ता गया। १९३० में उन्होंने हुक्म दिया कि रूस के लेखकों को वर्तमान की बातें भुला देनी चाहियें। उनको यह समझना चाहिये कि रूस का उज्ज्वल भविष्य ही वर्तमान है। इस साहित्य-प्रणाली को उन्होंने "समाजवादी यथार्थवाद" का नाम दिया। सेवोलोद् इवानोव एक विख्यात सोवियत् उपन्यासकार थे। उन्होंने गोर्की मोटर कारखाने के जीवन सम्बन्धी एक उपन्यास लिखने का संकल्प किया और उस जीवन से विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए वे कारखाने में जाकर रहने लगे। वे अपनी हस्तलिपि के कुछ अंश मजदूर सभाओं में सुनाते रहते थे। एक अध्याय में लिखा था कि रूस में सड़कें खराब हैं, बसें भी अच्छी नहीं, इसलिये रूस के मजदूरों को लम्बे रास्ते तय करने में बहुत कष्ट होता है। सभा में बैठे कम्युनिस्ट यह सब सुनकर उनके पीछे पड़ गये। पूछने लगे—"आपका उपन्यास कितने दिन में पूरा होगा?"

"छः महीने में" इवानोवने अनुमान करके बताया।

"सैन्सर होने में दो-चार महीने लगेंगे और छपने में और दो-चार महीने,"—कम्युनिस्ट कहने लगे—"आपकी पुस्तक प्रकाशित होते-होते

एक वर्ष तो लग ही जाएगा। तब तक तो हमारे देश में सब सड़कें बहुत अच्छी बन जाँएगी। नई बसें आ जाएँगी और कारखाने के पास ही नए और सुन्दर मकान बन जाँएगे, ताकि मजदूरों को दूर से न आना पड़े। आप इन तमाम सुविधाओं को वर्तमान मानकर क्यों नहीं अपना उपन्यास लिखते?"

एक बार मैं बीमार पड़ा। कई हफ्ते तक चारपाई पकड़े रहा। कुछ बन्धुओं ने टेलीफोन पर मेरा हाल-चाल पूछा, तो मेरी स्त्री मारकूशा कहने लगी—"पहले से बहुत अच्छे हैं। लेकिन इनको मालूम नही है कि पहले से अच्छे हैं।" मारकूशा भी घर के भीतर "समाजवादी यथार्थवाद" की साधना कर रही थी। मुझे सुनाकर उसने ये शब्द कहे थे, ताकि मेरे ऊपर अच्छा असर पड़े। वर्तमान को झुठलाने का यह तरीका सोवियत् सरकार का एक प्रधान अस्त्र था। जो आशा को छोड़कर ठोस यथार्थ की ओर संकेत करने की धृष्टता कर बैठते उनको बूर्जुआ कहकर गाली दीं जाती थी। इस आशावाद से नौजवानों और बूढ़ों को कुछ आश्वासन-सा मिलता रहता था। जिनको यह आशा थी कि सोवियत् समाज मानव जाति के उद्धार की ओर बढ़ेगा, उनके लिये भी यही एक मन्त्र था जिसको जपकर वे अपना विश्वास बनाए रखते थे। एक राई के बराबर उन्नति यदि उनको किसी ओर दिखाई देती थी, तो उसी का पहाड़ बना-बनाकर वे बखान करते थे।

मकान इत्यादि का बनाना मुझे हमेशा अच्छा लगा है। इसीलिये सोवियत् यूनियन में बड़े-बड़े कारखाने, बिजली-घर और नगर इत्यादि बनते देखकर मेरा हृदय नाच उठता था। फिर आशा का चश्मा आँखों पर चढ़ा था। कहता रहता था कि अभी तो शुरूआत ही हुई है, प्रोग्रम पूरा होने पर तो रूस का नक्शा ही बदल जाएगा और जनता के जीवन-स्तर में जो वृद्धि होगी, उससे यह साबित हो जायगा कि रूस की सरकार जनता की सरकार है, जो केवल जनता के हित की साधना ही करती रहती है। इन्हीं दिनों सोवियत् समाचार-पत्रों में औद्योगिक प्रगति के आँकड़े छपने लगे। वे मानो उस महान् संगीत के पद थे, जो गा-गाकर हम नए समाज का स्वागत करेंगे। खारकोव में जब ट्रैक्टर बनाने के कारखाने की नींव रक्खीं गई, तो मैं वहीं था। मैंने

कारखाने के लिये भूमि को समतल होते देखा। आए साल मैं वहाँ जाकर कारखाने की प्रगति देखता था। मेरा उस कारखाने से गाढ़ सम्बन्ध हो गया। इसी प्रकार नीपर बांध की नींव रक्खी जाने पर मैं चीफ इञ्जीनियर के साथ उस नदी पर गया और उन खम्बों पर चढ़ा, जो कि बाँध को सँभालने के लिये बनाए गए थे। पांच साल बाद वहां सौ फीट ऊँचा, तीन फर्लाङ्ग लम्बा एक बाँध तैयार हो गया और मैं मोटर में बैठकर उस पर घूमा। सोवियत् सरकार ने उजाला, आग और अन्य जरूरी वस्तुएँ करोड़ों लोगों तक पहुँचाने का प्रबन्ध किया था। जब नाज़ी लोगों ने उस बाँध के एक अंश को उड़ा दिया, तो मुझे चोट-सी लगी।

१९२९ में भयानक मन्दी का बवण्डर उठा। करोड़ों बेकार हो गए और रोटी को तरसने लगे। बहुत से कारखाने और बिजली-घर बन्द हो गए। मेरी तराजू पर सोवियत् सरकार का पलड़ा और भी भारी हो गया। पूँजीवाद की दुर्दशा ने मुझे रूस में विश्वास करने के लिये उकसाया। पूँजीवादी देशों के अर्थशास्त्री और बुद्धिशाली लोग रूस में आ-आकर वहाँ की आर्थिक व्यवस्था कर अध्ययन करने लगे। वे अपने देशों में उस व्यवस्था को लागू करना चाहते थे। रूस में एक ओर शिल्पोद्योग बढ़ रहे थे, दूसरी ओर खेती का एकीकरण शुरू हो गया। एक काम के करने में ही किसी भी राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग हो जाता। किन्तु बाल्शेविक तो मानो शक्ति के अक्षय अवतार थे, जो दो-दो काम एक ही साथ सँभालने लगे। १९२९ में उन्होंने एक आन्दोलन चलाया, जिसके फलस्वरूप दस करोड़ व्यक्तिगत खेत मिलाकर बड़े-बड़े सामूहिक फार्म बनाने की व्यवस्था की गई। किसानों के संसार में यह एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी। खेती के एकीकरण से उत्पादन अनेक गुणा बढ़ जाने का आशा थी। कहा जाता था कि जिस प्रकार जुलाहे के करघे का स्थान कारखाने ने लेकर कपड़े का उत्पादन कई गुना कर दिया, उसी प्रकार बड़े फार्म पर मशीनों द्वारा खेती करके पैदावार कई गुना बढ़ाई जा सकेगी। मुझे ऐसा लगा जैसे इतिहास एक नई मंजिल पार करने वाला है और बॉल्शेविक लोगों ने इतिहास के एक युग को दो ही तीन वर्षों में बदलने का बीड़ा उठाया है। रूस में विदेशी दर्शकगण

अपना भाग्य सराह रहे थे। उनकी आँखों के आगे इतिहास निर्माण हो रहा था।

किन्तु किसानों के एकीकरण से बहुत से रूस के हमदर्दों की आँखें भी खुलने लगीं। मेरी आँखें खुलने में अभी देर थी। किन्तु रूस के बाहर और भीतर बहुत से लोगों ने स्पष्ट देखा कि एकीकरण पुरानी दास-प्रथा का दूसरा नाम है। किसान अपनी जमीनों से हाथ धोकर गुलाम बन गए, जिन को गाँव के कम्युनिस्ट डण्डे के जोर से हाँकने लगे। अब किसानों को बीज, औजार, काम, ढोर, पूँजी तथा मजदूरी के लिये सरकार का मुँह ताकना पड़ता था। खेती के एकीकरण के विरुद्ध किसानों ने डटकर लड़ाई की। देश के कोने-कोने में बलवे हुए और हमने सरकार का दमन भी देखा। लाखों खुशाहाल किसानों को घर से निकालकर दास-कैम्पों में भेजा गया। फिर भी देहातों में विद्रोह नहीं मिटा। गरीब किसानों ने सामूहिक खेतियों में अपने ढोर देने से इन्कार कर दिया और सामूहिक के सदस्य बनने से पहले उन्होंने ढोरों को या तो बेच डाला अथवा मारकर खा लिया। इसके फलस्वरूप ढोरों और घोड़ों की जो कमी रूस में पड़ी, वह आज तक भी दूर नहीं हो सकी है। सरकार ने सामूहिक रूप में किसानों को भर्त्ती करने के लिए बल का प्रयोग किया। लाल फौज के दस्ते प्रत्येक गाँव में जाकर किसानों को सामूहिक बनाने के लिये बाध्य करने लगे। किसानों को धमकी दी गई कि यदि वे सामूहिक में भरती नहीं होते, तो उनको 'जमींदार' बताकर साइबेरिया अथवा तुर्किस्तान भेजा जाएगा। इस प्रकार रूस के अधिकांश किसानों को सामूहिक खेतियों में बाँधा गया। किन्तु सामूहिक के सदस्य बनकर भी क्षुब्ध किसानों ने सहयोग करने से इन्कार कर दिया और खेती के काम में रोड़े अटकाए। उनको आशा थी कि सरकार अपनी भूल मानकर वह घातक नीति छोड़ देगी और इस प्रकार १९३१-३२ का वह महान अकाल पड़ा, जिसमें करोड़ों किसानों के प्राण गए। गांव के गांव उजड़ गए। बॉल्शेलिकों को अपनी हठधर्मी का बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पडा।

१९३२ और १९३६ के बीच मैंने यूक्रेन, क्राइमिया, कौकेसस तथा उत्तरीय रूस में जाकर बहुत से सामूहिक खेत देखे। खेत के छोटे-छोटे

टुकड़ों से तो वे बहुत अच्छे थे। छोटे-छोटे खेतों के बीच बनी बाड़ें और मेंड़ें नदारद थीं। मशीनों से काम हो रहा था। बच्चों के विश्राम-गृह और किंडरगार्टन बन चुके थे और विज्ञान के अनेक नए-नए आविष्कार भी गांव में पहुँच रहे थे। मैं अपने मन में हिसाब लगाने लगा कि क्या नफे-नुकसान की रोकड़ इस प्रकार मिल जाती है। मेरे मन में अपनी दृष्टिभंगी को लेकर एक शंका उठने लगी। मैं फौलाद और बिजली को एक पलड़े में रखकर मनुष्य की यन्त्रणा से तोल रहा था। वे समस्त स्कूल, जूते, पुस्तकें, ट्रैक्टर, बिजली, रेल इत्यादि मिलकर कभी भी उस स्वर्ण-युग की सृष्टि नहीं कर सकते थे, जिसकी मैं प्रतीक्षा कर रहा था। यदि उस वस्तु-समुदाय को पैदा करने में अनैतिक और पाशविक तरीकों का सहारा लिया गया था, तो जीवन के वे समस्त साधन बेकार थे। सोवियत् यूनियन के प्रति मेरे हृदय में वह पुराना पूजा-भाव अक्षुण्ण न रह सका।

फिर बॉल्शेविकों ने वे झूठे मुकदमे चलाने शूरू कर दिए। पहला मुकदमा १९२८ में हुआ था। प्रायः पचास सोवियत् इञ्जीनियरों पर आरोप लगाया गया था कि उन्होंने विदेशी सरकारों के गुप्तचर बनकर उत्पादन में बाधाएँ डाली हैं। मैंने कचहरी में बैठकर सब सुना और देखा। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या सत्य मानूँ और क्या मिथ्या। कुछ-कुछ तो मुझे सत्य मालूम होता था। किन्तु बहुत कुछ सुनकर आश्चर्य ही हुआ और जब बन्दूक लिये हुए खुफिया पुलिस का एक सिपाही एक व्यक्ति को कचहरी में लाया तो मेरे मन मे अविश्वास बढ़ने लगा। व्यक्ति का नाम था मुखिन। आज भी मुझे उसका नाम, वेश-भूषा तथा शकल-सूरत याद है। उसने एक अभियुक्त राबिनोविच के विरुद्ध गवाही दी। अभियुक्त प्रायः सत्तर साल का था। उसने सरकारी वकील को नाकों चने चबाए थे। उसके विरुद्ध पक्का सबूत जुटाने के लिए ही मुखिन को लाया गया था। मुखिन भी किसी ओर सिलसिले में कई महीने से जेल काट रहा था। उसने कसम खाकर कहा कि उसने अपने हाथ से राबिनोविच को उसके अपने लिए तथा उसके साथियों के लिए घूस का रुपया दिया था।

राबिनोविच बढ़ कर उसके निकट पहुँचा और उससे बोला—"आप किसके बारे में यह सब कह रहे हैं? मेरे बारे में या और किसी के बारे में?"

"आप के बारे में—मुखिन ने उत्तर दिया।

"क्यों झूठ बोलते हो"—राबिनोविच ने चीत्कार किया—"किसने तुम्हें झूठ बोलना सिखाया है? तुम अच्छी तरह जानते हो कि तुमने मुझे कोई रुपया नहीं दिया।

मुखिन का मुख और पीला पड़ गया। वह कठपुतली की तरह वही एक बात बार-बार कहता रहा। और फिर वह सशस्त्र सिपाही उसे कचहरी से खदेड़ ले गया। सरकारी वकील भी शरमा कर रह गया। सब समझ गए थे कि मुखिन की गवाही पुलिसवालों ने तैयार की थी। मैंने अपने परिचित, रूस के विदेश विभाग में काम करने वाले एक उच्च अधिकारी से अपने मन की बात कह डाली। वह मुझ पर विश्वास करता था। उसने भी मान लिया कि मुखिन की गवाही पुलिस ने गढ़ी थी। मुखिन की झूठी गवाही अपने-आप में कोई बहुत बड़ा बात नहीं थी। किन्तु रूस में पुलिस की ताकत बढ़ती जा रही थी और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे मनमानी करने लगे थे। १९२८ में उन्होंने ट्राट्स्की को गिरफ्तार कर देश निकाले का दण्ड दिया। उसका अपराध स्टालिन के साथ सिद्धान्त की बातों पर मतभेद मात्र था। क्रान्ति के पूर्व और लेनिन के समय में इस प्रकार के मतभेदों पर पार्टी में विवाद होता और सदस्यों की राय लेकर फैसला किया जाता। किन्तु अब तो पुलिस की गोली ही सब बातों का फैसला करने लगी थी। मैं आज नहीं कह सकता कि ट्राट्स्की और स्टालिन में कौन ठीक था, कौन गलत। अपनी पुरानी रिपोर्ट पढ़ कर देखता हूँ कि उस समय भी मैंने किसी का पक्ष नहीं लिया था। किन्तु इतना मैं आज कह सकता हूँ कि मतभेद को मिटाने के लिए पुलिस को काम में लाना कम्युनिस्ट पार्टी के लिए एक बड़े दुर्भाग्य की बात थी। इसके बाद तो देश का शक्तिशाली व्यक्ति बुद्धिमान भी माना जाने लगा। मतभेद रखनेवालों को अपनी जान की फिक्र होने लगी और चुप रहना ही वे ठीक समझने लगे। ईमानदारी ने हार खाई, मिथ्याचार का बोलबाला हुआ।

मैं इन घटनाओं को देखता रहा किन्तु मैं तब तक यह नहीं समझ सका था कि रूस की अवनति शुरू हो चुकी है। इसके बाद रूस में सत्य को चुप रहना पड़ा और मिथ्या चीत्कार करने लगा। इन्हीं दिनों स्टालिन को देवता बनाकर उसकी पूजा भी रूस में शुरू हुई। इस पूजा को देखकर मैं विद्रोह कर उठा। सरकारी प्रचार, जिसको स्टालिन स्वयं चलाता था, कहने लगा कि स्टालिन से कभी कोई भूल नहीं हो सकती, स्टालिन करुणा की मूर्ति हैं, सब कुछ जानता है, और रूस में जो कुछ शुभ हुआ है वह सब स्टालिन के हाथों से। रूस के किसी नागरिक को जीवन में जो कुछ सुख-साधना मिले हैं, वे सब स्टालिन का ही प्रताप हैं। इत्यादि इत्यादि। इन सब बातों का एक ही अर्थ था। रूस में जो कुछ भूलें, जनता का संताप और असफलता देखी जाती थी, वह सब ट्राटस्कीवादी, जनशत्रु, गद्दारों की करतूतें थीं। मैं तिलमिला उठा। १९३० में मैंने मास्को से एक लेख लिखकर न्यूयार्क में प्रकाशित किया। मैंने इस सब मिथ्याचार के लिए स्टालिन को दोषी बताया और खुलेआम स्टालिन को बॉल्शेविज्म का शत्रु कह दिया। मेरी एक भूल थी जो मैं आज देख पा रहा हूं। स्टालिन वास्तव में वहीं कर रहा था जो कि एक बॉल्शेविक के लिए अनिवार्य है। तानाशाह को यह सब करना ही होता है। मुसोलिनी और हिटलर को भी अपना गुणगान करवाना पड़ा। उस समय किन्तु मैं नहीं समझ सका कि स्टालिन और रूस का यह कुत्सित काम एक मरणात्मक रोग के चिन्ह थे। मैं उसे एक स्वस्थ शरीर पर एक-दो फुन्सी मान बैठा। अभी तक मेरा ख्याल था कि रूस में गुण अधिक हैं और अवगुण बहुत कम। आशा ने मुझे अन्धा बना दिया था। आँखों से सब कुछ देख रहा था। किन्तु विश्वास ने हिलने का नाम न लिया।

शायद मेरे भीतर सत्य धीरे-धीरे अपना अधिकार जता रहा था। किन्तु अभी तक वह चोट पड़ना बाकी था जिसके फलस्वरूप वह सत्य मैं चेतन मन से स्वीकार कर पाता। फिर १९३३ में हिटलर के उदय ने मेरे सम्मुख रूस से गठबन्धन करने के लिए प्रमाण उपस्थित कर दिए। नाजी लोग उच्च स्वर से अपनी मान्यताओं का प्रचार कर रहे थे। मुझे विश्वास हो गया कि यदि

नाजी जीत गए तो संसार बर्बरता के युग में लौट जाएगा। जर्मनी के कम्युनिस्टों ने सत्ता हथियाने में हिटलर की सहायता की थी। कम्युनिस्टों ने सोचा था कि एक बार गणतान्त्रिक शक्तियों का विनाश होने पर उन्हें नाजियों से खुलकर लड़ने का सुअवसर मिलेगा। यह भूल कम्युनिस्ट बार-बार करते रहे हैं। किन्तु जर्मनी में नाजियों की सत्ता स्थापित हो गई। जर्मनी के कम्युनिस्टों ने उनके साथ संघर्ष शुरू किया। एक साल के सोच-विचार के बाद सोवियत् सरकार भी उनका समर्थन करने लगी। पूँजीवादी देशों की आँखें हिटलर की ओर से खुलने में कुछ देर थी।

महायुद्ध को रोकने के लिए रूस के विदेश मंत्री लिट्विनोव ने फासिस्ट विरोधी मोरचे की एक जोरदार अपील की। लीग आफ नेशन्ज में उसने हिटलर, मुसोलिनी और जापान को बढ़ावा देनेवालों की तीव्र भर्त्सना की। शान्तिवादियों, पत्रकारों और साहित्यिक लोगों में लिट्विनोव का यश खूब बढ़ा। किन्तु पूँजीवादी सरकारों ने अपनी अवसरवादी नीति नहीं बदली। आज यह कहना भूल है कि द्वितीय महायुद्ध केवल हिटलर आदि की करतूत था। हिटलर को सहारा देनेवाले बहुत से ऐसे लोग थे जिनको गणतन्त्र में विश्वास था और और जो गणतन्त्र के लिए लड़ने की क्षमता भी रखते थे। मुझे हिटलर का विरोध करना अधिक उचित लगा। रूस ने युद्ध और फासिज्म के विरुद्ध विश्वव्यापी मोरचा तैयार करने की अपील की थी। मास्को के कठोर समालोचकों को भी रूस पर अपने कटाक्ष बन्द करने पड़े और कम्युनिस्टों के साथ हाथ मिला कर वे सब उस संयुक्त मोरचे में आ गए। जिनको रूस से गहरी चोट पहुंची थी, वे भी चुप हो गए। किन्तु हिटलर के उदय के दो-तीन साल बाद तक बहुत कम नए लोग कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुए। रूस में जनता का जीवन-स्तर ऊपर उठने लगा। किन्तु कम्युनिस्टों का नैतिक ह्रास हो रह था और उनका आदर्शवाद मिटता जा रहा था। पुलिस के हमलों से आतंकित पार्टी स्टालिन के हाथ की कठपुतली बन चुकी थी। पार्टी की नौकरशाही और सरकार की नौकरशाही मिलकर एक हो गईं। चारों ओर चापलूस और कमीने लोगों का बोलबाला होने लगा।

पार्टी के उच्चाधिकारी भी विचार के स्थान में भय से काम करते थे। जनकल्याण की जगह घोर स्वार्थपरता ने ले ली। जिसने कभी पार्टी के साथ मतभेद दिखाया था अथवा जिनपर कुछ समझदार होने का शक हो जाता था, उन सबको रात में पुलिस उठा ले जाने लगी। धीरे-धीरे रूस के समस्त साहसी और बद्धिमान लोग साइबेरिया के गुलाम-कैम्पों में जाकर "समाजवाद" के निर्माण में हाथ बँटाने लगे।

सरकार की मशीन में पुर्जे बनकर काम करने वाले लोग साधारण कोटि के, वक्त के अनुसार चलनेवाले, चाटुकार, डरपोक और जीहुजूरी करके जीवन बितानेवाले हो गए। वे हो-हल्ला मचाकर पार्टी और सरकार के अनुयायी होने का दम भरते थे। सरकारी प्रचार को दोहराना ही उनका काम था और इस भ्रष्ट-जीवन से भागकर भोग-विलास के प्रति उनका आकर्षण बढ़ता जा रहा था। क्रेमलीन ने फरमान निकाला कि समानता का दावा तो पूँजीवादी देशों में ही उचित है, सोवियत् रूस में ऐसा कोई दावा नहीं चल सकता। इसलिए रूस में अमीरों और गरीबों के बीच असमानता बढ़ते-बढ़ते पूँजीपति देशों को भी मात कर गई। मजदूरों को मजदूरी घण्टों के हिसाब से नहीं, उत्पादन के हिसाब से मिलती थी। ट्रेड यूनियन कागजी संस्थाएँ बन गईं और कारखानों के डायरेक्टरों को नौकरी देने, वेतन बढ़ाने और जवाब देने का पूरा अधिकार मिल गया।

दिसम्बर १९३४ में एक नवयुवक ने लेनिनग्राड के कम्युनिस्ट शासक कीरोव की हत्या कर डाली। वह रूस में चौथे नम्बर का बॉल्शेविक नेता था। पुलिस ने तुरन्त ही जेल से १०३ आदमियों को निकाल कर गोली से उड़ा दिया। वे बन्दी कीरोव की हत्या के पूर्व ही न जाने किस-किस अपराध में पकड़े हुए थे। इसके उपरान्त लेनिन के साथी जिनोवीव पर भी साजिश का दोष लगाकर उसे साइबेरिया भेज दिया गया। फिर लेनिनग्राड के पुलिस अधिकारियों की शामत आई। मेरा मन ग्लानि से भर गया। मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि समाजवादी देश मे राज्यसत्ता धीरे-धीरे तिरोहित हो जाएगी। किन्तु यहाँ तो उल्टा वह एक पैशाचिक रूप धरती जा रही थी। देश

के बाहर सोवियत् सरकार फासिज्म के विरुद्ध एक गणतन्त्र मोरचा बनाने में लगी थी। मुझे ऐसा लगा कि यह सम्भव नहीं है। जिस देश के भीतर गणतन्त्र का इस प्रकार गला घोंटा जाए वह भला बाहर गणतंत्र का रक्षक किस प्रकार हो सकता है? इसीलिए मैंने न्यूयार्क के पत्र 'नेशन' में लिखा कि शान्ति के शत्रुओं को हराने के लिए यह आवश्यक है कि सोवियत् यूनियन के भीतर भी गणतन्त्र का प्रसार हो। एक दिन मैंने अपने लेख का यह वाक्य उस्मान्सकी को पढ़ कर सुना दिया। वह विदेश-विभाग के समाचार-पत्र सम्बन्धी सेक्सन का प्रमुख था। उसका सहकारी बोरिस मिरोनोव भी उपस्थित था। मिरोनोव ने मेरी बात का समर्थन किया। उस्मान्सकी ने किन्तु मेरी बात को ऊटपटांग कह कर उड़ा दिया। पीछे चल कर एक मुकदमे में मिरोनोव को गोली से उड़ाया गया। उस्मान्सकी वाशिंगटन में राजदूत बन कर आए, किन्तु हवाई जहाज की एक रहस्यमय दुर्घटना में उनकी मौत हो गई।

रूस में गणतन्त्र विशेष प्रयोजनीय था। हिटलर के विरुद्ध मोरचा बनाना बहुत आसान हो जाता। यदि रूस में गणतन्त्र होता तो इंगलैण्ड और फ्रांस में चेम्बरलेन और दलेदिये को हराना सम्भव हो जाता, क्योंकि प्राय: सभी शान्तिप्रिय लोग उनके विरुद्ध खड़े हो जाते। किन्तु रूस को शान्ति के मोरचे में देखकर कितनों को तो विश्वास ही नहीं हुआ कि मोरचा ईमन्दार लोगों का संगठन है। गणतन्त्र होने से रूस में वे हत्याएँ नहीं होती जो कि स्टालिन ने कीं और जिनके कारण रूस आर्थिक और युद्ध की दृष्टि से दुर्बल बन गया। गणतंत्रवादी रूस कभी भी हिटलर के साथ १९३९ वाली सन्धि नहीं करता। संक्षेप में यह कहना होगा कि गणतंत्रवादी रूस दूसरे महायुद्ध को रोक सकता था, जब कि रूस में सर्वग्रासी तानाशाही होने के कारण वह महायुद्ध अवश्यम्भावी बन गया। स्टालिन सूझबूझ वाला आदमी था। यह नहीं कहा जा सकता कि ये सब बातें वह समझता नहीं था। रूस के भीतर हत्याकाण्ड ने जनता की राजभक्ति को करारी चोटें पहुँचाई हैं, यह भी स्टालिन जानता था। क्रान्ति में बॉल्शेविकों ने जो कीर्ति अर्जन की थी, वह

प्रायः-प्रायः सारी वे खो चुके थे। शायद खाने के लिए रोटी मिलती थी, किन्तु रोटी खाकर ही मनुष्य नहीं जीता, उसे कुछ आशा, विश्वास और प्रेरणा भी चाहिए। सरकार को जनता के समर्थन की जरूरत थी। किन्तु जनता को कुचलकर सारे अधिकार पुलिस, फौज और नौकरशाही को दे दिए गए। नई हुकूमत के ये ताबेदार उस हुकूमत को कायम रखने के लिए सब कुछ करने को तैयार थे। जनता को अपने साथ लेने के अब दो रास्ते बचे थे। या तो जनता को आजादी दी जाती, या उनके राष्ट्र प्रेम को भड़काया जाता। स्टालिन ने दूसरा रास्ता चुन लिया।

रूस का भविष्य नष्ट हो चुका था। उधर से पीठ मोड़कर अतीत की ओर जाना रूस के लिये अनिवार्य हो गया। क्रेमलीन ने १९३४ में ही यह नीति अपनाना शुरू कर दी थी। जर्मनी में नाजियों ने जर्मनी के अतीत की गाथा गाकर क्रान्ति पैदा की थी और रूस के अतीत की याद दिलाकर बॉल्शेविक क्रान्ति ने आत्महत्या कर ली। रूस का अतीत महान है। ज़ार के विरुद्ध विद्रोह करने वाले अनेक वीरों के नाम रूस के इतिहास में मिलते हैं। किन्तु स्टालिन ने इन वीरों का गुणगान करने की इजाजत नहीं दी। स्टालिन के नये देवता थे, रूस के पुराने ज़ार—ईवान, पीटर, कैथेरिन अथवा क्रान्ति विरोधी राजसामन्त और सेनानायक। रूस के पुराने, ज़ारभक्त सेनानायक सुवोरोव की पूजा होने लगी। अभी तक लोगों को सिखाया गया था कि मध्ययुग में रूस के साधु-संन्यासी सब जनता के शत्रु थे। किन्तु अचानक कहा जाने लगा कि वे साधु-संन्यासी हीं तो रूस के प्रातः स्मरणीय हैं। विश्वास की धांधली तो फैलती ही। ऐसी ही धांधली उस दिन फैली थी, जब कि ट्राट्स्की को क्रान्ति के नेतृत्व-पद से उतारकर क्रान्ति-विरोधी फासिस्ट ठहराया गया था। देश के शहीदों और शत्रुओं को जाँचने की कोई कसौटी ही नहीं रह गई। यदि ट्राट्स्की फासिस्ट और ईवान क्रान्ति-दूत हो सकता है, तो कौन जाने कि आज के देवता कल दैत्य बन जाएँगे कि नहीं? विश्वास के भ्रष्ट होने पर मिथ्याचार और पाखण्ड को बढ़ावा मिलने लगा। यदि सत्य और झूठ का निर्णय एकमात्र सरकार के हाथ में है, तो खैर इसी में हो सकती

है कि सिर झुकाकर सदा सरकार की मान लेनी चाहिये। इस प्रकार जान बचने की सम्भावना तो रहती है।

सोवियत् यूनियन में अनेक जातियाँ है, जिनका अलग-अलग इतिहास है। ज़ार का राज वस्तुतः रूसी जाति का ही राज था और अभी तक कम्युनिस्ट ज़ारशाही को "जातियों का बन्दीगृह" कहते आए थे। किन्तु अचानक उन्होंने इतिहास बदल डाला। ज़ारशाही बन्दीगृह न रहकर राष्ट्र की रीढ़ कही जाने लगी। अल्पमत जातियों का दमन होने लगा। सब जातियों पर रूस भाषा लादी गई। ज़ारशाही के पुराने प्रतीक जिनसे कम्युनिस्ट घृणा करते आए थे, अब एक-एक करके लौटने लगे। सेना के अफसरों ने पुराने बिल्ले लगाना शुरू कर दिया। रूस का राष्ट्रवाद अब चीत्कार करने लगा कि रूसी जाति ही संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है। अभी तक सोवियत् यूनियन का राष्ट्रीय गान "इन्टर्नेशनल" रहा था। उसको हटाकर रूस का एक राष्ट्रीय गान अपनाया गया। सोवियत् यूनियन के धर्म-प्रतिष्ठान भी इसी राष्ट्रीयता का पोषण करने में लगाए गए। मार्शल पदवीधारी रूस के फौजी अफ्सर गौयरिंग से होड़ लेने लगे। रूस में साम्राज्यवाद का उदय हुआ। कहा जाने लगा कि यूरोप में बसने वाली समस्त स्लाव जातियाँ एक हैं। यह प्रचार उतना ही भयानक था, जितना कि नाज़ियों का जर्मन-एकता सम्बन्धी प्रचार। इस प्रचार की आड़ में हिटलर ने आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया तथा पोलैण्ड की हत्या करने की तैयारी की और स्लाव-एकता के नाम पर रूस समस्त बाल्कन अंचल पर प्रभुत्व जमाने के लिये कटिबद्ध हो गया।

१९३५ में अचानक काना-फूँसी होने लगी कि शीघ्र ही रूस का एक गणतन्त्रात्मक संविधान बनेगा। १९३६ में वह संविधान बनकर लागू हो गया। उसे स्टालिन संविधान कहते हैं। मेरे मन में फिर आशा जागने लगी। मैं खोया हुआ विश्वास लौटाना चाहता था। रूस से मैंने अपनी भावनाएँ बाँधी थी। चाहता था कि रूस फिर बदलकर अपना आदर्शवादी रूप पा जाए। मैंने सोचा कि शायद स्टालिन ने जनता की मांग को मानकर उसे स्वाधीन करने का फैसला किया है। जनता ने क्रांति के बाद स्वाधीनता नहीं पाई थी। ज़ार

के राज्य में बॉल्शेविक राज्य से कई गुनी स्वाधीनता थी। मैंने सोचा कि क्रान्ति के शत्रुओं को दबाने और नष्ट करने के लिए स्वाधीनता का अपहरण आवश्यक था। अब तो किन्तु सोवियत् यूनियन में सारे शत्रु-वर्गों का ध्वंस हो चुका था और अपनी राज्य-प्रणाली को खतरे में डाले बिना ही स्टालिन जनता को स्वाधीनता दे सकता था। स्वाधीनता पाकर जनता में नई चेतना जागेगी, नया उत्साह उमड़ेगा और सरकार के समस्त काम और उत्पादन की वृद्धि अधिक सुविधा से हो सकेगी। मैं विश्वास करना चाहता था कि आदर्शवाद से जन्मी हुई तानाशाही स्वयं अपने आप को मिटा सकती है।

संविधान में मुझे कुछ कमियाँ खटकीं। जनता को अधिकार तो खूब दिए गये थे, किन्तु उन अधिकारों को सार्थक बनाने के लिये संविधान में कोई सुझाव नहीं था। संविधान की रक्षा के लिये न्यायालय की तजबीज भी मैंने नहीं देखी वह संविधान प्रकाशित होने से पहले मैंने कार्ल राडेक से उस विषय में बातचीत की। राडेक सोवियत् लेखक था, लेनिन का मित्र, पार्टी का विश्वासी सदस्य, स्टालिन का सहकारी और बातचीत में अत्यन्त बुद्धिशाली। वह सब प्रश्नों का उत्तर दे सकता था। वह सवाल पूछा करता, किन्तु कोई दूसरा उत्तर दे, उसके पहिले स्वयं ही वह बता देता था कि उत्तर क्या है। मैंने राडेक से कहा—"संविधान का सबसे प्रधान प्रश्न है खुफिया पुलिस का भविष्य।"

वह सन्नाटे में आ गया। दो मिनट तक चुप रहकर वह अपने कमरे में टहलता रहा। फिर बोला—

"तुम्हारी बात ठीक हैं।"

स्टालिन खुफिया पुलिस से आशंकित हो उठा था। यगोदा के अधिनायकत्व में पुलिस रूस की तानाशाही करने के लिये प्रयत्नशील हो रही थी। कुछ दिन बाद यगोदा को स्टालिन ने मरवा डाला। किन्तु स्टालिन ने पहिले पुलिस की कमर तोड़नी शुरू कर दी। कुछ लोग सोचने लगे कि शायद पुलिस को दबाकर और सुधारकर स्टालिन रूस में गणतन्त्र का समावेश कर दे। अन्यथा तो वह स्टालिन संविधान एक झूटे प्रचार का बहाना

बनकर रह जाएगा, जिससे कि भोले-भाले रूसियों और विदेशियों की आँखों में धूल झोकी जा सके। मैं जब आशा बाँध रहा था, तभी वज्रपात हुआ। मैंने देखा कि पुलिस का न तो दमन हुआ न सुधार। उसको एक नया रूप देकर जनता को कुचलने का और भी शक्तिशाली साधन बना डाला गया। १९३६, १९३७ और १९३८ में होनेवाले मास्को के प्रसिद्ध मुकदमों की तैयारी की जा रही थी। उनमें हजारों निर्दोष लोगों के प्राण लिए गए। जनता को दिखाने के लिये एक मुट्ठी भर "अपराधियों" को कचहरी में घसीटा गया। अधिकांश ने तो पुलिस के तहखानों में गोली खाकर प्राण उत्सर्ग किए। स्टालिन-संविधान के संगीत के बीच से उठनेवाला उनका आर्तनाद मुझे स्पष्ट सुनाई देने लगा। सोवियत् यूनियन पर एक गहन अन्धकार छाने लगा और वहाँ से निकल भागने के लिये मैं तैयार हो गया।

मुझे सोवियत् जनता से प्यार था। वहां बने हुए नए कारखानों और खेतों पर मैंने आशा बांधी थी। मैंने सोचा था कि एक न एक दिन जनता को जीवन के साधन अधिक मात्रा में मिलने लगेंगे। नए स्कूल खुल रहे थे, चिकित्सा की नई व्यवस्थाएँ हो रही थीं। जब मैं पहिले-पहल रूस में गया, तो क्रान्ति ने जनता के लिये कुछ भी नहीं किया था। तो भी जनता को क्रान्ति पर विश्वास था। जनता त्याग और बलिदान की भावना से प्रेरित होकर सब मुसीबतों को साहस के साथ झेल रही थी। उनको कम्युनिज्म में आस्था थी। कम्युनिज्म का अर्थ उस समय था विद्रोह और परिवर्तन। किन्तु अब, उन्नीस साल के बाद, सरकारी आतंक ने समस्त आशा, विश्वास, विद्रोह की भावना और साहस मिटाकर एक गन्दे समाज की सृष्टि कर डाली थी। आदर्शवाद का स्थान स्वार्थपरता ने ले लिया था। त्याग के स्थान में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा सब ओर मिलती थी। सरकार की जीहुजूरी एवं नौकरशाही की मुरदापरस्ती ही सब ओर दीख पड़ती थी। नारे अब भी लगाए जाते थे। किन्तु उन नारों में स्वर होने पर भी प्राण नहीं रह गए थे। मेरे अन्तर में उधेड़-बुन चल रही थी कि रूस में ठहरूँ या न ठहरूँ। बहुत से सरकारी कर्मचारी मेरे मित्र थे। किन्तु वे अब दिल खोलकर बात नहीं कर पाते थे। उन्होंने भी

इशारों से मुझे समझा दिया कि मुझे चला जाना चाहिये। मास्को में रहकर पत्रकार का काम करने में मेरा जी नहीं लगता था। मैंने वहाँ से विदा लेने का फैसला कर डाला।

इसी समय, जुलाई १९३६ में, स्पेन का गृहयुद्ध शुरू हो गया। स्पेन की सरकार उदारवादी थी और जनता ने उसको चुना था। उसके विरुद्ध कुछ अमीर और जंगबाज लोगों ने साजिश की तथा विद्रोही जनरल फ्रैंकों की मदद करने का फैसला किया। मैं दो बार स्पेन जा चुका था। वहां के लोगों ने मेरा हृदय जीत लिया था। वे अशिक्षित और भूखे थे, तो भी उनमें एक संस्कृति की छाप मैंने देखी थी। उनमें एक आत्म-सम्मान की गम्भीर भावना मैंने पाई थी। एक स्पेनिश स्त्री ने मुझे कहा था—"हम खड़े-खड़े मर भले ही जाएँ, किन्तु घुटने नहीं टिका सकते।" किन्तु कई सौ साल से उनको घुटने टिकाकर ही जीना पड़ रहा था। कुछ अमीर लोग उनका शोषण करते रहते थे और उन्हें आगे की ओर देखने की इजाजत नहीं देते थे। फ्रैंच क्रान्ति की हवा को उन सत्ताधीशों ने स्पेन में नहीं घुसने दिया था। अब बीसवीं सदी स्पेन पर अपनी छाप डालना चाहती थी, तो उनको फ्रैंको मिल गया। हिटलर और मुसोलिनी ने हथियार और आदमी भेजकर फ्रैंकों की सहायता की। स्पेन में फासिज्म के विरुद्ध खुली लड़ाई छिड़ गई। इस लड़ाई के निकट रहने के लोभ से मैंने रूस छोड़ दिया। रूस में जनता पुलिस के तहखानों में मर रही थी। स्पेन में जनता को मरने के लिये कम से कम रणभूमि तो मिली थी। स्पेन का वातावरण शोकमय था, किन्तु उस शोक में एक आन की बू थी।

स्पेन के गृहयुद्ध ने रूस के प्रति आंखें खोलने से मुझे रोक लिया। मेरा समस्त उद्यम सिमटकर उस ओर जा लगा। फिर भी मन के किसी कोने में रूस के सम्बन्ध में संशय किलिबलाते रहे। अब मुझे रूस को दूर से देखने का अवसर मिला था। फासिज्म के विरुद्ध स्पेनिश जनतन्त्र का संघर्ष बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में राजनीतिक आदर्शवाद की पराकाष्ठा मानी जाती है। रूस के लिए बाहर के लोगों की सहानुभूति अधिकतर बौद्धिक ही थी। बॉल्शेविज्म को लेकर एक तेज़ वाद-विवाद चलता रहता था। किन्तु स्पेनिश

जनतन्त्र के संकट ने लोगों के हृदय स्पर्श किए, उनके मर्मस्थलपर चोट मारी। जनतन्त्र के समर्थक स्पेन की जनता से प्यार करते थे और उस जनता के साथ-साथ उन्होंने भी गोली, बम और भुखमरी सहने की तैयारी की थी। स्पेन का संघर्ष लोगों में भावावेश उपजा रहा था। जनतन्त्र का पक्ष निर्बल था, उस पक्ष की पराजय हो रही थी, इसलिए उस पक्ष के लिए लोगों की परेशानी की सीमा नहीं रही। उन दिनों में जिन्होंने स्पेन के साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा था, वे ही जानते है कि गृहयुद्ध के उतार चढ़ाव से किस प्रकार उनके हृदय उठते-बैठते थे।

मैं कई मास तक उस संघर्ष को देखता रहा और उसके सम्बन्ध में लिखता रहा। सहसा मुझे लगा कि स्वाधीनता और विश्वशान्ति के लिए इस घोर संघर्ष के प्रति मेरा उत्तरदायित्व कुछ और भी होना चाहिए। इसलिए मैं अन्तर्राष्ट्रीय दस्ते[१] में भरती हो गया। दस्ते में मैं पहिला अमेरिकन न था। फ्रांस का कम्युनिस्ट नेता आन्द्रेमार्ती[२] दस्ते का कमाण्डर था। वह सत्ता लोलुप व्यक्ति था और सत्ता का अनुचित उपयोग करना उसकी आदत थी। उसके अत्याचार बढ़ते गए। उसके लिए दस्ते में एक भी गैर-कम्युनिस्ट की उपस्थिति असह्य हो गई। मुझे हटाकर उसने अन्य क्षेत्र में भेज दिया। जनतन्त्र की पराजय तक मैं कुछ न कुछ करता ही रहा। हम सबको विश्वास था कि स्पेन का गृहयुद्ध तेजी से निकट आते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध की छेड़छाड़ है। जर्मनी और इटली में भी यही मान्यता थी। वे स्पेन में अपने हथियार और सिपाही बराबर भेज रहे थे और युरोप के एक महत्वशील अंचल में एक मित्रशक्ति गढ़ता चाहते थे। इसके विपरीत इग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका की आँखें खुलना तो दरकिनार, वे उल्टा अपने पांव पर कुठाराघात कर रहे थे। जो स्पेनिश जनतन्त्र फासिज्म के विरुद्ध महायुद्ध में इन देशों का साथी होता,

---

१. जनतन्त्र की मदद के लिये देश-देश से स्वयंसेवक आए थे। उन्हीं को मिलाकर यह दस्ता बना था।

२. अभी कुछ दिन पूर्व मार्ती महाशय को फ्रान्स की कम्युनिस्ट पार्टी ने बाहर निकाल दिया है।

उसी की हत्या करवाने में इन्होंने कोर-कसर नहीं रक्खी। न जाने यह पागलपन क्यों कर सम्भव हुआ?

केवल मैक्सिको और सोवियत् रूस ने ही स्पेनिश गणतन्त्र की सहायता के लिए हथियार और आदमी भेजे। किन्तु अकेले मास्को की सहायता से क्या हो सकता था। जनतन्त्र की विजय के लिए यह आवश्यक था कि चेम्बरलेन और दलेदिए अपनी घातक नीति छोड़ देते। किन्तु उनकी सहानुभूति तो फ्रैंको के साथ थी और वे नाजी जर्मनी को संतुष्ट करने पर तुले थे। उनमें सुबुद्धि आने से शायद दूसरा महायुद्ध रुक जाता, अथवा कम से कम उनको स्पेन जैसा एक मित्र राष्ट्र तो अपने पक्ष में मिल ही जाता। किन्तु वे तो और भी अन्धे हो गए। १९३८ में उन्होंने चैकोस्लोवाकिया की हत्या में भाग लिया। उनके लिए स्पेन के जनतन्त्र का साथ देना भला कब सम्भव था। जनतन्त्र दम तोड़ने लगा और रूस ने भी अपनी हाथ खींचना शुरू कर दिया।

स्पेन में मेरी अनेक रूसियों से भेंट हुई। वे अनेक कामों में लगे हुए थे। उन जैसा पुरुषार्थी, बहादुर और सच्चा बन्धु कोई नहीं था। शायद जिस क्रान्तिकारी भावना की अब रूस में जरूरत नहीं रह गई थी, उसी रुद्ध भावना को उन्होंने स्पेनिश गृहयुद्ध में उंडेल दिया था। रूस में अनेक लोग आशा लगाए बैठे थे कि शायद स्पेन के सम्पर्क से रूस की मरणशील क्रान्ति फिर जीवन पा जाए। किन्तु १९३७ और १९३८ के बीच मैं अपने परिवार से मिलने के लिए मास्को गया तो मैंने देखा कि रूस पर फैलता हुआ अन्धकार और भी गाढ़ा होने लगा है। स्टालिन और उसके जल्लाद येझोव ने पार्टी के प्रमुख नेताओं की सामूहिक हत्या कर डाली थी। उस हत्याकाण्ड में साधारण कम्युनिस्ट, सरकारी कर्मचारी इञ्जीनियर, फौजी अफ्सर, कलाकार, बुद्धिजीवी, विदेशी कम्युनिस्ट, श्रमिक नेता और सामूहिक खेतियों के प्रबन्धकर्त्ता—सभी का रक्त बह रहा था। बॉल्शेविक राज्यतन्त्र अपने मस्तिष्क को खोखला करने पर तुला था। लोगों ने खुल कर बोलना छोड़े दिया था और केवल फुसफुसाने लगे थे। जेल में जाने के भय से सब काँप रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने चारों ओर गुप्तचर ही गुप्तचर दीख पड़ते थे। यहाँ तक कि सरकार के घोर चापलूस भी इस भय से मुक्त नहीं थे।

मैंने आँखें खोलकर सब देखा और सब समझ गया। किन्तु मैंने जबान नहीं खोली। मैं स्पेन में लड़ने वाले रूसियों के साथ रहना चाहता था और जनतन्त्र के पक्ष में लड़ने का इच्छुक था। स्पेन के कम्युनिस्यों ने जनतन्त्र के पक्षपर पूर्ण अधिकार जमा लिया था और रूस की नुक्ताचीनी करने वाले के लिए उस पक्ष में रहना असम्भव न था। इस लिए मैंने रूस के विषय में किसी से बात करना ठीक नहीं समझा। केवल जनतन्त्र के प्रधान मन्त्री नेगरीन और उसके दे चार विश्वस्त साथियों को ही मैंने रूस का भयानक विवरण दिया और उनको स्पेन में कम्युनिस्ट तानाशाही के खतरे से सचेत करना ठीक समझा।

रूस की घरेलू नीति की भर्त्सना करता हुआ भी मैं उसकी विदेश-नीति का समर्थक था। गणतन्त्रवादी देशों की "तटस्थता" की नीति वास्तव में फ्रेंको का समर्थन कर रही थी, जब कि रूस जनतन्त्र का साथ दे रहा था। मुझे विश्वास तो था कि एक दिन रूस की विदेश नीति भी घृणित हो उठेगी रूसी राष्ट्रवाद से दबकर बॉल्शेविज्म की जो अधोगति हो चुकी थी, उसके कारण यह रूपान्तर होना अवश्यम्भावी था। फिर भी उस समय मास्को की नीति ने रूस पर खुल्लमखुल्ला आक्षेप करने से मुझे रोके रक्खा। किन्तु मेरे सब्र का प्याला भर चुका था। एक और बूँद गिरने की देर थी। और रूस ने उसमें गागर उंडेल दी। मार्च १९३८ में फ्राको की विजय हुई। उसके कुछ दिन पूर्व स्पेन की जनतन्त्र सरकार-को मालूम हुआ कि स्पेन में लड़ने वाले रूसियों पर रूस सरकार की दया-दृष्टि नहीं है। एक-एक करके उनको रूस बुलाया जा रहा था और फिर उनका पता नहीं चलता था। आखिरकार स्पेन सरकार को विश्वास हो गया कि स्पेन में काम करने वाले तमाम रूसी नागरिकों को रूस में लौटने पर या तो मार डाला जाता है या दूर गुलाम कैम्पों में भेजा जाता है। इस विश्वास को पुष्ट करने के लिए तथ्यों की कमी नहीं थी। जेनरल गोरिव जिन्होंने मैड्रिड की रक्षा की थी, मार डाले गए। जेनरल गिरीशिन जो स्पेन में स्थित रूसी दस्तों के चीफ आफ स्टाफ थे, गिरफ्तार कर लिए गए। स्टाशेव्स्की १९३७-३८ में रूस का स्पेन-स्थित व्यापारिक प्रतिनिधि था। वह एक पोलिश क्रान्तिकारी था और नेगरीन को आर्थिक

मामलों में बहुत दिन तक परामर्श देता रहा था। उसको देश निकाला दिया गया। उसके साथी गेकिस की हत्या की गयी। कैटालोनिया में रूस के प्रतिनिधि का नाम था एन्टोनोव-एवीसेन्को। १९१७ के विप्लव में उसने जार के महल पर आक्रमण करके उसे हस्तगत्त किया था। उसे भी मार डाला गया। जनरल उरिटस्की उन जहाजों की देखरेख करते थे जो कि रूस से स्पेन तक शस्त्रास्त्र ला रहे थे। माइकेल कोल्टसोव प्रावदा के संवाद दाता बनकर स्पेन में रहे थे और सीधे स्टालिन तथा वोरोशिलोव तक समाचार पहुँचाते थे। उन दोनों को भी गोली से उड़ाया गया। ये तो मैंने चंद नाम गिनाए हैं। जो लोग स्पेन से रूस लौटकर हमेशा के लिए गुम हो गए, उनकी लिस्ट बहुत लम्बी है। उन्होंने रूस के बाहर का संसार अपनी आँखों से देखा था। रूस में जनता के बीच खुलेआम उनका मिलना-जुलना स्टालिनशाही के लिए खतरनाक था। इसलिए उनको स्पेन के जनतन्त्र के लिए लड़ने का मोल अपने प्राण देकर चुकाना पड़ा। सो भी कुत्तों की मौत मरकर।

यह सब देख-सुनकर भी मैंने रूस के विरुद्ध अपनी आवाज नहीं उठाई। इस बात के लिए मेरी नुक्ताचीनी हुई है। शायद मुझे आवाज उठानी चाहिए थी। मुझे रूस के विषय में कोई आशा नहीं रह गई थी। मैं समझ गया था कि वहाँ क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है। मैं यह भी मानने लगा था कि रूस में सुधार होने का कोई रास्ता नहीं निकल सकता। फिर भी मैं चुप रहा। मन के किसी कोने में आशा छुपी थी कि शायद कुछ परिवर्तन आ ही जाए। २३ अगस्त १९३९ के दिन स्टालिन-हिटलर समझौते ने मेरी कमर तोड़ डाली। कहा जाता है कि स्टालिन ने तैयारी के लिए समय लेने की कामनासे ही वह समझौता किया था। किन्तु यह सत्य नहीं माना जा सकता। स्टालिन ने दूसरे देशों को हथियाने के लिए ही वह समझौता किया था। अब तो वह गुप्त सन्धि-पत्र भी छप चुका है जिस के अनुसार स्टालिन और हिटलर ने संसार का बँटवारा किया था। बस उसी दिन से रूस साम्राज्यवादी देश बन गया। आज के रूस के बीज उसी दिन बोए गए थे। उसी समझौते से फायदा

उठाकर आज रूस ने एक साम्राज्य खड़ा कर लिया है और संसार की शांति पर राहू बनकर चढ़ दौड़ा है।

यदि कुछ दिन पूर्व कोई संकेत भी कर देता कि हिटलर और स्टालिन समझौता कर लेंगे तो कम्युनिस्ट और उनके समर्थक काटने को दौड़ते। ऐसे समझौते को वे कल्पनातीत मानते थे। और जब वह खबर अखबारों में छपी तो उन्होंने मानने से इन्कार कर दिया। किन्तु रूस से पुख्ता खबर पाते ही वे उस समझौते के कट्टर पक्षपाती बन गए। मास्को जो कुछ करे वही कम्युनिस्टों के लिए उचित और उपादेय होता है। इसीलिए उन्होंने उस समझौते का भी समर्थन किया। अन्यथा सभी दृष्टिकोणों से वह समझौता कुत्सित था और उसकी मार्जना नहीं हो सकती थी। उस समझौते ने रूस की अन्तर्राष्ट्रीयता की क़ब्र खोद कर रूसी साम्राज्यवाद को जन्म दिया। स्टालिन जारशाही के पदचिन्हों पर चलने लगा। रूस की जनता के जीवन में सुख जुटाने का ध्येय छोड़कर स्टालिन ने दूसरे देशों को हड़पना शुरू कर दिया। बस ताज पहनने की कसर रह गई, वरना स्टालिन जार की प्रतिमूर्ति बन चुका था। मजदूर और किसानों की कमर तोड़ कर, एक चापलूस नौकरशाही और पतित बुद्धिजीवी वर्ग की सहायता से स्टालिन ने एक साम्राज्यशाही की नींव डाली। आज रूस की सरकार एक पूञ्जीवादी सरकार है, जो सैन्यबल के जोर से दूसरे देशों की स्वाधीनता छीन लेती है। कम्युनिस्ट स्टालिन के कितने ही गुण गाएं, वास्तव में तो वह एक दास-साम्राज्य का राजा है।

जनता का कल्याण चाहने वाला और मानवता को शान्ति-पथ पर प्रगति करते देखने की कामना करनेवाला कोई व्यक्ति भला क्योंकर रूस का समर्थन कर सकता है ? कई लोग कहेंगे कि रूस की सुनाने से क्या फायदा, हमारा गणतन्त्रवादी संसार क्या कम गला-सड़ा है। ऐसे लोगों को मैं एक ही उत्तर दूंगा। इस गले-सड़े संसार में कम से-कम हम संघर्ष तो कर सकते हैं, सुधार की आशा तो रख सकते हैं। किन्तु रूस के लोग तो स्टालिन के क्रूर

शासन के विरुद्ध फुसफुसा भी नहीं सकते। मैं यह भी जानता हूँ कि किसी-किसी की आँखें खुलने में देर लगती है। स्वयं मैं ही कितने दिन तक अन्धा बना रहा। इसलिए अन्धों के लिए मेरे अन्तर में सहानुभूति ही है। जानता हूं कि एक दिन वे भी जागेंगे। मैं तो हिटलर-स्टालिन समझौता देखकर ही विद्रोह कर बैठा। कुछ और थे जिनको रूस द्वारा फिनलैण्ड पर आक्रमण देखकर चोट लगी। ब्रिटेन के एक और प्रसिद्ध उदारवादी व्यक्ति फिनलैण्ड से भी नहीं हिले। उनको १९४० में नाजियों द्वारा नार्वे का आक्रमण देखकर तैश आया। उस समय तक वे कम्युनिस्टों के स्वर में-स्वर मिला कर हिटलर के विरुद्ध युद्ध को अनुचित कहते थे और उस युद्ध में रोड़े अटकाना अपना धर्म मानते थे। नार्वे की हत्या देखकर वे उठ बैठे और इंगलैण्ड की फौज में भर्ती हो गए। वे सोचा करते थे कि रूस समाजवादी देश है, इसलिए कोई साम्राज्यवादी हरकत नहीं कर सकता। किन्तु वे यह भूल गए कि अपने-आप को क्रिश्चियन कहने वाले अनेक देश भी तो पाप करने से बाज नहीं आते। किसी धर्म का दम भरने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। असली बात तो करतूत पर निर्भर करती है।

दिल पर चोट पड़ने के लिए कुछ परिस्थितियाँ आवश्यक हैं। बहुत कुछ व्यक्ति के स्वभाव भर भी निर्भर करता है। सभी लोग एक ही घटना से एक-सी चोट नहीं खाते। कुछ लोग तो पूँजीवाद के पाप देख-देख कर इतने कुढ़ गए हैं कि वे बॉल्शेविकों के पाप और दीवालिएपन की ओर आँख उठाना ही नहीं चाहते। पाश्चत्य युरोप के पापों का किस्सा सुना-सुनाकर वे मास्को की काली करतूतें ढ़ाँक देना चाहते हैं। किन्तु मैं मानता हूँ कि पाप जहां भी हो हम उसे देखें और उसे अस्वीकार करें। यदि हमारा मन स्वस्थ हो, यदि हम आर्थिक बन्धनों से मुक्त हों और हमने अपनी बुद्धि को बेचा न हो, तो दोनों ओर के पापों की भर्त्सना करते हुए, जहाँ भी हम हों, वहीं हम सुधार द्वारा शांति का पथ अपना सकते हैं। शान्ति के साथ सम्पन्नता भी बढ़ेगी। ऐसे नैतिक वातावरण में कोई भी तानाशाही अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकती। दम घुटने के कारण तानाशाही को तड़प-तड़प कर प्राण खोने ही

होंगे। एक आखिरी सवाल उठता है। रूस के प्रति मोहसे जो मुक्त हो गए हैं, वे लोग कहाँ जाते है ? चोट खाकर कोई हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहे, ऐसा मैं नहीं मानता। किन्तु दूसरी बार ऐसे लोगों को तानाशाही जैसी गन्दी व्यवस्था का समर्थक नहीं बनना चाहिए।

उन लोगों में जो किसी समय कम्युनिस्ट रहे हैं अथवा जिन्होंने मेरी तरह सोवियत् रूस का समर्थन किया है, कुछ तो ऐसे लोग हैं जिनको एकाधिपत्य में गहरा विश्वास है। कोई चोट खाकर वे स्टालिन से अलग हो सकते हैं। किन्तु जिस मनोभाव की प्रेरणा से वे सर्वप्रथम स्टालिन की शरण में गए थे, वह नहीं बदल पाता। वे बुद्धि से कम्युनिज्म का परित्याग भले ही कर दें, किन्तु उनकी भावना वैसा ही कोई अन्ध-विश्वास खोजती रहती है। ऐसे लोग भीतर से कमजोर होते है। उनको हमेशा किसी ऐसे सिद्धान्त की आवश्यता रहती है जिसमें भूल की गुञ्जाइश न हो और इसीलिए वे किसी-न-किसी अन्धविश्वास के इर्द-गिर्द मँडराते रहते हैं। वे किसी ऐसी शक्ति की शरण लेना चाहते हैं जो बाहर से देखने में बहुत मजबूत और तड़क-भड़कवाली हो। बहुत बार तो वे कम्युनिज्म को इसीलिए छोड़ बैठते हैं कि कम्युनिस्ट-नीति बार-बार बदलती रहती है और उनको एक दृढ़ विश्वास पाने का अवसर नहीं मिलता। वे किसी अन्य समग्रवाद के चक्कर में पड़ कर कम्युनिज्म के विरुद्ध लड़ाई करते हैं। किन्तु उस लड़ाई में वही पागलपन और हिंसा भरी होती है जो कि उन्होंने कम्युनिज्म का पक्षपात करते हुए दिखाई थी। कम्युनिज्म के ऐसे विरोधी वास्तव में एक प्रकार के कम्युनिस्ट ही होते हैं।

फ्राँस के कम्युनिस्ट नेता दोरियो कामिन्टर्न की कार्यकारिणी के सदस्य थे, पीछे चलकर वे फासिस्ट बन गए और कम्युनिज्म के विरोध में उन्होंने घमासान की लड़ाई लड़ी। लावाल जो फ्राँस के प्रधान मन्त्री बने एक समय कम्युनिस्ट थे। पीछे चलकर वे नाजियों के साथ मिल गए और उनकी छत्रछाया में प्रतिक्रिया की शक्तियाँ ही आगे बढ़ीं। इसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध के बाद इटली, रूमानिया, हंगरी, पोलैंड इत्यादि के हजारों फासिस्ट

और नाजी लोगों ने कम्युनिस्ट पार्टी में नाम लिखा कर अन्ध राष्ट्रीयता और समग्रवाद का ढोल पीटना शुरू कर दिया है। समग्रवादी, चाहे वे किसी भी दल के हों, एक-दूसरे को खूब पहिचानते हैं और उनको रूप बदलते देर नहीं लगती।

स्टालिन की प्रतिमूर्ति गांधी हैं। किन्तु जो एकाधिपत्य के पुजारी हैं, उनको स्टालिन से बिदा लेकर भी गांधी अच्छा नहीं लगता। एक स्टालिन में श्रद्धा खोकर वे दूसरे स्टालिन को ढूँढ़ लेते हैं। और जब दूसरे स्टालिन के भेड़िए जनता को पैरों तले कुचलते हैं तो वे उनका प्रतिरोध नहीं करते। वे स्वयं उस दमन में साझीदार बन जाते हैं। तानाशाही के विरुद्ध उनमें विद्रोह जागता है तो इसीलिए कि वे खुद तानाशाह बनना चाहते हैं। वे दूसरों पर जुल्म ढा सकें और उन्हें जुल्म सहना न पड़े, यही उनकी प्रधान प्रेरणा रहती है। इस प्रकार के लोग कम्युनिज्म से चोट खाकर किसी दूसरी समग्रवादी सेना में नाम लिखा लेते हैं। उनका हृदय परिवर्तन नहीं होता। वे एक पत्थर का देवता त्याग कर दूसरा पत्थर खोज लेते हैं। किन्तु पाषाण पूजा से विमुख नहीं हो पाते। इसलिए चोट खाने को ही मैं अन्तिम बात नहीं मानता। चोट खाकर जिसने हृदय मन्थन नहीं किया और जिसको तानाशाही का पूर्ण परित्याग करके गणतन्त्र अपनाने की प्रेरणा नहीं मिली, उसका चोट खाना ही मैं व्यर्थ समझता हूं।

तानाशाही कभी गणतन्त्र नहीं बन सकती और वहाँ स्वाधीनता की आशा करना दुराशामात्र है। जिन दिनों मैं रूस का समर्थक था उन दिनों यह सीधी-सी बात मेरी समझ में नहीं आ सकी। मैं सोचता था कि कुछ दिन के लिए स्वाधीनता का दमन करके यदि आर्थिक प्रगति सम्भव हो सके तो पीछे चलकर स्वाधीनता और भी पूर्णतर रूप में लौट आएगी। ऐसा तो हुआ नहीं। सोवियत् यूनियन में स्वाधीनता का गला घोंटा गया, इसलिए वहाँ आर्थिक उन्नति भी नहीं हो सकी। आज भी वहाँ दुकानें खाली पड़ी हैं और जनता को भोजन-आच्छादन की सुविधा नहीं मिल रही। राजनीतिक स्वाधीनता के

बिना आर्थिक स्वाधीनता अथवा सम्पन्नता सम्भव ही नहीं हो सकती। आज सोवियत् यूनियन में करोड़ों लोग गुलाम–मजदूर कैम्पों में नरक यातना भोग रहे हैं। ऐसे देश के विषय में आर्थिक अथवा राजनीतिक स्वाधीनता की बात उठाना मुझे एक भयानक उपहास लगता है; और निरंकुश तानाशाही के किसी प्रकार से कमजोर पड़ने का कोई लक्षण हम नहीं देख पाते। एक बार दमनचक्र चलता है और जनता के कुछ वर्ग राज्य से नफरत करने लगते है। दूसरी बार दमनचक्र का चलाना तानाशाह के लिए अनिवार्य हो जाता है। और इस प्रकार दमनचक्र का हमेशा चलाते रहना रूस के लिए एक साधारण धर्म बन गया है।

तानाशाही में जनता को कोई अक्षुण अधिकार नहीं दिए जाते। इसलिए वहाँ कभी स्वाधीनता नहीं मिल सकती। तानाशाह के पास सब प्रकार की सत्ता रहती है और व्यक्ति उसके हमले से अपने–आपको किसी हालत में नहीं बचा सकता। तानाशाह जब चाहे व्यक्ति को कोई भी अधिकार दे सकता है, और जब चाहे तभी कोई भी अधिकार छीन सकता है। काम करने का साधारण अधिकार ले लीजिए। आज व्यक्ति को अधिकार मिलता है कि वह किसी कल–कारखाने में काम करे और भरण–पोषण के लिए उचित वेतन पाए। किन्तु कल ही यदि तानाशाह चाहे तो उसे गुलाम–मजदूर कैम्प में भेजकर घोर परिश्रम करा सकता है और उसका भरपेट खाना बन्द कर सकता है। व्यक्ति को इस कुचक्र से भाग निकलने की कोई राह नहीं मिल सकती। तानाशाह स्वयं कानून बनाता है, स्वयं कानून लागू करता है। और केवल उसी को यह फैसला देने का अधिकार होता है कि कब, किसने, कौनसा कानून तोड़ा और कब, किसको, क्या दण्ड मिलना चाहिए। रूस के लोग पुरुषार्थी हैं, प्रतिभाशाली हैं। वे इस दुर्दशा के पात्र नहीं। वे जानते हैं कि उनके साथ क्या अत्याचार हो रहा है और उनके मन में भी आजादी की आग सुलगती है। किन्तु उनको कोई किनारा नहीं सूझता। वे जानते नहीं कि क्या करें, कहाँ जाएँ प्रतिवर्ष तानाशाही का दमन उग्रतर होता जा रहा है और वे चुपचाप पिसने के सिवाय कुछ भी नहीं कर सकते।

मैंने एक और भूल की थी। रूस के शासकों का विश्वास है कि यदि ध्येय ठीक है तो वे कोई भी साधन जुटाकर उसकी प्राप्ति कर सकते हैं। मैं भी यह सिद्धान्त मान बैठा था। मैं समझ ही नहीं सका कि ऐसा घातक सिद्धान्त कभी भी एक उच्चतर मानव अथवा स्वच्छतर संसार की सृष्टि नहीं कर सकता। यदि हमारे साधन ठीक नहीं तो हम कभी भी ध्येय पर नहीं पहुँच सकते। फिर चाहे समाज पूँजीवादी हो अथवा बॉल्शेविक। बुरे साधन सर्वत्र, सर्वदा बुरे परिणाम पर ही पहुंचा सकते हैं। आखिर रुपया कमाना, उच्चपद प्राप्त करना तथा सफल होना भी तो एक प्रकार के साधन हैं, जिनके द्वारा हम दूसरे साध्यों की साधना करते हैं। व्यक्ति का अधिकतर जीवन तो केवल साधन जुटाने में ही बीत जाता है। उन साधनों की पवित्रता में भी एक आनन्द होता है। यदि एक अलौकिक भविष्य के लोभ में फँसकर अथवा किसी अन्य प्राप्ति की आशा से हम उस आनन्द को भुला दें तो जीवन निस्सन्देह एक कुत्सित भार–वहन के सिवाय कुछ नहीं रह जाएगा।

तानाशाही के साधन क्रूर होते है। इसलिए तानाशाही की नींव में हमेशा आँसुओं और खून का सागर लहराता रहता है। जनता के अभिशाप का कूल–किनारा नहीं रह जाता। फिर तानाशाही से किसी प्रकार के आनन्द, स्वाधीनता अथवा शान्ति की आशा करना हठधर्मी है। भय, बलात्कार, मिथ्या और संताप के बीच कभी भी एक उच्चतर मानव का उदय नहीं हो सकता। सोवियत् रूस का पक्षपात करके मैंने एक मंत्र सीखा है। आज मैं निश्चय के साथ कह सकता हूं कि जिसे भी जनता तथा शान्ति से प्रेम है वह कभी किसी तानाशाह का पक्षपात नहीं कर सकता। हमारे पूंजीवादी समाज के विरुद्ध यही आक्षेप है कि वह स्वतन्त्रता का ढिढोंरा पीटकर भी वास्तव में स्वतन्त्रता का गला घोंटता है। किन्तु ऐसे समाज से चिढ़कर कोई तानाशाही की शरण में जाए, यह मेरी समझ में नहीं आता तानाशाही जो स्वतन्त्रता का आमूल उच्छेद कर डालती है। गणतन्त्र में स्वतन्त्रता के ऊपर जो बन्धन हैं, उनको खोलने की चेष्टा क्यों न की जाए, ताकि व्यक्तिगत, राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता से ओतप्रोत होकर गणतन्त्र अपना मस्तक ऊँचा कर

सके। यह तभी संभव है जब कि हम गांधीवादी नीति को अपना लें। गांधीवाद का अर्थ है सत्य को सर्वोच्च मानना और साधनों की पवित्रता पर अडिग रहना।

आज अपने पिछले जीवन पर आंख उठाकर देखता हूं तो रूस की भक्ति का एक और कारण पाता हूं। आज के युग में विज्ञान ने मनुष्य की सत्ता को बहुत बढ़ा दिया है और वह नहीं जानता कि उस सत्ता का क्या उपयोग करे। सत्ता का सही उपयोग आज मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या है। मैंने सोचा था कि सोवियत् व्यवस्था में उस समस्या का एक हल मिलता है। आज व्यक्ति के पास, वर्ग के पास अथवा राष्ट्र के पास एक बड़ी शक्ति का संचय होता है और वे उसका अन्धाधुन्ध दुरुप्रयोग करते हैं। मुझसे यह नहीं देखा जाता। व्यक्तिगत सम्पत्ति का दुरुपयोग सदा मेरी आँखों मे खटका है। जबानी में मैंने हैनरी जार्ज की लिखी 'प्रगति एवं सत्ता' नामक पुस्तक पढ़ी थी। फिर रूजवेल्ट युग के उदारवाद और जनवाद का भी मुझ पर गहरा असर पड़ा था। अमेरिका के सारे गरीब लोग मेरी तरह ही एक किनारे की खोज में रहे हैं। और मेरी तरह बहुतों ने जब देखा कि सोवियत् रूस ने जमींदारों, पूँजीपतियों तथा व्यवसायी शोषणकारियों को नष्ट कर डाला है तो हमारा उस ओर आकर्षित होना कोई अजीब बात नहीं थी। आज भी मैं सत्ताधीशों के प्रति उतना ही संशयशील हूं। किन्तु आज मैं इतना जानता हूँ कि कम्युनिज्म उस समस्या का कोई हल नहीं, क्योंकि कम्युनिज्म तो स्वयं सत्ता के एकीकरण में विश्वास रखता है। मैं जिस जिले का रहनेवाला हूं उधर कोयले की खानें हैं। खानों की मालिक कम्पनियां ही वहाँ पर बने मजदूरों के घरों और दुकानों की असली मालिक हैं। वे मजदूरों पर बहुत से अन्याय करती रहती हैं। और मेरे तन-बदन में वह सब देखकर आग लग जाती है। फिर भी इतना मैं जानता हूं कि जो भी मजदूर चाहे वह ही उन खानों को छोड़कर अन्यत्र जा सकता है और कम्पनियों के अन्याय से बच सकता है। किन्तु रूस में कोई क्या करे, वहाँ तो सारी खानों की मालिक एक ही कम्पनी है। सारे काम-धन्धे, घर, दुकानें, स्कूल और समाचार-पत्र उसी एक

कम्पनी की मिलकियत हैं और उसके अत्याचार से बचकर भागने का कोई रास्ता नहीं, कोई ठिकाना नहीं। रूस को तानाशाही कहकर ही बस नहीं हो जाता। तानाशाही तो उसका एक पक्ष है। रूस के शासक केवल पुलिस और जेल के बल पर ही अपनी जनता पर अत्याचार नहीं करते। आज उनके हाथ में राष्ट्र की समस्त आर्थिक सत्ता भी है। ऐसी सम्पूर्ण सत्ता कि जिस के सामने हमारे बड़े-बड़े से पूँजीवादी भिखमंगे से दीख पड़ते हैं। वह सत्ता व्यक्ति को चाहे जिस तरह पीस सकती और व्यक्ति के लिए त्राण को कोई मार्ग नहीं। रूस में ऐसी कोई सत्ता ही नहीं जो सरकार ने हस्तगत न की हो। तो फिर सरकार के विरुद्ध व्यक्ति और किस सत्ता की दुहाई दे?

रूस से मैंने एक पाठ पढ़ा है। व्यक्ति के हाथ से सम्पत्ति छीनकर सरकार के हाथों में पहुँचा देने से ही स्वाधीनता अधवा सम्पन्नता की उपलब्धि नहीं हो सकती। यदि समस्त सम्पत्ति सरकार के हाथों में पड़ जाए और वह मध्यवर्ग जो कि हमारी औद्योगिक सभ्यता की रीढ है, पिस जाए, तो कोई लाभ नहीं हो सकता। इसके विपरीत हानि होने की अधिक सम्भावना है। आज राजनैतिक और आर्थिक सत्ताओं के बीच एक संतुलन जमाने की आवश्यकता है, जिससे कि कोई भी पार्टी, वर्ग, सरकार, अथवा एकांगी स्वार्थों का गुट सम्पूर्ण सत्ता न हथिया सके। एक सत्ता के विरुद्ध दूसरी सत्ता की दुहाई हम जब तक दे सकते हैं, तभी तक स्वाधीनता, जीवित रह सकेगी। सोवियत् रूस में आज ऐसा कोई संतुलन नहीं। सत्ताओं की ऐसी कोई टक्कर नहीं। यही तानाशाही का मूलमन्त्र है। इसीलिये रूस की सरकार घर में और घर के बाहर मनमाना करती रहती है। वह मजदूरों, किसानों, कर्मचारियों, कम्युनिस्टों, कलाकारों इत्यादि के साथ चाहे जैसा व्यवहार कर, सकती है और वे प्रतिकार का मार्ग नहीं खोज पाते। इसलिए रूस में सत्ता की समस्या का हल खोजना मूर्खता होगी। वहाँ इस रोग की पराकाष्ठा हो चुकी है।

तानाशाही को तिलाञ्जलि देकर आनेवाले को ऐसे गणतन्त्र की साधना करना चाहिए जिसमें सत्ता इस प्रकार विभक्त हो कि कोई सरकार अथवा गुट

उसे कभी भी पूर्णतया न हथिया सके। जनका का कोई भी सच्चा नेता सत्ता को जुटाने और सत्ता के उपयोग में संयम से काम लेगा। अन्यथा उसकी नेतागिरी थोथी है। कम्युनिज्म का परित्याग करने वाले का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने विरोधियों के लिए पूरी स्वाधीनता की मांग उठाए और उस मांग की पूर्ति के लिए आवश्यकता होने पर आन्दोलन करे। विभिन्न धर्मों, जातियों और वर्गों को अपनी-अपनी कहने का बाधा-बन्धनहीन अधिकार मिलना ही चाहिए। संस्कृति की पूर्णता का यदि कोई निश्छिद्र लक्षण है तो यह कि हम अपने घोरतर विरोधियों के साथ भी शान्ति से ही रह सकें। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो या तो जीवन नीरस हो जाएगा या तानाशाही हम पर सवार हो जाएगी। कम्युनिज्म का परित्याग करनेवालों को कम्युनिस्टों और रूस के समर्थकों के साथ भी सहानुभूति दिखाना चाहिए। उनको भी एक दिन सत्य का साक्षात्कार होगा, एक दिन उनकी भी नींद खुलेगी। प्रत्येक कम्युनिस्ट के अन्तर में कम्युनिज्म-विरोध के अंकुर हैं और उनको पनपने में हमें सहायता पहुँचानी चाहिए।

चोट खाए हुए रूस-भक्तों को राष्ट्रवाद का परित्याग करके अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थन करना चाहिये। सिद्धान्ततः शायद राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई विरोध नहीं हो। शायद किसी दिन व्यवहार में भी वह विरोध मिट जाए। किन्तु आज तो यही देखा जाता है कि एक देश की पूजा अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये घातक है। चाहे हम एक राष्ट्र को पूँजीवाद का गढ़ मानकर पूजें, चाहे समाजवाद के नाम पर। एक राष्ट्र को समस्त गुणों का आश्रय मानते ही हम पथभ्रष्ट होने लगते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की मौखिक स्तुति अर्थहीन है। यदि हमारे हृदय में अपने देश के बड़े-बड़े योद्धाओं और बड़े-बड़े सफल लोगों के प्रति अन्ध-भक्ति के सिवाय और कोई प्रेरणा नहीं है, तो हमें चुप रहना चाहिये। जातीयवादी, अपने देश को अलग-थलग माननेवाला, दूसरे देशों से घृणा करने वाला, कभी भी अन्तर्राष्ट्रीयता की सेवा नहीं कर सकता, चाहे संसार-व्यापी सरकार की मांग करते-करते वह कितने ही पोथे क्यों न लिख मारे। आज के संसार में किसी भी देश के लिये अकेले

सफल होना अथवा उस सफलता का अकेले उपभोग करना असम्भव है। यदि हमारे पड़ौसी को सुख–शान्ति उपलब्ध नहीं है, तो हम भी सुखी नहीं रह सकते। चाहे वह पड़ौसी पास के मकान में रहनेवाला व्यक्ति हो, चाहे दस हजार मील दूर एक दूसरा राष्ट्र।

जो तानाशाही और गणतन्त्र के दोषों का दोहरा अस्वीकार करता है, उसे सबसे अधिक मनुष्य की देखरेख करनी चाहिये। यदि मनुष्य मर जाता है, तो कुछ भी नहीं बच रहता। राष्ट्रीय स्वाधीनता, अन्तर्राष्ट्रीय प्रेमभाव, आर्थिक और वैज्ञानिक प्रगति, राष्ट्रीय सुरक्षा, पूँजीवाद की मर्यादा और समाजवाद का उदय—अपने आप में ये सब उद्देश्य अमूर्त हैं, निरर्थक हैं। जीते–जागते पुरुष, नारी और बच्चे ही उनको, सार्थक बना सकते हैं। धरा पर कुछ भी ऐसा नहीं, जिसका अर्थ मनुष्य के ऊपर, मनुष्य के परे हो। किसी धर्म के नशे में भले ही हम मनुष्य को भुला दें, भले ही कहने लगे कि मनुष्य कुछ दिन और इन्तजार कर सकता है अथवा मनुष्य को दुःख–दर्द की परवाह नहीं होनी चाहिये। धर्म के नशे में डूबकर हम बहुत बार कहने लगते हैं कि एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी के सुख के लिये बलिदान कर देना चाहिये। किन्तु बलिदान करने की यह परम्परा एक ही पीढ़ी पर नहीं रुक पाती, वह तो दूसरी, तीसरी और चौथी पीढ़ी तक चलती रहती है। मैंने रूस को अपना देवता मानकर सोचा था कि मानवता की सेवा कर रहा हूँ। किन्तु उस दिन मैंने हाड़मांस के मानव को भूला दिया था। उस अन्ध उपासना के मोह से मुक्त होकर ही मैंने हाड़–मांस को पहिचाना है।

स्टीफन स्पैण्डर

जीवनी — स्टीफन का जन्म १९०९ में हुआ था। इनके पिता इङ्गलैंड के प्रसिद्ध उदारवादी नेता एडवर्ड हैरल्ड स्पैण्डर थे। इनकी शिक्षा कुछ दिन स्वीट्जरलैण्ड में हुई। फिर ये यूनिवर्सिटी कालेज ऑक्सफोर्ड के छात्र बने। वहां डे लूइस और ऑडन के सम्पर्क में इन्होंने कविता लिखना शुरू कर दिया। राजनीति में दिलचस्पी रखने के कारण इन्होंने १९३७ में एक पुस्तक—"उदारवाद के आगे"—लिखी। उसके तुरन्त ही बाद ये कुछ दिन के लिये कम्युनिस्ट पार्टी में भर्ती हो गए। १९४६ में ये विदेश विभाग के राजनैतिक गुप्तचर बनकर युरोप गए और जर्मनी में इन्होंने नाजीवाद का प्रभाव वहाँ के युवकों पर देखा। इनकी प्रथम कविताएँ १९३३ में छपीं। १९३५ में एक साहित्यिक समालोचना सम्बन्धी पुस्तक निकली। १९४६ में इन्होंने 'युरोप के साक्षी' नामक पुस्तक लिखी। अब ये अपनी कविताओं का संग्रह छपवाने में लगे हैं।

मैं १९३६–३७ की सर्दियों में चन्द सप्ताह के लिए कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर रह चुका हूँ। किन्तु पार्टी में नाम लिखाने के तुरन्त बाद ही मेरी सदस्यता झूठी पड़ गई। मुझे कभी भी सैल की मीटिंग में नहीं बुलाया गया। उन दिनों मैं हैमरस्मिथ में रहता था और वहाँ पार्टी का सैल भी था। एक बार चन्दा देने के बाद फिर कभी मुझसे चन्दा भी नहीं मांगा गया।

पार्टी में भर्ती होने के कुछ दिन पूर्व मेरी पुस्तक 'उदारवाद के आगे' छपी थी। वामपन्थी पुस्तक मण्डल ने उस पुस्तक की सराहना की थी। पुस्तक में मैंने कहा था कि उदारवादियों की व्यक्ति–स्वाधीनता सम्बन्धी मान्यताएँ दोष युक्त हैं। बहुत बार उदारवादी लिखते और बोलते हैं तो ऐसा जँचता है मानों वे व्यक्ति–स्वाधीनता के नाम पर एक व्यक्ति का दूसरे द्वारा शोषण देखने के लिये भी तैयार हों। बहुत बार ऐसा लगता है कि सब व्यक्तियों की सामर्थ्य एक–सी मानकर ही वे स्वाधीनता की बात कर रहे हैं। मैंने कहा कि उन्नीसवीं सदी में जब कि ब्रिटेन का व्यापार बढ़ रहा था, तो व्यवसायी लोगों में स्वाधीन स्पर्द्धा और मजदूरों के जीवन में सुधार एक साथ चल सकते थे। उस समय उदारवादियों को कठिनाई का सामना नहीं होता था। किन्तु १९३० और उसके बाद के सालों में जब कि व्यापार में मन्दी आ गई, देशों ने आयात पर भारी कर लगाने शुरू कर दिए, बेकारी बढ़ गई और फासिस्टवाद का उदय हुआ, तो उदारवादी एक ही साथ मजदूरों और मालिकों के लिये पूर्ण स्वाधीनता की पुरानी बातें नहीं दोहरा सकते। उनकी मान्यता की आधारभित्ति होनी चाहिये सामाजिक न्याय की एक धारणा। उन्हें यह मानना चाहिये कि समाज को शोषण बन्द करने का अधिकार है। मैंने अन्त में कहा था कि उदारवादियों को मजदूरों का समर्थन करना चाहिये, फासिस्टों से लड़ना चाहिये और तब वे व्यक्ति स्वाधीनता की बातें करें, तो अधिक उचित होगा। व्यक्ति स्वाधीनता से मेरा मतलब था अपने मन की बात कहने की आजादी और बिना मुकदमा चले जेल में रक्खे जाने पर

पाबन्दी। मैं चाहता था कि व्यक्ति स्वाधीनता का समर्थन करने वाले फासिस्टवाद का विरोध अवश्य करें। उस संघर्ष में सत्ता हथियाने के लिये उदारवादियों को हाथ-पांव मारने पडेंगे, अन्यथा वे पीछे पड़ जाएँगे। संक्षेप में मेरा आशय था कि जिस स्वाधीनता से सामाजिक न्याय का पोषण नहीं उसकी कानी-कौड़ी भी कीमत नहीं। इसलिये व्यक्ति स्वाधीनता की बात करनेवालों को पूँजीवाद का पक्ष त्यागकर मजदूरों के पक्ष में आ जाना चाहिये।

मेरी पुस्तक को लेकर अनेक चर्चा हुई। बहुत से पत्र मुझे मिले। उनमें एक पत्र हैरी पौलिट[१] का भी था। उन्होंने मुझे मिलने के लिये बुलाया था। इसलिये एक दिन मैं चेयरिंग क्रॉस रोड पर कम्युनिस्ट पार्टी के गन्दे से दफ्तर में जा हाजिर हुआ। मिस्टर पौलिट बड़े तपाक से मिले। मेरा हाथ अपने हाथ में दबाकर वे बोले—"मुझे आपकी पुस्तक बहुत पसन्द आई। कम्युनिज्म के प्रति आपका जो दृष्टिकोण है, उससे मेरे अपने दृष्टिकोण का अन्तर मुझे खूब जँचा। आप बुद्धिवाद के मार्ग से कम्युनिज्म की ओर बढ़े हैं। किन्तु मैंने तो अपने ही घर में पूँजीवाद के अत्याचार देखकर कम्युनिज्म की दीक्षा ली थी। मेरी माँ काम करने के लिये एक कारखाने में जाती थीं और जिन परिस्थितियों में उन्हें काम करना पड़ता था, उनके कारण उनकी अकाल मृत्यु हो गई।"

और भी अन्तर उन्होंने बताया। कहने लगे कि मेरी पुस्तक में घृणा का प्रदर्शन नहीं मिलता। उनका अपना विश्वास था कि पूँजीवाद के प्रति घोर घृणा ही एक ऐसी प्रेरणा है, जिसके बल पर मजदूर आन्दोलन आगे बढ़ाया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि पुस्तक में मैंने बुखारिन इत्यादि के मुकदमों को लेकर जो मास्को की भर्त्सना की थी, वह अनुचित थी। मैंने कहा कि मुझे विश्वास नहीं होता कि वास्तव में अभियुक्तों ने कोई अपराध किया था। उनका एकमात्र अपराध था स्टालिन का विरोध करना। पौलिट

---

१. इङ्गलैण्ड की कम्युनिस्ट पार्टी के सेकट्री जनरल।

महाशय ने जोर से मेरा विरोध किया। कहने लगे कि उन लोगों को अदालत में खड़े होने का अवसर मिला यह भी उनका सौभाग्य था। अन्यथा उनको वैसे ही मार देने में भी कोई अन्याय नहीं होता। फिर वे बोले कि मास्को के मुकदमों पर हमारा मतभेद कोई बहुत बड़ी बात नहीं। मैं स्पेन के गृहयुद्ध में कम्युनिस्टों का समर्थन करता था, यही उनके लिये काफी महत्व का प्रसंग था। उन्होंने कहा कि कुछ मतभेद रखते हुए भी मुझे स्पेन में कम्युनिस्टों का समर्थन करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी में भर्ती हो जाना चाहिए। पार्टी में भरती होने के साथ मुझे डेली वर्कर[१] में एक लेख लिखकर कम्युनिस्टों पर टीका-टिप्पणी करने की छूट भी उन्होंने दे दी। मैंने उनकी बात मान ली। मुझे पार्टी का कार्ड मिल गया और मेरा लेख डेली वर्कर में छपा। किन्तु उत्तर-इंगलैण्ड और स्कॉटलैण्ड के कम्युनिस्ट मेरा लेख पढ़कर आगबबूला हो गए और फिर किसी ने मुझे याद नहीं दिलाया कि मैं कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर बन चुका हूँ।

पौलिट ने ठीक कहा था। मैं जिस प्रेरणा से कम्युनिस्ट पार्टी की ओर गया था, वह एक मजदूर की प्रेरणा नहीं हो सकती। कुछ घटनाओं का एक तांता था जिनके कारण मैं पार्टी में नाम लिखाने के लिए तैयार हो गया। वह घटनाक्रम मेरे बचपन में शुरु हुआ था। मैंने बाइबल पर विश्वास किया था। उस धर्म-पुस्तक में कहा गया था कि भगवान की आंखों में सभी मनुष्य एक समान हैं और चन्द लोगों का अमीर होना बहुमत के साथ अन्याय है। मैं जनता के सम्पर्क से समानता का समर्थक नहीं बना। घोर एकाकीपन के कारण ही वह भावना मुझ में जागी थी। रात को देर तक जाग-जागकर मैं मनुष्य की बिडम्बना पर सोचा करता। मैं देखता था कि आदमी को बिना उसकी इच्छा के ही कुछ विशेष परिस्थितियों में जन्म लेना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति शेष संसार के प्रति आखिर तक एक अजनबी-सा रहकर ही जीवन बिताता है। उसको अपने-आप से बाहर निकलने का मार्ग नहीं सूझता। वह

---

१. इङ्गलैण्ड की कम्युनिस्ट पार्टी का मुख्य पत्र।

दूसरों का प्यार चाहता है। और उसे सामना करना पड़ता है मौत का। चूंकि आदमी इतना एकाकी है, इसलिए कम-से-कम उसको पृथ्वी पर आकर जो कुछ यहाँ मिलता है, उसका समान भाव से उपयोग करने की छूट तो होनी ही चाहिए। मैं यह देख ही नहीं सकता था कि अगणित स्त्री-पुरुण संसार में जन्म लेकर भी धरती पर स्वाधीन भाव से नहीं विचर सकते, मनमाना उपभोग नहीं कर सकते, बल्कि तंग तारीक गलियों में रहकर अपना समस्त जीवन बिता देते हैं। मुझे ऐसा लगा कि किसी वर्ग अथवा व्यक्ति के विशेष अधिकारों का समर्थन बुद्धि अथवा हृदय द्वारा नहीं किया जा सकता। आज भी मुझे वैसा ही लगता है।

उस दिन मैंने अपने विचारों का क्रान्ति से कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा था। मेरी प्रेरणा ईसाइयत से सम्बन्ध रखती थी और मेरा जी चाहता था कि मेरे पास जो कुछ भी है वह सब त्याग कर भारत अथवा चीन के किसाना की नांई साधारण जीबन बिताने लगूँ। कम्युनिस्टों को मैं उस समय आदमखोर भेड़िए समझता था जो कि संसार के समस्त नगरों का विध्वंस करके खण्डहरों मे विचरना चाहते हैं। मैंने अपने परिवार और मित्रों से ऐसा ही विश्वास पाया था। वे सब क्रान्ति को भूचाल की नांई एक घोर दुर्घटना मानते थे। सोशलिस्टों को वे कम्युनिस्टों से थोड़ा कम खतरनाक समझते थे। इसलिए कुछ दृष्टिकोण तो मेरे लिए सर्वथा त्याज्य रहे, क्योंकि उन दृष्टिकोणों से सोचनेवालों को मैं पागल अथवा पतित मानता था।

जब मैं सौलह वर्ष का होकर लन्दन के एक स्कूल में भरती हुआ तो मेरा सम्पर्क एक अध्यापक और दो-तीन छात्रों से हुआ जो कि सोशलिस्ट थे। अध्यापक प्रथम महायुद्ध में लड़ चुके थे, '१९१७ क्लब' के सदस्य थे और लेबर पार्टी का मुखपत्र डेली हेरल्ड पढ़ा करते। उनके मतानुसार सोशलिज्म का मतलब गुण्डागर्दी अथवा ऐसा कुछ नहीं था। सोशिलज्म का मतलब था कारखानों का राष्ट्रीयकरण, ताकि उनमें पैदा होनेवाली वस्तुओं पर सारी जनता का समान भाव से अधिकार हो। सोशिलज्म का मतलब था व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा पर टिके हुए पूंजीवाद का विलोप। पूंजीवाद के

कारण देशों में परस्पर व्यापारिक तनातनी होती है और अन्त में महायुद्ध छिड़ता है। सोशिलज्म का मतलब था कि देश में उत्पन्न सारे बच्चों को इन्सान बनने का समान अवसर प्राप्त हो। मैं चौंक उठा। सोशलिज्म की ये सारी परिभाषाएं तो मेरी सामाजिक न्याय की धारणाओं से मेल खातीं थीं। स्कूल में एक लड़के से मेरी दोस्ती हो गई। उसका नाम था मौरिस कौर्नफोर्थ। वह बर्नार्डशॉ के नाटक पढ़ता था और वैसे ही अच्छे नाटक स्वयं भी लिखता था। उसमें ऐसी बौद्धिक क्षमता थी कि सब बातों को तर्क–शृङ्खला में बाँध कर समझा सकता था। उसने मुझे ईसाइयत को छोड़ कर बुद्ध–धर्म अपनाने की प्रेरणा दी। वह शाकाहारी था और छुट्टी के दिन तीस–चालिस मील तक पैदल घूमा करता। उसके बाल घुँघराले थे और घुँघराले बालोंवाला ही एक कुत्ता अपने साथ रखता था। वह स्कूल के वाद–विवादों में सबसे आगे था और ढेर–की–ढेर कविताएं, नाटक और पत्र लिखा करता।

कौर्नफोर्थ और मुझको सोशलिज्म के सिवाय और भी कई बातों में दिलचस्पी थी। आधुनिक चित्रकारी, नाटक, नृत्य और कविता में हमें रुचि थी। सोशलिज्म तो वास्तव में हमारी आधुनिकता की एक अभिव्यक्ति मात्र थी। बर्नार्डशॉं जैसी दाढ़ी रखकर और लाल टाई बाँधकर हम अपने को सोशिलस्ट कहते थे। ऑक्सफोर्ड में रहते हुए मैंने आसानी से उन दिनों की प्रचलित धारणा मान ली कि कला का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं। वैसे मेरी तमाम धारणाएँ प्रगतिवादी हो गई थीं। किन्तु कला पर मैं रूढ़िवादी बना रहा। कला को मैं कला के लिए मानता था। आज १९२८–३० का जमाना बहुत दूर–सा लगता है और हमारे जमाने की अपेक्षा कुछ शान्तिपूर्ण भी। उन दिनों हम मनुष्य–समाज में भरे अन्याय को भुला सकते थे, अथवा कम–से–कम कह सकते थे कि कवि का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार मैं एक ऐसा सोशलिस्ट था जैसे कि बहुत से कैथोलिक जो कभी गिरजे में नहीं जाते। बस एक मतामत बनकर मन ठहर–सा जाता है। मन में संशय भी उठते रहते हैं कि एक दिन वह मतामत मिथ्या मालूम पड़ने लगेगा और एक नए संघर्ष का संकेत मिलेगा। किन्तु उस समय तो कम–से–कम आदमी जमकर बैठ ही जाता है।

ऑक्सफोर्ड से निकलकर मैं जर्मनी चला गया। वहाँ मनुष्य के सामाजिक संघर्ष की ओर मेरी आँखें गईं। अधिकतर जर्मन नवयुवक जो मुझे मिले दीन-हीन थे और मुश्किल से भर पेट जुटा पाते थे। वर्गों के बीच की खाई पट चुकी थी। सभी वर्गों में एक-जैसी पराजय की भावना थी और सभी युद्ध के बाद आनेवाली मन्दी से निकलने का मार्ग खोज रहे थे। जर्मनी के अधिकांश संगीत, चित्रकला तथा साहित्य में या तो क्रांति का सन्देश मिलता था अथवा दीन-हीनों के प्रति करुणा का भाव। मैं परदेशी था। मेरे मन में पहिले-पहल तो जर्मन-जाति के लिए एक करुणा का भाव ही जागा। किन्तु गरीबों के लिए क्रियात्मक रूप के कुछ करने की प्रेरणा मुझे नहीं मिली। फुट-पाथों पर टुकर-टुकर देखती आँखें देखकर मेरे आँसू ही छलक पाए। किन्तु जब वही रोग ब्रिटेन और अन्याय देशों में फैलने लगा, तब मेरी समझ में आया कि यह तो संसार-व्यापी पूँजीवाद का रोग है। मुझे विश्वास हो गया कि बेकारी को मिटाने के लिए युद्ध के सिवाय एक ही और रास्ता है— एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज का गठन जिसमें संसार का समस्त धनधान्य जनता के भरण-पोषण में लग सके।

इन्हीं दिनों एक मित्र, जिन को ईशरवुड* ने अपनी आत्मकथा में चैमर्ज का नाम दिया है, बर्लिन आए और ईशरवुड ने मुझे उनसे मिलने के लिए बुलाया। चैमर्ज ने उन्हीं दिनों कम्युनिस्ट पार्टी में नाम लिखाया था। दस-पांच दिन रूस में बिता कर लौटते समय वे बर्लिन में रुके थे। वे नाटे, सांवले किन्तु सुन्दर व्यक्ति थे। उनकी दृष्टि में एक अजीब दृढ़ता थी और बातें करते-करते वे सुननेवाले को ऐसे देखने लगते थे मानो अन्तरतम की जानकर मानेंगे। उनमें गम्भीरता के साथ-साथ एक हास्य की पुट भी मैंने देखी। जब मैंने उनसे पूछा कि रूस कैसा देश है, तो कुछ मन्त्र-मुग्ध से वे अपने सामने की ओर देखते रहे, फिर बोले—"संसार में सबसे बढ़ कर सुन्दर है वह देश।" किसी और युग में वे शायद गाँव के गिरजे के पादरी होते

---

* इङ्गलैण्ड के एक विख्यात विचारक एवं कवि। भारतीय दर्शन से विशेष प्रभावित।

जो गलियों में घूमते-घूमते वहाँ उगे हुए ऊबड़-खाबड़ फूलों से प्रेरणा प्राप्त करके झूमने लगते।

एक दिन मैं और चैमर्ज घूमने निकले। थोड़ी देर बाद ही कम्युनिज्म के विषय में बातें होने लगीं। चैमर्ज का दृष्टिकोण सीधा-सादा था। वे मानते थे कि हमारे युग की सब विडम्बनाओं की जड़ है पूँजीवाद। बेकारी, युद्ध, यहाँ तक कि अभिसार के ईर्ष्या-द्वेष भी पूँजीवाद के ही बच्चे कच्चे हैं। पूँजीवाद के कारण ही लेखकों को भूखे मरना पड़ता है, अथवा वे मन के माफिक नहीं लिख पाते। इस महाव्याधि का इलाज उनकी राय में था पूँजीवाद का विनाश और कम्युनिज्म का उदय। व्यक्ति को अपने अन्तर में उस संघर्ष का स्वर सुनना चाहिए और समाज में जो वर्ग-युद्ध छिड़ा है, उसमें मजदूर वर्ग का साथ देना चाहिए। चैमर्ज यह मानते थे कि प्रस्तुत समाज में भी अनेक लोग ऐसे हैं, जिनको बेकारी और युद्ध अच्छे नहीं लगते। ऐसे लोग इन दुर्गणों को मिटाने के लिए अपने स्वार्थों का त्याग करने की क्षमता भी रखते हैं। किन्तु जब तक वे पूँजीवादी व्यवस्था को मानते रहते हैं, उनके समस्त प्रयत्न बेकार जाते हैं। पूँजीवाद का मतलब है कि वर्ग और राष्ट्र आपस में लड़ मरें। ऐसी व्यवस्था को मानकर खाली उसके दोष दूर करने की चेष्टा करना, अपना मन समझाने की बात है। जैसे कोई नदी के किनारे बैठकर कूएँ खोदे। असली कर्त्तव्य है इतिहास के प्रवाह से जूझ जाना। नदी की धारा को पलट कर अपनी ओर बहा देना। यह एक महान् काम है, जिसको पूर्ण करने में साधनों की नैतिकता अनैतिकता का सवाल नहीं उठाना चाहिए और न ही व्यक्ति के भाग्य की चिन्ता करनी चाहिए। जो इतिहास के पक्ष में नहीं होते, इतिहास उनकी परवाह नहीं करता। "इतिहास" का अर्थ चैमर्ज यही लगाते थे कि मजदूर क्रान्ति हो जाए, मजदूर-तानाशाही और कम्युनिज्म का उदय हो। यह सब होने पर, उनका खयाल था कि सब दुःख-दर्द दूर हो जाएँगे और एक स्वाधीन संसार की स्थापना होगी। इस स्वप्न में वे विश्वास रखते थे। उनके हृदय में मानवता के लिए कल्याण कामना ही थी। किन्तु उन्होंने यह सोचकर नहीं देखा था कि इतिहास अपनी

रवानी में केवल क्रान्ति ही नहीं उपजाता, बल्कि अनेक अन्याय ओर कुविचार को भी जन्म देता है। अथवा शायद वे अपनी भावना के देश में इन सब बातों को कोई मायने नहीं देते थे। वे क्रांति के लिए काम करने का निश्चय कर चुके थे और अब मानो अपने काम के नतीजों को दूर से देख रहे थे। उनकी आँखें भविष्य पर ऐसी जमीं थीं कि वर्तमान में क्या हो रहा है, इसकी उन्हें कोई परवाह ही नहीं होती थीं। जैसे हमको आज दो सौ वर्ष पूर्व लिंजबन के भूकम्प में मरे लोगों को लेकर दुख संताप नहीं उठाना पड़ता। वे मानो भविष्य में रह रहे थे और वर्तमान तो उनके लिए क्रान्ति के पूर्व का एक पुरातन युगमात्र था। वे चाहते थे कि उनकी नाईं जो लोग इतिहास का साथ निभाने का बीड़ा उठा चुके हैं, उनको मनसा, वाचा, कर्मणा एक वर्गहीन समाज के लिए काम करना चाहिए। वे वर्तमान को सर्वथा भविष्य की वेदी पर बलिदान कर डालने के हक में थे।

मुझे चैमर्ज का सहवास बड़ा अजीब-सा लगा। मुझे हिंसा नापसन्द थी। मैं व्यक्ति-स्वाधीनता का हिमायती था। मैं क्रान्ति तो चाहता था, किन्तु मेरी इच्छा थी कि व्यक्ति-स्वाधीनता को नष्ट किए बिना ही एक न्यायपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना हो जाए। चैमर्ज से मैंने ये सब बातें कह डालीं। उसने अपना पाइप मुख से बाहर निकाला और एक प्यार भरे, किन्तु कड़े स्वर में बोला—"गांधी।" मैंने लीग आफ नेशन्स के बारे में चर्चा चलाई। चैमर्ज ने मुझे समझाया कि लीग का थोथा आदर्शवाद युद्ध को नहीं रोक सकेगा। लीग तो साम्राज्यवादी शक्तियों का गुट है, जो यदि अपने साम्राज्य का और विस्तार नहीं, तो कम से कम रक्षा अवश्य चाहते हैं। वे अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये लीग को कठपुतल की तरह नचाएंगे। लीग को नचाने वाले राष्ट्र स्वयं शस्त्रास्त्र बनाने वाले पूँजीपतियों के कठपुलते हैं। और सच्ची बात तो यह है कि लीग केवल रूस के विरुद्ध गढ़ा गया एक षड्यन्त्र मात्र है। जब तक पूँजीवादी व्यवस्था कायम है, तब तक निरस्त्रीकरण की बातें करना बकवाद है।

उपन्यास साहित्य के बारे में हमारी बातें हुई। इस विषय में मैंने चैमर्ज को भी अन्य कम्युनिस्ट लेखकों जैसा पाया। उनके निकट अनुभूति की कोई कीमत नहीं थी। बस एक विप्लव का सिद्धान्त लेकर वे कागज काले करना सीखे थे। मार्क्स ने कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में कुछ ऐसे बूर्जुआ लोगों की ओर संकेत किया है, जो कि जान-बूझकर मजदूर वर्ग का पक्ष लेते हैं। चैंमर्ज मुझे उन्हींमेंके लगे। राजनीति में यह सम्भव है। रूस की क्रान्ति के अधिकतर नेता इसी वर्ग के थे। किन्तु साहित्य में यह बात मानना कठिन है। जो बूर्जुआ वातावरण में पलापनपा है, वह साहित्यकार अपने जन्मजात संस्कारों को नहीं मिटा सकता। वह भला अपने राजनीतिक विश्वास के बल पर एक मजदूर के संस्कार कहाँ से पा सकता है। यदि कोई इस दिशा में सफल भी हो जाए, तो उसे पता लगेगा कि कुछ मजदूरों को छोड़कर क्रान्ति होने के पूर्व प्राय: सभी मजदूर बूर्जुआ संस्कार वाले होते हैं। मजदूरों को मजदूर-साहित्य में कोई दिलचस्पी नहीं होती। इसके सिवाय पूँजीवाद की भर्त्सना करते हुए एक क्रान्तिकारी उपन्यास लिखना भी साहित्य में एक समस्या उपस्थित कर देता है। राजनीति में क्रियाशील लोग प्रचारात्मक ढंग से लिखना अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु जिस साहित्य का निर्माण अनुभूति की प्रेरणा से होता है, उसमें एकांगी प्रचार का समावेश एक प्रकार से असम्भव-सा है। ऐसे साहित्य में तो क्रान्तिकारी गुण भी रहेंगे और कुछ बुरी बातें भी। चैमर्जने ये सब कठिनाइयाँ स्वीकार कर लीं। कहने लगे—"मैं यह नहीं कहता कि जिस उपन्यास में मजदूर नायक है और पूँजीपति खलनायक, वही एक उपादेय कम्युनिस्ट उपन्यास है। एक और भी अच्छा उपन्यास वह हो सकता है जिसमें कि पूँजीपति लोगों को सहृदय और सज्जन व्यक्ति के रूप में दिखाया गया हो और कम्युनिस्टों को जले-भुने क्रूर लोगों के रूप में। किन्तु उस उपन्यास में यह तो दिखाना ही चाहिये कि पूँजीपति लोग अच्छे होकर भी गलत रास्ते पर हैं और कम्युनिस्ट बुरे होकर भी सही रास्ते पर। हां, इतना भी मैं जानता हूँ कि पार्टी इस प्रकार के उपन्यास का स्वागत नहीं करेगी।"

मैं समझ गया कि चैमर्ज बुद्धिवादी कम्युनिस्ट हैं। तभी वे अच्छे पूँजीपति और बुरे कम्युनिस्ट की बात मान गए। उनके लिये व्यक्ति और उसके गुण-धर्म तो सर्वथा गौण थे। वे मुख्य स्थान तो इतिहास के प्रवाह को देते थे। इतिहास में रोड़े अटकाने वाले लोग अच्छे हों, तो भी नहीं बच सकते। इतिहास को आगे बढ़ानेवाले लोग बुरे हों, तो भी उनको रोका नहीं जा सकता। उनका इतिहास पर पूर्ण विश्वास था। कहते थे कि इतिहास भूल नहीं कर सकता, अन्ततः वह सब लोगों को भला बनाकर ही सांस लेगा। उसी प्रकार जैसे कि पूँजीवादी व्यवस्था भले आदमियों को भी क्रूर और जंगबाज बना डालती है। कम्युनिस्ट सिद्धान्तों की यह व्याख्या कम्युनिस्टों में आम तौर पर पसन्द नहीं कि जाती। हैरी पौलिट भी चैमर्ज की बात नहीं मानते थे।

इस सब चर्चा के कई वर्ष बाद १९३७ में मैंने चैमर्ज से मास्को के नए मुकद्दमों के सम्बन्ध में पूछताछ की। उन मुकदमों में बुखारिन और राडेक इत्यादि को दोषी ठहराया गया था। वे कुछ हकलाए, कुछ क्षण तक दूसरी ओर ताकते रहे, फिर पलकें झपकते हुए बोले—"ये सब मुकदमे इतने अधिक हो रहे हैं कि मैंने उनके विषय में सोचना ही बन्द कर दिया है।" ऐसा लगा जैसे चैमर्ज ने अन्तिम फैसला कर डाला हो। चूंकि उन्होंने अपनी सारी आशा भविष्य पर लगाई थी, इसलिये वर्तमान की नृशंसता को उन्होंने स्वीकार कर लिया। एक ओर तो वे मार्क्सवादी इतिहास का सिद्धान्त मानते थे और दूसरी ओर उनका मजदूर श्रेणी पर एक अन्ध-विश्वास था। मजदूर जैसे कोई चमत्कार जानते हों। कहते थे कि मजदूर ही मानवता का भविष्य हैं और उनको यदि अवसर मिला, तो वे एक नई सभ्यता का निर्माण अवश्य करेंगे। यदि उनको कभी कम्युनिज्म की करतूतों पर संशय होता था, तो वे सोचने लगते थे कि मजदूर तानाशाही की क्रूरता द्वारा उपस्थित की हुई परिस्थितियों में ही भावी मजदूर संसार का बीजारोपण हो सकता है। इन सब बातों से जान पड़ता था कि कम्युनिज्म में उनका विश्वास तर्क पर नहीं, बल्कि भावना पर आश्रित है। मेरे विचार में अधिकतर बुद्धिवादी कम्युनिस्ट

भावना के बल पर ही अपना विश्वास टिकाए रहते हैं। राजनीतिक क्रियाशीलता और आर्थिक शक्तियों के संघर्ष में विश्वास करने वाला स्वयं अपने भीतर एक शक्ति का संचार पा लेता है। उसके निकट क्रान्ति की क्रूरता पर आँसू बहाना निरर्थक भावुकता रह जाती है। मन में उमड़ती करुणा को वह विप्लव से भागने की प्रवृत्ति मानने लगता है। इस प्रकार मानवता के चरम कल्याण में विश्वास रखते हुए भी वह जेल में सड़ने वाले अथवा गुलाम कैम्पों में तड़पने वाले हजारों मनुष्यों की ओर से आँख मूंद लेता है। वह कहने लगता है कि रूस में कारागार और गुलाम कैम्प हों या नहीं, कम से कम पूँजीवादी तो उस प्रकार का प्रचार करते रहना चाहते हैं। इस पूँजीवादी प्रचार का प्रत्युत्तर देने के लिये क्रान्तिकारी को कहते रहना चाहिये कि रूस में वह सब कुछ नहीं। इस प्रकार हाड़मांस के हजारों व्यक्तियों की यन्त्रणा एक बौद्धिक दलील बनकर रह जाती है। वह रटता रहता है कि आज संघर्ष करो, कल कम्युनिज्म आएगा और फिर सब इन्सान सर्वप्रकारेण मुक्त हो जाएँगे। कहने लगता है कि यदि ये कारागार और गुलाम कैम्प सचमुच ही रूस में हों, तो भी घबराने का कोई कारण नहीं। क्रान्ति जैसे भव्य काम के लिये बलिदान तो होने ही चाहिये। क्रान्ति में मरने पिसने वालों पर आँसू बहाना निरी भावुकता है। बस ध्येय पर आँखें जमाए रहना चाहिये, मन के सारे संशय और क्लेश अपने आप मिट जाएँगे। संशय और मनोवेदना से फायदा ही क्या है। फिजूल में शक्ति का अपव्यय होता है। ये सब उदारवाद की भूलें हैं। इत्यादि–इत्यादि।

इस तर्क–पद्धति का एक दूसरा पक्ष होता है। पूँजीवाद की काली करतूतों को सोच–सोचकर कम्युनिज्म के हत्याकांड को झुठला देना। कहा जाता है कि माना कि कम्युनिज्म कुछ लोगों पर अत्याचार करता है, किन्तु पूँजीवाद का अत्याचार तो और भी विशाल है। शान्ति के समय करोड़ों आदमी बेकार फिरते रहते हैं, महायुद्ध में करोड़ों को प्राण देने पड़ते हैं। यह सब पूँजीवाद का ही तो नतीजा है। पूँजीवाद में तो अत्याचार का कुचक्र कभी बन्द ही नहीं होता, पिसने वालों की संख्या बढ़ती ही जाती है।

कम्युनिज्म का वर्गहीन समाज स्थापित होने पर यह सब बन्द हो जाएगा। इसलिये कम्युनिज्म के अत्याचारों की बात करना बेईमानी है। अत्याचार यदि कुछ होते भी हैं, तो क्रान्ति के युग में। जब क्रान्ति सफल हो जाएगी और मजदूर तानाशाही भी मिटने लगेगी, तो ये अत्याचार कम होकर खत्म हो जाएँगे। कम्युनिज्म में शोषित वर्ग ही नहीं रहता। अत्याचार कौन और किस पर करेगा? कम्युनिज्म सब लोगों के सहयोग से एक सुन्दर संसार बनाना चाहता है। इत्यादि-इत्यादि। शुरू-शुरू में मैं भी अपने साथ इसी प्रकार के तर्क किया करता था। इस तर्क को मेरे अन्तर में छिपी पाप भावना और भी मजबूत कर देती थी। मुझे ऐसा लगने लगता था कि कम्युनिज्म की क्रूरताओं का प्रसंग उठाकर मानों मैं पूँजीवाद के गुनाहों की मार्जना कर रहा हूँ।

चैमर्ज की बातों का मेरे मन पर प्रभाव पड़ा। कई महीने तक मैं विचार करता रहा। मुझे ऐसा लगने लगा कि हमारे सभी कामों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक वे जो क्रान्ति को आगे बढ़ाते हैं और एक वे जो क्रान्ति को ठेस पहुँचाते हैं। किसी भी काम के पीछे करनेवाले के मनोभाव का कोई मूल्य नहीं। काम का परिणाम क्या होता है यही सोचने की बात है। कोई सच्चे दिल से गरीबों के साथ हमदर्दी रखकर उनके बीच काम करे तो भी वह गरीबों का दुश्मन हो सकता है। उसकी सेवा का यह परिणाम हो सकता है कि गरीब लोग पूंजीवादी व्यवस्था से सन्तुष्ट हो जाएं और विद्रोह करना छोड़ दें। वास्तव में गरीबों को सेवा करने वाले पादरी और समाज-सुधारक पूंजीवाद के दलाल हैं। इसी प्रकार एक देश की सरकार को चलाने वाले सच्चे दिल से समाजवादी हो सकते हैं। किन्तु उनमें यदि क्रान्ति के योग्य कठोरता दिखाने की क्षमता नहीं है, तो उनका समाजवाद थोथा है। किसी दिन भी उनको एक पूँजीवादी षड्यन्त्र का सामना करना पड़ सकता है। पूंजीवादी गुट उनके देश की साख को पहिले विदेशों में मिटा कर देश के भीतर सरकार का दीवाला निकालने की कुचेष्टा कर सकता है। ऐसी अवस्था में या तो समाजवादी सरकार को सब कुछ देखते हुए सिर झुकाना

पड़ेगा अथवा क्रूरता का अवलम्बन करके भी पूँजीवाद का विनाश करना होगा। बीच का कोई रास्ता ही नहीं। १९३० के बाद कई समाजवादी सरकारों को ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा। प्रश्या में ब्रॉन और सैवरिंग और इंगलैण्ड में रेमंजे मैक्डानल्ड ने क्रान्तिवादी मार्ग अपनाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने पूँजीवाद से समझौता करके हाथ में आई सत्ता का परित्याग कर दिया।

जिस प्रकार मैंने समाजवादियों के बारे में सोचा, उसी प्रकार अपनी भी आत्मसमीक्षा करना मैंने शुरू किया। मैंने अपने आप से पूछा कि आखिर मैं चाहता क्या हूं। कहीं मैं मनबहलाव तो नहीं कर रहा हूँ? मेरी अवस्था अच्छी है। दूसरों को अपने जैसा देखने की इच्छा एक मन-बहलाव भी हो सकती हैं। क्या सचमुच मैं एक समाजवादी व्यवस्था का स्वागत करने के लिए तैयार हूं। उस व्यवस्था को कायम करने के लिये जो कठोर काम आवश्यक हैं, क्या वे मुझे पसन्द आएँगे? समाजवादी व्यवस्था के पूर्णतया कायम होने के पूर्व मध्यकाल में पूँजीवाद से भी अधिक दुखदायक जो समाज बनेगा, क्या वह मुझे स्वीकृत होगा? और यदि समाजवाद की स्थापना के लिए स्थापना के लिए आवश्यक कठोरता का मैं पक्षपाती नहीं तो क्या मेरा समाजवाद एक भावुक स्वप्नशीलता से अधिक कुछ हो सकता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर मैंने अपने-आप से मांगा। मेरे मनने गवाही दी कि मैं मजदूरों के साथ एक होना नहीं चाहता। मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि औरों को भी मेरी तरह जीवन-यापन का अवसर मिल जाए। पूँजीवादी व्यवस्था में मुझे जो स्वाधीनता मिली थी वह खो देना मैं नहीं चाहता था। कल्पना और विचार का सारा जोर लगाकर मैंने अपना मन समझाया और यह कहने का तैयार हो गया कि मेरी अपनी स्वाधीनता चली जाए, तो भी मैं क्रांति का समर्थन करूंगा। आखिर युद्ध छिड़ जाने पर भी तो मैं यह सब सहने के लिए तैयार था। किन्तु इतना सब मान लेने पर भी मेरी उलझनें कम नहीं हुई। मेरे सामने कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित हो गए जिनका सामना करते हुए मुझे कंपकंपी आने लगी। उन प्रश्नों से मेरे किसी स्वार्थ का लगाव नहीं था। मैं

जानता था कि क्रान्ति के उपरान्त मजदूर–तानाशाही के अन्तर्गत व्यक्ति–स्वाधीनता बहुत कुछ सीमित हो जाएगी। कुछ लोग यदि कुछ ऐसी बातें कहना चाहेंगे जो कि मजदूर–तानाशाही को स्वीकृत न हों, तो क्या मैं उनका गला घोंटने में सहयोग दे सकूँगा? नहीं। मुझे भगवान में विश्वास रखना राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियात्मक नहीं लगता। इसी प्रकार प्रकृति एवं मनुष्य के सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी बातें हैं, जो मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से "वैज्ञानिक" नहीं। मार्क्सवाद विज्ञान के नाम पर बार–बार वैज्ञानिक पद्धति का विरोध करता है। क्या मैं भी मार्क्सवाद की ये सब हठधर्मियाँ मान सकूँगा? नहीं।

सहृदय बुद्धिवादी के लिए कम्युनिज्म एक मानसिक द्वन्द्व उपस्थित करता है। वह द्वन्द्व समझना आवश्यक है। बहुत–सी और बातें इस प्रकार स्पष्ट हो जाएँगी। कम्युनिस्ट बहुत से ऐसे काम करते हैं, जिनमें दूसरों को बेईमानी दीख पड़ती है। किन्तु उन कामों को करनेवाले कम्युनिस्ट पूर्णतया ईमानदार हो सकते हैं। कम्युनिस्ट मानो एक ऐसे जहाज पर सवार रहते हैं जिसने कि दोहरे लंगर डाले हों। तूफान में पड़कर अनेक जहाज शायद बह जाएँ। किन्तु कम्युनिस्टों का जहाज टस–से–मस नहीं होता। उन दो लंगरों में एक होता है पूँजीवाद की काली करतूतों का सतत् स्मरण और दूसरा होता है वर्गहीन समाज–व्यवस्था की अनवरत टेर। इसलिए उनके लिए वह तूफान उठता ही नहीं जो कि उदारवादी जहाजों पर चढ़े लोग अपने लिए खड़ा करते रहते हैं। कम्युनिस्ट कभी नहीं सोचते कि क्रान्ति के लिए जो रक्तपात आवश्यक है, उसको लेकर भी एक हृदय–मंथन का प्रसंग पैदा हो सकता है। अन्तरात्मा के स्पन्दन बन्द हो जाने पर ही ऐसा हो सकता है। इस वजह से कम्युनिस्टों में एक दृढ़ता का आभास होता है और बहुत से गैर–कम्युनिस्ट कम्युनिस्टों के सामने अपराधी से बनकर अपनी भूलें स्वीकार करने को दौड़ पड़ते हैं। अन्तरात्मा को जीवित रखना तो घोर विडम्बना है। दुनिया भर के लिए हमको दुःख–दर्द सहना पड़ता है। कम्युनिस्टों को यह सब बला नहीं होती। बस पार्टी की शरण लेने भर से उनका सारा उत्तरदायित्व का भार

उन पर से उतर जाता है और कुछ भी कर–गुजरने में उनको सोचने–समझने की जरूरत नहीं पड़ती। इसीलिए कम्युनिस्ट इतनी आसानी से और लोगों का मज़ाक उड़ा सकता है। कहता रहता है कि जिसको हम अन्तरात्मा कहकर आसमान पर उठाए हुए हैं, वह तो हमारे मन की एक दुर्बलता मात्र है जो नए समाज के लिए संघर्ष में हमको कायर बनाती है। हम मारकाट और खूनखराबी नहीं देख सकते तो साफ–साफ कह देना चाहिए। हम अन्तरात्मा की दोहाई क्यों देते हैं? इत्यादि, इत्यादि।

कम्युनिस्टों को पूर्ण विश्वास होता है कि पूँजावादी सत्ताधीशों को मिटाकर मजदूर वर्ग समाज का नव–निर्माण करेगा। और यह "मजदूर वर्ग" की बात भी उनकी अन्तरात्मा को ठोस बनाने में सहायक होती है। कम्युनिस्ट स्वयं चाहे बुद्धि की स्वाधीनता में विश्वास रखते हों, किन्तु मानते हैं कि करोड़ों मजदूर तो केवल शान्ति, रोटी, कपड़ा इत्यादि चाहते हैं। उनको बुद्धि की स्वाधीनता से क्या मतलब? और यदि चन्द हजार लोगों की बौद्धिक स्वाधीनता छीनकर लाखों करोडों को रोटी, कपड़ा दिया जा सकता है तो वह स्वाधीनता छीन लेनी चाहिए। चीन अथवा भारत के मजदूर को क्या पड़ी कि पेरिस के चायखानों में बैठकर चन्द लोग कला, तत्त्व–दर्शन अथवा साहित्य की चर्चा करते हैं या नहीं?

फिर भी जिन दिनों की बात मैं कह रहा हूं उन दिनों कम्युनिस्टों ने बुद्धिवादियों की अवहेलना करना बन्द कर दिया था। और बुद्धिवादी भी फासिज्म के विरोध में कम्युनिज्म की ओर झुक रहे थे। जर्मनी में हिटलर के उत्थान ने बुद्धिवाद पर प्रचण्ड प्रहार किया था। कलाकार, विचारक, साहित्यकार सबकी स्वाधीनता खतरे में थी। उसी समय मैंने रूस में बने कुछ छाया–चित्र देखे और उनकी कलात्मक मौलिकता देख कर मैं वाह–वाह कह उठा। मैंने मौरिस हिन्डस तथा लूई फिशर इत्यादि की पुस्तकें पढ़ीं, जिनमें बताया गया था कि रूस में बहुत बड़ी सामाजिक प्रगति हुई है। उन्हीं दिनों मैंने रूस के विरुद्ध भी कुछ पढ़ा था, किन्तु पीछे चलकर मुझे पता चला कि वह सब मिथ्या प्रचार था। और स्टालिन संविधान लागू होने पर तो मुझे

पूरी आशा होने लगी कि रूस में वृहत्तर स्वाधीनता का युग आने वाला हैं। आज यह सब लिखना मुझे एक क्रूर मज़ाक–सा लग रहा है, क्योंकि नाजियों की तरह ही आज कम्युनिस्ट भी बौद्धिक स्वाधीनता के कट्टर शत्रु बन गए हैं। किन्तु उस समय यह सब स्पष्ट नहीं हो पाया था। कीरोव की हत्या होने के पूर्व ऐसा लगता था कि रूस में गणतन्त्र स्थापित हो रहा है। यद्यपि रूस में जाने–वालों को कुछ चुने हुए स्थान ही दिखाए जाते थे, तो भी आज की तरह पूर्णतया रूस को बाहर के संसार से छुपाया नहीं गया था। कुछ प्रतिक्रिया–वादी लोग रूस विरोधी प्रचार करते रहते थे। उन्होंने भी रूस की मदद की। एक ऐसा वातावरण बन गया था जिसमें कि रूस के विरुद्ध कुछ भी सुनने को लोग तैयार नहीं थे।

फासिज्म से त्रस्त बुद्धिवादी और यहूदी इत्यादि किसी मित्र–पक्ष की खोज में थे। गणतन्त्रों के नेताओं से उनको कोई सहानुभूति नहीं मिली। और वे कम्युनिज्म की ओर झुक गए। अपने मन की तराजू पर उन्होंने एक ओर फासिज्म, बेकारी और महायुद्ध इत्यादि को रक्खा और दूसरी ओर कम्युनिज्म दोषों को। उन्हें कम्युनिज्म का पाँसा भारी लगा। इ० एम० फोर्स्टर जैसे उदावादी व्यक्ति ने भी कह डाला कि संसार की समस्त आशा विश्वास का केन्द्र कम्युनिज्म हैं। साथ ही उन्होंने यह भी कहा था कि वे स्वयं कम्युनिस्ट नहीं हैं। किन्तु उधर किसी ने ध्यान नहीं दिया। और साधन और साध्य की तत्त्वचर्चा को लेकर एक बहुत भारी वाद–विवाद खड़ा हो गया। मैं यह नहीं कहूंगा कि उस विवाद में भाग लेनेवाले व्यक्ति जागरूक होकर उस विवाद में भाग ले रहे थे। अधिकतर लोग तो एक नष्ट–भ्रष्ट होती सभ्यता में कहीं सिर छुपाने का स्थान ढूँढ रहे थे। १९३० की मन्दी ने उन की समाज–व्यवस्था को जड़–मूल हिला दिया था। हिटलर का उदय देखकर उनको यह विश्वास भी खोना पड़ा था कि उनके संसार में सहनशीलता का बोलबाला है। यहूदियों पर किए गए अत्याचार देखकर वे करुणा से द्रवित हो गए थे। और कम्युनिज्म के सिवाय उन्हें कोई किनारा ही नहीं सूझा।

स्पेन के गृहयुद्ध ने इस वाद–विवाद को पराकाष्ठ पर पहुंचा दिया। स्पेन के निवासी शायद उस गृहयुद्ध को उस रूप में न देख पाए हों जिस रूप में कि हम बाहरवाले देख रहे थे। उनको शायद दोनों पक्षों पर लड़ने वाले विदेशियों से घोर घृणा हुई हो। किन्तु बाहरवालों के लिए तो वह गृहयुद्ध फासिज्म और फासिज्म–विरोध का मोर्चा बन गया। मानों युरोप की आत्मा के लिए संघर्ष हो रहा हो। जनता द्वारा चुनी हुई सरकार के विरुद्ध स्पेन के कुछ फौजी अफ्सरों ने विद्रोह किया था। उस विद्रोह में सफल होने के लिए उन्होंने विदेशियों की सहायता ली। वह सहायता पहुँचते ही सरकार का पक्ष गणतन्त्र का पक्ष कहलाने लगा और विद्रोहियों का पक्ष फासिज्म का पक्ष बन गया। इटली, जर्मनी, रूस और अन्तर्राष्ट्रींय स्वयंसेवक स्पेन की धरती पर वह युद्ध लड़ते हुए ऐसा ही सोच रहे थे। उनको यह जानने की जरूरत ही महसूस नहीं हुई कि स्पनेवाले उस युद्ध को क्या समझते हैं। इस प्रकार यह आदर्शवादियों और अनाड़ियों का युद्ध बन गया। कवि लोग लड़ने जा पहुंचे। इङ्गलैण्ड के ही पांच श्रेष्ठ कवियों ने इस युद्ध में अपने प्राण दे डाले। और देशों के भी कुछ कवि मरे। बुद्धिवादी इसीलिए इस युद्ध पर लटटू हो गए। युद्ध के प्रथम दिनों में ही मैं भी जिब्राल्टर, ओंरैन और टाँगियर गया था। वहाँ लोक सभाओं में प्रजातन्त्र के लिए जनता का जोश देखकर मैं अवाक् रह गया। टांगिर में मैंने जो सभा देखी वैसी आज तक फिर नहीं देख पाया हूं। सभा में कुछ अन्धे, लंगड़े औ लूले भी थी। वे जिस तल्लीनता से प्रजातन्त्र के समर्थकों के भाषण सुन रहे थे, वह देखकर मुझे बाइबल के उन लोगों की याद आई जो कि ईसामसीह की वाणी सुनने के लिए एकत्र हुआ करते थे।

सभी स्थानों पर मेरी कम्युनिस्टों से भेंट हुई। उनका आत्मविश्वास और भद्रता देखकर मैं बड़ा प्रभावित हुआ। औरैन में मैंने बहुत शोर–शराबा, गन्दगी और पियक्कड़ देखे। उनके बीच रहते हुए वे कम्युनिस्ट मानो किसी अन्य संसार के निवासी थे। साथ–ही–साथ मैं गणतन्त्रवादी देशों से आए हुए कर्मचारियों तथा व्यापारियों से भी मिला। मुझे वे पसन्द नहीं आए। प्रायः सभी फ्रैंको के समर्थक थे। मैं कई उदाहरण दे सकता हूं। किन्तु सबसे

अच्छा उदाहरण टाँगियर का रहेगा। टाँगियर में एक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार थी, जिसे ब्रिटेन, इटली, स्पेन, बेल्जियम तथा फ्राँस के प्रतिनिधि मिल कर चलाते थे। उन सबने स्पेनिश प्रजातन्त्र के प्रतिनिधि प्रीतो दैलरियो का बहिष्कार–सा कर रक्खा था। मैंने जब एक टैक्सीवाले से स्पेनिश दूतावास तक ले जाने के लिए कहा तो वह मुझे फ्रैंको के हैड क्वार्टर पर ले गया। उसी को वह स्पेनिश दूतावास समझता था। ब्रिटिश दूतावास में एक पार्टी में गया था। वहाँ पर आए अतिथि विस्मय दिखा–दिखा कर चर्चा कर रहे थे कि प्रीतो जैसे भलेमानस ने भला प्रजातन्त्र का पक्ष क्यों अपनाया। जैंसे प्रीतो कानूनन बनी हुई सरकार का प्रतिनिधि न होकर किसी डाकुओं के दल का सरदार हो। जब मैं प्रीतों से मिलने गया तो देखा कि वह अपने कर्मचारियों के साथ एकाकी जीवन बिता रहा है। कहने को वह टांगियर की सरकार का सदस्य था, किन्तु उसे कोई नहीं पूछता था।

जिब्राल्टर में मेरी एक पुराने ब्रिटिश अफ्सर से बात हुई। उसने स्पष्ट रूप से परिसिथिति का विश्लेषण कर डाला। कहने लगा—"ब्रिटेन में लोग नहीं समझ पाते कि स्पेन के प्रजातन्त्रवादी हमारी किस्म के गणतन्त्रवादी नहीं हैं। आप अगर स्पेन की गलियों में जाकर दस मजदूरों से पूछ कर देखें कि वे किसके साथ हैं तो वे उत्तर देंगे कि प्रजातन्त्र के साथ। ब्रिटेन जैसा गणतन्त्रवाद वह नहीं हैं। वहाँ तो नब्बे प्रतिशत लोग उसका समर्थन करते हैं।" अफ्सर की बात में व्यंग था। उसने यह सब बातें प्रजातन्त्र के विरुद्ध समझ कर कही थीं। वास्तव में जिबराल्टर में रहनेवाले अंग्रजों का स्पेन की जनता से कोई सम्पर्क ही नहीं था। वे तो स्पेन के अमीर–उमराओं को ही जानते थे। इन्हीं लोगों से उन्होंने सुन रक्खा था कि स्पने के प्रजातन्त्रवादियों ने क्या–क्या कुकर्म किए हैं। यदि उनको फ्रैंकों के कुकर्मों का कच्चा चिट्ठा सुनाया जाता तो वे कहते थे कि उन्होंने वह सब नहीं सुना। एक बार फिर से मैं स्पेन के दौरे पर गया और बारसेलोना, मैड्रिड तथा वैलेन्सिया में ठहरा। घर लौटकर मैंने स्पने के प्रजातन्त्र के पक्ष में आन्दोलन में भाग लिया। मैंने वक्तृताएँ दीं और अनेक कमिटियों में काम किया। एक बार तो कुछ और

लेखकों के साथ मैं एक जलूस में भी शामिल हुआ। हमारे हाथों में झण्डे थे, जिन पर स्पेन के जनतन्त्र के नारे लिखे हुए थे। इन दिनों "जनवादी मोरचे" का बोलबाला था। उस आन्दोलन के कारण उदारवाद की एक धारा उठी थी और केवल कम्युनिस्ट पार्टी ने ही उस धारा को अपनाया था। रेमजे मैक्डॉनल्ड ने विलायत की लेबर पार्टी के साथ जो विश्वासघात किया था, उसकी चोट से लेबर पार्टी सम्भल नहीं पाई थी। इसलिए सारा मैदान कम्युनिस्ट पार्टी के लिए खाली पड़ा था।

बुद्धिवादियों और लेखकों में विक्टर गौलाँक्स, जान स्ट्रेची, जार्ज ऑरवेल, आर्थर कोयस्लर, ई० एम० फोर्स्टर इत्यादि तो पूर्णतया कम्युनिस्टों के साथ रहकर फासिज्म का विनाश करने तथा स्वाधीनता और सामाजिक न्याय की स्थापना करने के हक में थे। किन्तु अनेक ऐसे लोग थे जो कम्युनिस्ट न होते हुए भी स्पेनिश प्रजातन्त्र का समर्थन करते थे, क्योंकि उधर वे गणतन्त्र की शक्तियाँ देखते थे। यदि कम्युनिस्ट "जनवादी मोर्चे" में उसी ईमानदारी से आए होते जैसे कि समाजवादी और उदारवादी लोग तो एक नयी क्रान्ति सम्भव थी, जिसमें १८४८ की क्रान्तियों जैसा स्पन्दन, श्रद्धा और विश्वास होता। किन्तु कम्युनिस्ट तो मोर्चे में इसीलिये शामिल हुए थे कि भीतर से वह सबका नियन्त्रण कर सकें। इस प्रकार जो पार्टी एकता के लिये सबसे ज्यादा हो-हल्ला कर रही थी, उसी ने वास्तव में एकता का मूलोच्छेदन किया। ९१३० की मन्दी, वाइमर प्रजातन्त्र का विनाश, वीयना के समाजवाद का पतन—ये सब मैंने अपनी आँखों से देखे थे और मुझे सिद्धान्तरूपेण कम्युनिज्म में विश्वास हो गया था। अपनी कविता और लेखों में मैंने कम्युनिज्म की अनिवार्यता का दावा किया था और पौलिट के कहने से मैं कुछ दिन के लिये कम्युनिस्ट पार्टी में भी भर्ती हो गया था। फिर भी स्पेन के कारण ही मुझे दूसरे लोगों के साथ राजनीतिक काम करने का अनुभव हुआ। जिस कारण से मैं पार्टी में शामिल हुआ था, वही कारण मुझे बाहर भी निकाल लाया। मैंने शीघ्र ही यह देखा कि यद्यपि संगठन और नेतृत्व कम्युनिस्टों के हाथ में हैं, तो भी जनता के जिस जोश के बल पर स्पेन

का संघर्ष चल रहा है, उसके पीछे उदारवाद की ही प्रेरणा है। कम्युनिस्ट भी यह जानते थे कि स्पेन के प्रजातन्त्र को जो समर्थन मिल रहा है, वह इसीलिये कि प्रजातन्त्र कम्युनिस्ट नहीं है। वे उच्च स्वर से कहते थे कि प्रजातन्त्र कम्युनिस्ट नहीं है और अपना कूटचक्र चलाते रहते थे। उन के हथकण्डे देखकर उदारवादियों को एक आत्म-द्वन्द्व सहना पड़ा, जिसके कारण प्रजातन्त्र के समर्थकों में फूट पड़ गई। कम्युनिस्ट सब कुछ अपने हाथ में करना चाहते थे और गृहयुद्ध तो उनके शक्ति-संचय के लिए एक अवसर मात्र था। किन्तु दूसरे लोग कुछ और प्रेरणाओं को लेकर ही उस संघर्ष में शामिल हुए थे। उस समय की लिखी हुई श्रेष्ठ पुस्तकें सारे संघर्ष को जिस दृष्टिकोण से समझाती हैं, उन सब पर उदारवाद की स्पष्ट छाप है।

दूसरी बार जब मैं स्पेन में गया, तो देखा कि कम्युनिस्टों ने अन्तर्राष्ट्रीय दस्ते पर पूर्ण अधिकार जमा लिया है। वह दस्ता "जनवादी मोर्चे" का नारा लगाकर संगठित किया गया था। इसी प्रकार वे सारे स्पेन में काम कर रहे थे। स्पेनिश सेना में भी उन्होंने समस्त राजनैतिक दलों को संगठन का नारा दिया और संगठन का नेतृत्व अपने हाथ में लेकर सेना पर अधिकार जमा बैठे। कम्युनिस्टों की जालसाजी से बहुत-सी दु:खद घटनाएँ घटी। एक घटना मुझे भी याद है। मैं मैड्रिड के निकट युद्ध-मोर्चे पर गया, तो मुझे एक अङ्गरेज लड़का मिला। वह स्कूल छोड़कर दस्ते में भर्ती हुआ था। उमर थी केवल अठारह साल। उसने मुझे बताया कि वह तो दस्ते को प्रजातन्त्र की नाई उदारवादी संगठन समझ कर आया था। किन्तु जब उसने देखा कि दस्ते पर कम्युनिस्टों का प्रभुत्व है, तो उसकी प्रजातन्त्र पर से श्रद्धा मिट गई। वह कम्युनिस्टों से किसी प्रकार का सम्पर्क रखने के लिये तैयार नहीं था। मैंने उससे बातें की तो मालूम हुआ कि स्पेन में आने से पहले उसने कभी कम्युनिज्म के बारे में नहीं सोचा था। मैंने उससे पूछा कि क्या मैं उसे ब्रिटेन वापिस बुलवाने का प्रयत्न कर सकता हूं। उसने सामने पहाड़ी की ओर उंगली उठाकर कहा—"अब तो मृत्यु के दिवस तक मैं इन्हीं चोटियों पर टक्करें मारूँगा।" उसे इङ्गलैंड लौटने में लाज का अनुभव होता था। लोग उसे बेवकूफ कहते। छ: सप्ताह बाद वह युद्ध में मारा गया।

इङ्गलैंड लौटकर मैंने 'न्यू स्टेट्समैन' में एक लेख लिखा। मैंने कहा कि कम्युनिस्टों को मिथ्या प्रचार नहीं करना चाहिये। नौजवानों को दस्ते में भर्ती करने से पूर्व साफ-साफ बता देना चाहिये कि दस्ता एक कम्युनिस्ट संस्था है। कम्युनिस्टों को वह लेख अच्छा नहीं लगा। कई सप्ताह पश्चात् मुझे बैलेन्सिया में एक कम्युनिस्ट समाचार-पत्र का प्रतिनिधि मिला। उसने मेरा लेख पढ़ा था। वह मानता था कि जो कुछ मैंने लिखा था वह सत्य था। फिर भी उसकी राय में मुझे वैसा लिखना नहीं चाहिये था। मेरा कर्त्तव्य था कि स्पेन का युद्ध जीतने और कम्युनिज्म को विजयी बनाने में मदद दूं। वह बहुत नम्रता से तर्क कर रहा था। कहने लगा कि सचाई के लिये अनेक लोगों को मरना पड़ता है, अन्याय अत्याचार भी सहना पड़ता है और इन सब साधारण बातों को लेकर संघर्ष के किसी को विमुख नहीं होना चाहिये। उसकी बातों में मोह लेने की शक्ति थी।

कम्युनिस्टों के प्रचार का ढंग भी निराला था। वे कहते रहते थे कि समस्त हत्याकाण्डों में फ्रैंकों का हाथ हैं। जो लोग प्रजातन्त्र के विरुद्ध कुछ अत्याचारों का सच्चा आरोप लगाते थे, उन्हीं को कम्युनिस्ट फासिस्ट कहकर गाली देने लगते थे। कम्युनिस्टों का प्रचार था कि प्रजातन्त्र का पक्ष तो देवपक्ष है और उसके विरुद्ध केवल फासिस्ट लोग ही हो सकते हैं। मालरो और हैमिंगवे के उपन्यास पढ़कर हम जानते हैं कि प्रजातन्त्र का पक्ष देवपक्ष नहीं था, उधर भी कुछ ज्यादतियाँ हो रही थी। लोरका की हत्या को लेकर भी कम्युनिस्टों ने मिथ्या प्रचार किया। लोरका कम्युनिस्ट नहीं था, बल्कि कैथोलिक था और गृहयुद्ध के आरम्भ में ही वह फ्रैंको अधिकृत स्पेन में भाग गया था। फासिस्टों ने उसकी हत्या कर डाली और कम्युनिस्टों को अवसर मिल गया। कम्युनिस्ट अपने जीवित विपक्षियों से घृणा करते हैं। किन्तु मरे हुए विपक्षियों से फायदा उठाना भी उन्होंने खूब सीखा है। वे कहने लगे कि फासिस्ट लोग केवल कम्युनिस्टों के ही दुश्मन हैं, यह कहना भूल है। लोरका तो कम्युनिस्ट नहीं था, वह तो एक प्रकार का प्रतिक्रियावादी ही था। तो भी उसको मार डाला गया। जब कम्युनिस्टों को बताया जाता था कि उसकी हत्या कुछ भूलों के कारण हुई थी, तो वे बिगड़ पड़ते थे। कहते थे

कि फासिस्टों ने जान-बूझकर उसकी हत्या की है। मैंने देखा कि स्पेन के अधिकतर कवि जिनके सम्पर्क में मैं आया, कम्युनिस्टों के इस मिथ्या प्रचार से शरमाते थे। किन्तु इस मिथ्या प्रचार से भी अधिक कुत्सित उनका वह प्रचार था, जो वे प्रजातन्त्र के पक्ष में रहने वाले गैर-कम्युनिस्टों के विरुद्ध कर रहे थे। उन्होंने ट्राट्स्कीवादियों[१] को फासिस्ट कहकर जिस जघन्यता से मारा, उसके कारण सभी गैर-कम्युनिस्टों की आँखों में प्रजातंत्र का पक्ष कलंकित हो गया। युद्ध के बाद स्पेनिश सेना के एक अफ्सर ने मुझे बताया कि कम्युनिस्टों के प्रचार से प्रजातन्त्र के पक्ष को नुकसान ही पहुँचा। कहने लगा—"हमारा आदर्श और पक्ष तो अच्छा ही था। हम सत्य बोल सकते थे, किन्तु.......... ।" उसकी बात में सार था। जिस प्रचार में मित्रपक्ष को देवता और शत्रुपक्ष को शैतान बताया जाता है उसका असर उन्हीं पर पड़ता है जो कि पहले से पक्षपात का निर्णय कर चुके हों। दूसरों को उस में विश्वास नहीं होता। कईबार कम्युनिस्टों के प्रजातन्त्र-समर्थक प्रचार का ठीक उल्टा असर हुआ। जिन लोगों को उस प्रचार से एक बार धोखा हो चुका था, उन्होंने सत्य को मानने से भी इन्कार कर दिया। वैलेन्सिया में एक आदमी मुझे मिला जिसकी आँख खुल चुकीं थीं। वह एक अमेरिकन पत्रकार और प्रजातन्त्र का पक्का समर्थक था। उस समय वह एक बड़े ब्रिटिश समाचार पत्र के लिए लिखता रहता था। किन्तु होटल के लाउन्ज में बैठकर दैनिक पत्र पढ़ते-पढ़ते उसे बहुत क्रोध आता था। वे पत्र उसकी रिपोर्ट तो बहुत काट-छांटकर छापते थे किन्तु फ्रकों के शिविर में जो पत्रकार था उसकी रिपोर्ट पूरी छपती थी। वह पत्रकार अनेक समझदार अमेरिकनों की नाई भोला था। एक दिन पत्रों में छपा कि वैलेन्सिया और बारसीलोना में प्रजातन्त्र के समर्थकों ने कई खून कर डाले हैं। उसने मुझसे पूछा कि क्या यह सत्य है। मैंने कह दिया कि

---

१ एक बड़ी संख्या में ये लोग फ्रैंको के विरुद्ध लड़ रहे थे। किन्तु कम्युनिस्टों के लिये प्रत्येक स्टालिन-विरोधी फासिस्ट होता है। बहाने बनाकर कम्युनिस्टों ने ट्राट्स्कीवादियों पर जहाद बोल दिया। अकेले बारसीलोना में ही ६०,००० लोगों की नृशंस हत्या कम्युनिस्टों ने की।

क्रान्ति के साथ यह सब खून-खराबी तो होती ही है। वह बोला—"तो प्रजातन्त्र वाले क्यों नहीं सच-सच कह देते?" मैंने जब कहा कि नहीं तो उसने कहा—"मुझे तो यदि मालूम हो जाए कि ऐसे काण्ड हुए हैं और वे झूठ बोलकर सब छुपा रहे हैं तो मेरा तो प्रजातन्त्र के प्रति सारा विश्वास जाता रहेगा।" कई सप्ताह बाद वह बारसीलोना गया। उस समय कम्युनिस्ट ट्राट्स्की-वादियों की हत्या कर रहे थे। उसने कम्युनिस्टों के मिथ्या प्रचार का भण्डाफोड़ किया और स्पेन छोड़कर चला गया। फिर उसने प्रजातन्त्र का समर्थन नहीं किया।

जुलाई १९३७ में वैलेन्सिया और मैंड्रिड में अन्तर्राष्ट्रीय लेखक संघ का अधिवेशन हुआ। मैंने उसमें भाग लिया। उसी समय आन्द्रेजीद ने अपनी रूस-भ्रमण नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। पुस्तक क्या एक रोजनामचा-सा था। यदि इंगलैंड, फ्रान्स अथवा अमेरिका के बारे में ऐसा ही कुछ लिखा गया होता, तो विशेष टीका-टिप्पणी नहीं होती और न ही किसी को क्रोध आता। किन्तु पुस्तक रूस के सम्बन्ध में थी। उसमें रूस की तारीफ भी की गई थी किन्तु स्टालिन की पूजा और भय तथा अविश्वास का वातावरण देखकर जीद ने रूस की भर्त्सना भी की थी। सारा कम्युनिस्ट संसार एक स्वर से चीत्कार कर उठा। जैसे किसी लाडले बच्चे की मां अपने बच्चे को धमकाया जाता देखकर संयम खो बैठती है। अभी तक कम्युनिस्ट कहते थे कि जीद संसार का सर्वश्रेष्ठ लेखक है जो संसार के सर्वश्रेष्ठ देश की तीर्थ यात्रा करने गया है। अचानक वे कहने लगे कि जीद फासिस्ट, पतित, गद्दार और न जाने क्या-क्या है। मुझे वह गाली-गलौच सुनकर विश्वास करना कठिन गया। अधिवेशन में मैने रूस के प्रतिनिधि भी देखे। उनका अहंकार और बेवकूफी दोनों ही जोरदार थे। अपनी वक्तृताओं में उन्होंने साहित्य के विषय में कुछ नहीं कहा। उन्होंने ट्राट्स्की और जीद को गालियाँ दीं, स्टालिन और कम्युनिस्टों की तारीफ की और बैठ गए। ईल्या आयरनबूर्ग, काल्टसोव इत्यादि ने एक भी बात ऐसी नहीं कही जिसको लेकर कुछ विचार विनिमय किया जाता। उनकी अपनी कुछ राय ही नहीं थी।

काल्टसोवने जीद की पुस्तक का भरपेट मजाक उड़ाया। किन्तु इस चाटुकारी ने उसकी जान नहीं बचाई। रूस लौटने पर वह हमेशा के लिए गायब हो गया। मैंने अपने भाषण में कहा कि जब लोग समझना नहीं चाहते तो उनको कुछ समझाया नहीं जा सकता। जब वे आँखें खोलना नहीं चाहते तो उनको कुछ दिखाया नहीं जा सकता। वैलेन्सिया से बारसीलोना लौटते समय मैंने एक कार में सफर किया। मेरे साथ एक कम्युनिस्ट कवि, एक महिला उपन्यासकार और उसकी मित्र एक कवयित्री भी थी। मैं ड्राइवर के साथ आगे की सीट में बैठा था। वह एक भला लेकिन भभक उठनेवाला व्यक्ति था। उसने बड़े अभिमान से मुझे बताया कि बारसीलोना में ट्राट्स्की वादियों के उच्छेदन के समय उसने अपने हाथों से पाँच आदमियों को गोली मारी थी। थोड़ी देर बाद हम सीमान्त पर पहुँच गए। वहाँ कुछ रुकना पड़ा। महिला उपन्यासकार ने कहा कि दस दिन तक स्पेन में रहकर उसने कोई भी ऐसी बात नहीं देखी जिसके लिए प्रजातन्त्र की भर्त्सना की जा सके। मैंने वह ड्राइवर की कही बात बता कर पूछा कि उस काण्ड को क्या कहा जाए। क्रोध से लाल होकर सब मुझे घूरने लगे। एक बार उन्होंने एक-दूसरे से आँखों-ही-आँखों में बात की और फिर चुपचाप मुझे छोड़ कर चले गए।

मैड्रिड में एक अंग्रेज लेखक था जो राजनैतिक कमीसार बन गया था। कुछ मोटा-सा, बातूनी आदमी था। वह होटल में हम लोगों को युद्ध की पृष्टभूमि समझाता रहता था। लेकिन बार-बार एक ही बात कहता था— "कम्युनिस्ट ही एकता के एकमात्र हिमायती हैं। सरकार में, सेना में, दस्ते में—सभी जगह कम्युनिस्ट एकता के लिए चेष्टा करते रहते हैं। और जब भी लोग एक हुए हैं तो कम्युनिस्टों ने उनका नेतृत्व किया है।

यदि कम्युनिस्टों ने नेतागिरी करने से किनारा किया है तो यह भी उनकी समझदारी का सबूत है।" मैंने विरोध करते हुए कहा—"यह क्या एकता है ? दूसरी पार्टियों को धोखा देकर एकता की डींक हाँकना एकता नहीं कहला सकता।" महिला कवि के मुख पर मेरे प्रति ग्लानि की रेखा उभर आई। किन्तु लेखक ने समझाया कि मुझे ठीक तरह सोचना चाहिए। उसके कहने

का मतलब था कि इतिहास की दृष्टि से कम्युनिज्म ही एकमात्र सत्य है। इसलिए एकता का सही मतलब यह हुआ कि सब लोग कम्युनिस्टों की बात मान लें। कम्युनिस्टों के विरुद्ध दूसरी पार्टियों को धोखा देने का आरोप लगाना तो फासिस्टवाद का तर्क है। इत्यादि, इत्यादि। कम्युनिस्ट वास्तव में विश्वास करते हैं कि धोखाधड़ी से जब वे 'जनवादी मोरचा' बनाते हैं, तो वास्तव में एकता की साधना करते हैं। तो कम्युनिस्ट ऐसा नहीं सोचता वह पतित है। कम्युनिस्टों की इस मनोवृत्ति को दोहरे विचार की वृत्ति कहा जाता है। इसी वृत्ति का एक और उदाहरण मिलता है। कम्युनिस्ट एक ओर तो स्वाधीनता, गणतन्त्र और 'जनवादी मोरचा' के गीत गाते रहते हैं और दूसरी ओर उदारवादियों तथा समाजवादियों को फासिस्ट कहकर गालियां देते रहते हैं। यही नहीं वे अपना विरोध करनेवाले उदारवादियों तथा समाजवादियों को मार डालने से नहीं हिचकते। स्पेन में उन्होंने ट्राट्स्की वादियों के साथ ऐसा ही किया था।

इन दिनों मैं एक निर्णय पर पहुँचा। बात गहरी नहीं है। सभी जानते हैं। लेकिन मुझे जब उसका ध्यान आया, तो मेरे राजनीतिक चिन्तन की दिशा बदल गई। मुझे विश्वास हो गया कि प्रायः सभी लोग सत्य को आंशिक रूप में जानते हैं। केवल अपने आदर्श और स्वार्थ ही उनको साफ-साफ दीख पड़ते हैं और दूसरी बातें जो उतनी ही सत्य हों, उनको जैसे दिखाई ही नहीं देतीं। जब कोई व्यक्ति एक काम करने का इरादा कर लेता है, तो उसके काम में सहायक सब बातें उसे अच्छी लगने लगती हैं। जो बातें उसके विरुद्ध जाती हैं, वे थोथी दीखने लगती हैं। हमको अपने मित्र तो हाड़मांस के असली आदमी लगते हैं और उनके साथ हम सहानुभूति दिखाते हैं। अपने विरोधी हमको बेकार के बकवादी लोग दीख पड़ते हैं, जो मिथ्या के बीच रहते-रहते इन्सानियत ही खो चुके हैं। उनको मार डालना तो ऐसा ही है जैसे स्लेट पर लिखकर कुछ मिटा डालना। इस प्रकार सोचने से बचने के लिये बौद्धिक क्षमता और सहृदयता की आवश्यकता है, जो बहुत कम मिलती है। स्पेन के गृह-युद्ध में मैं स्वयं अपने विरोधियों को मार डालने के हक में था।

जब मैं फासिस्टों द्वारा मारे हुए बच्चों के फोटो देखता था, तो मैं क्रोध से पागल हो जाता था। लेकिन जब फ्रैंको के समर्थक कम्युनिस्टों द्वारा की गई हत्याओं की ओर संकेत करते थे, तो मुझे दुःख होता था कि लोग ऐसा मिथ्या प्रचार भी करते हैं। पहली बातें सुनकर मुझे लाशें दीख पड़ती, दूसरी बातों में केवल शब्दों का दुरुपयोग। किन्तु मेरे मन के भीतर एक साक्षी था, जो पूर्णतया कभी बेकार नहीं हो पाया। धीरे-धीरे मुझे अपने मन की अवस्था देखकर भय लगने लगा। मुझे ऐसा लगा कि जब तक प्रत्येक बच्चे की हत्या पर मुझे दुःख नहीं होता, तब तक बच्चे की हत्या मेरे निकट अपराध नहीं है। लाशें तो लाशें हैं, चाहे उनको गिराने का उत्तरदायित्व फासिस्टों पर हो, चाहे प्रजातन्त्रवादियों पर। यदि मैं एक ओर की लाशें ही देखता हूँ, तो मैं मिंथ्या प्रचार का पक्षपात करने के सिवाय और कुछ नहीं करता।

कम्युनिस्टों की मनोदशा और आदमियों जैसी ही होती है। अधिकतर लोग कुछ थोथी बातों को लेकर हंगामा करते रहते हैं और असली, हाड़मांस के मनुष्य के सच्चे दुःख दर्द पर उनकी आँखें नहीं जातीं। बस मनुष्य की इसी कमजोरी को कम्युनिस्टों ने एक शास्त्र का रूप दे डाला है। अपनी बातों को तथा अपने साथियों को सच्चा मानना और अपने विरोधियों को थोथा कहकर उड़ा देना ही तो वह कमजोरी है। कई लोग कहने लगेंगे कि इस कमजोरी की बात पर रोना झींकना व्यर्थ हैं, क्योंकि कम्युनिज्म आ जाने पर मनुष्य की सुख सम्पन्नता में बहुत वृद्धि होगी। मुझे ऐसा विश्वास है कि यह बात ठीक नहीं है। जो लोग इतने अन्ध-विश्वासी हैं कि अपने को इतिहास के नियन्ता और मानव कल्याण के एकमात्र ठेकेदार मानने से उनको अरुचि नहीं होती, उनकी इन्सानियत तो वहीं खत्म हो चुकी। इतिहास की प्रगति में आदर्शों के साथ-साथ आदमी भी साथ देते हैं। आदमी को भुलाकर केवल आदर्शों के बल पर इतिहास को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। यदि आदर्श ही इन्सानियत के खिलाफ हों, तो उनके आधार पर रचित समाज भी वैसा ही होगा। मैं आल्डुअस हक्सले की यह बात पूरी तरह नहीं मानता कि सत्ता सदा भ्रष्ट करनेवाली होती है। तो भी इतना तो मानता हूं कि सत्ता के साथ जहाँ

इन्सानियत और विनयभाव नहीं रहे, वहाँ उसको भ्रष्ट होने से बचाना असम्भव है। विनय भाव के बिना सत्ता दमन, हत्या और मिथ्या–प्रचार का साधन बन जाती है।

मैंने अपने को तथा अपने साथियों को देखा। हमारी कट्टर विचारधारा का हमारे चरित्रों पर प्रभाव पड़ा था। हम मानते थे कि मनुष्य के सम्मुख एक ही आदर्श है और उस तक पहुंचने का एक ही मार्ग है। हमारा सारा दृष्टिकोण विषैला हो गया। जहाँ भी मनुष्य के सुख–दुःख हमारी आदर्श पूजा के काम आते थे, हम उनका लेखा–जोखा ले लेते थे, किन्तु जहाँ वे आदर्श के विपरीत थे, वहाँ हमें उनका ध्यान ही नहीं आता था। हम एक बौद्धिक तर्क–जाल में फँसकर अपनी अनुभूतियों की अवहेलना करते रहते थे। इसलिये जीवन के वास्तव द्वन्द्व और कटुताएँ पूर्णतया देखना हमारे लिये असम्भव बन गया। कम्युनिस्ट बुद्धिवादियों ने तो मानों एकबारगी जीवन का समस्त गणित समझ लिया था। उस गणित के दृष्टिकोण से उनको नफे–नुकसान के समस्त प्रश्नों का उत्तर सदा के लिये मिल चुका था। फिर प्रतिदिन की अनुभूतियों का जमा खर्च भला क्योंकर उनकी रोकड़ में गड़बड़ कर सकता था। बस क्रान्ति ही सारे आकड़ों का केन्द्र–बिन्दु बन गई थी। किसी दिन सारे आंकड़े मिलकर मजदूर–तानाशाही और कम्युनिस्ट समाज के बराबर हो जायेंगे। इस प्रकार की विचारधारा में देख सुनकर मत स्थिर करने के लिये कोई गुँजायश नहीं थी। बुद्धिवादी कम्युनिस्ट निरे सिद्धान्त की बात करता रहता है। उस सिद्धान्त का खण्डन करने वाले तथ्य सामने पड़ते ही वह आँखें बन्द कर लेता हैं। उदाहरण के लिये मैंने एक भी कम्युनिस्ट ऐसा नहीं देखा, जो रूस के सम्बन्ध में रूसी प्रचार के अतिरिक्त और कुछ सुनने में दिलचस्पी रखता हो। जब पैरिस में कम्युनिस्ट और उनके समर्थक रूस के विषय में कोई जानकारी रक्खे बिना ही क्रावचैकों की पुस्तक के खिलाफ गबाही देने के लिये तैयार हो गए, तो मुझे कुछ भी ताज्जुब नहीं हुआ। उनके लिये इतना जानना काफी था कि क्रावचैंको रूस का विरोधी है। बस उनको क्रावचैंको की बेईमानी पर पक्का विश्वास हो गया।

कम्युनिस्टों के चरित्र में भी वैसी ही अनीति की छाप थी। उनकी दृष्टि में साध्य की प्राप्ति के लिये कोई भी साधन ठीक थे। एक कम्युनिस्ट पत्र के प्रतिनिधि ने बड़ी विद्वत्ता के साथ मुझे समझाया कि झूठ बोलना आवश्यक है। कमीसार बने एक लेखक ने एक किस्सा बताया। एक सैनिक पर उसे विश्वास नहीं था। झट उसने सैनिक को युद्ध के ऐसे मोर्चे पर भेज दिया, जहाँ उसका मारा जाना अवश्यम्भावी था। हैरी पौलिट ने १९३९ में एक वक्तव्य दिया कि गणतन्त्र और फासिज्म का युद्ध छिड़ा है। रूस को बात पसन्द नहीं आई। पौलिट ने अपने शब्द वापिस ले लिए और कह दिया कि युद्ध के नाम पर दोनों ओर के साम्राज्यवादी पूँजीवादी लोग एक फजीहत-सी कर रहे हैं। १९४६ में मैं बृटिश कम्युनिस्ट पार्टी के एक लीडर से मिला। वह मुझे दोषी-सा ठहराकर बोला—"जब कि सोवियत् यूनियन के लिये जीवन-मरण का प्रश्न है, तब तुम चन्द हजार पोल लोगों को लेकर क्यों हंगामा करते हो?" इस प्रकार मानों दुनियाँ में सब कुछ एक शून्य था, जिसको रूस के साथ सम्बन्धित होकर ही मूल्य मिल सकता था। यदि पार्टी लाइन बदल जाए और कल तक जिसको गणतन्त्र कहते आए हैं, उसको फासिज्म कहना पड़े तो कम्युनिस्टों को कोई अजीब बात नहीं लगती। गैर-कम्युनिस्ट लोगों का अपने आप में तो कोई मूल्य नहीं, इसलिए अपनी सुविधा के अनुसार पार्टी उनको गधा-घोड़ा जो कुछ कह दे सब ठीक हैं।

इस प्रकार कम्युनिस्ट लोग एक मपे-तुले सिद्धान्त पर यथार्थ को साधते रहते हैं। वे इतिहास को भगवान मानकर मन्त्र-मुग्ध से रहते हैं और इतिहास की ठोस घटनाओं को आँखों से देखने की उन्हें कभी जरूरत नहीं पड़ती। मैं तो कभी मन्त्र-मुग्ध हुआ नहीं और जब मैंने देखा कि जिन बातों के बारे में कम्युनिस्ट को कुछ भी नहीं मालूम, उसके बारे में भी अपने सिद्धान्त के बल पर यह एक राय बना लेता है, तो मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। एक और अजीब बात मैंने देखी। कम्युनिज्म छोड़ देने पर कुछ लोग कम्युनिज्म के विरुद्ध वे ही बातें कहने लगते हैं, जो पहले दूसरों से सुनकर उन्होंने मज़ाक में उड़ा दी थीं। श्रीमती शारलट् हॉल्डेन, एक महिला उपन्यासकार,

कम्युनिस्ट प्रोफेसर हाल्डेन की पत्नी थी। स्पेन के गृह–युद्ध के दिनों में मेरा उससे सम्पर्क हुआ। उस समय वह मन्त्र–मुग्ध अवस्था में थी। एक दिन एक सभा के बाद मैं उस को अपनी मोटर पर लन्दन की एक सड़क पर से ले जा रहा था। बूंदें पड़ रही थीं और ट्राम की बाट जोहनेवालों की कतारें लगी थीं। श्रीमती ने उफनकर कहा—"कैसी शरम की बात है! रूस में लोग कभी भी यह सहन नहीं कर सकते।" मैंने विरोध करते हुए कहा कि कतारें तो रूस में भी लगती हैं और रूस के अख़बारों में उनका जिक्र भी मिलता है। श्रीमती ने मुझे करुणा–भरी आँखों से देखा; जैसे मैं कोई कीट–पतंग हूँ, जिसे एक कम्युनिस्ट महिला का मान रखना नहीं आता। उसके उपरान्त द्वितीय महायुद्ध के दिनों में श्रीमती रूस में गई। स्टालिन के लिए बड़ी भक्तिथी उसके दिल में। किन्तु रूस से आकर उसने पार्टी और प्रोफेसर हाल्डेन दोनों से ही विदा ले ली। उसने एक लेख लिखा, जिसमें उपरोक्त मेरी बात का सबूत मिलता है। उसने कहा—"रूस में कोई नागरिक, वैज्ञानिक अथवा अन्य व्यक्ति जब भी एक शब्द कहता है या एक काम करता है, तो उसे ध्यान रहता है कि कम्युनिस्ट पार्टी की आँखें उस पर टिकी हैं और उसके चारों ओर गुप्तचरों का जाल बिछा है। व्यक्ति ने जीवन में जो कुछ कहा, लिखा अथवा किया है, उस सबका लेखा सरकार के पास रहता है और किसी समय भी वह लेखा उसके विरुद्ध गवाही का काम दे सकता है।"

मैं सोचने लगा कि यह सब जानने के लिए श्रीमती को रूस जाने की क्या जरूरत थी। दर्जनों पुस्तकों में यह सब लिखा था और जीद की 'रूस भ्रमण' तो उसने अवश्य पढ़ी थी। शायद जीद की बात वह न भी मानती कि कम्युनिस्ट किस प्रकार स्वाधीनता का गला घोंटते हैं। किन्तु जीद के विरुद्ध कम्युनिस्टों ने जो हंगामा किया था, वह भी उसने देखा था। उसी से वह समझ सकती थी कि यदि कम्युनिस्टों का बस चलता, तो वह जीद महाशय को क्या दण्ड देते। रूस में जाने के पूर्व जो बातें उसकी समझ में नहीं आती थीं, वे ही अब इतनी साफ दीखने लगीं। बात अजीब–सी लगती है। फिर भी

मैं यह कहूँगा कि श्रीमती ने हृदय-परिवर्तन के बाद बड़ी ईमान्दारी दिखाई। हाल्डेन को ध्यान में रखकर उसी लेख में उसने यह प्रश्न उठाया कि वैज्ञानिक लोग क्यों स्टालिन-भक्त हो जाते हैं। लेखकों की स्टालिन-भक्ति के प्रश्न से यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण था। उसने प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा—"वे लोग शायद एक काले अथवा रंगीन चश्मे में से एक ऐसे 'समाजवादी' देश का नक्शा देखते हैं, जहाँ की सरकार विज्ञान को खोज-बीन के लिए पानी की तरह रुपया बहा देती है, जहाँ वैज्ञानिकों को मोटी तनख्वाहें मिलती हैं और जहाँ अपना काम करते समय वैज्ञानिकों को यह भय नहीं रहता कि उनके आविष्कारों से कुछ मोटे व्यवसायी व्यक्तिगत फायदा उठाएँगे।"

प्रोफेसर हाल्डेन और जे० जी० बर्नेल को मैंने दूर से देखा है। मुझे तो ऐसा ही लगा है कि और लोगों की तरह वे भी इन्सान है। इन्सान, चाहे वे कितने ही बुद्धिमान हों, अपनी दुर्बलताओं से सीमित रहते हैं। और अपनी सीमाओं को समझकर यदि उनमें विनय भाव नहीं आता, तो उनके सिद्धान्तों के बल पर ही उनपर हमें विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। प्रोफेसर हाल्डेन में अनेक गुण हैं, किन्तु विनय भाव उनमें बहुत कम है। जब वे क्रैम्ब्रिज युनिवर्सिटी में पढ़ाते थे, तो उनको सनकी अध्यापक कहा जाता था और आत्म-प्रदर्शन के लिए वे प्रसिद्ध थे। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व जब वे हवाई बचाव के अड्डों पर कुछ प्रयोग कर रहे थे, तो एक बात मशहूर हो गई थी। जब अड्डों पर बम गिराए गए, तो प्रोफेसर ने एक अड्डे में बैठने का हठ किया था। स्पेन के गृह-युद्ध में एक दिन मैं एक पार्टी में गया, जो कि प्रोफेसर की बहिन ने दी थी। हाल्डेन भी आए। वे उन्हीं दिनों स्पेन से लौटे थे। जब तक बच्चों का खेल- कूद होता रहा, वे कुछ अप्रसन्न से बैठे रहे; किन्तु ज्यों ही उनको स्पेन में अपने कारनामों की कथा सुनाकर वहाँ बैठे लोगों को मोहित करने का मौका मिला, वे फूल उठे। मुझे हाल्डेन स्कूल के छात्र से लगे। हंगामा-बाजी कुछ उनको अच्छी लगती है। श्रीमती ने जब यह कहा कि कम्युनिस्ट वैज्ञानिक सोवियत् यूनियन में मान पाने और प्रयोग करने का बहुत

बड़ा क्षेत्र देखते रहते हैं, तो शायद उसने हाल्डेन के चरित्र की किसी और दिशा की ओर संकेत किया था। यह सब बातें मैं हाल्डेन और बर्नैल–जैसे महान् वैज्ञानिकों पर लाञ्छन लगाने की दृष्टि से नहीं कह रहा हूँ। मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि वैज्ञानिक लोग जब अपनी सामाजिक अथवा राजनीतिक धारणाएँ बनाते हैं, तो उनमें वही तटस्थता नहीं होती, जो एक वैज्ञानिक के नाते उनमें देखने की हमें आदत पड़ जाती है। वैज्ञानिक में भी भावावेश की उतनी ही सम्भावना है, जितनी कि एक साधारण व्यक्ति में। और योजनाबद्ध समाज–व्यवस्था के लिए तो वैज्ञानिकों के मन में एक लालच भी होता है।

बर्नैल में हाल्डेन–जैसा बचपन नहीं दिखाई देता; किन्तु वह भी है एक प्रकार का बच्चा ही। वह एक मशीन की नाईं समाज और आदमी को गढ़ना चाहता है। गढ़ने की कल्पना–मात्र से उस का मन फूल उठता है। अपने वैज्ञानिक काम में वह सपने नहीं देखता; किन्तु समाज के विषय में सोचते समय सारा संयम गँवा देता है। हमारे युग में हम वैज्ञानिक को अति–मानव मान बैठे हैं; किन्तु सत्य तो यह है कि अन्य विशेषज्ञों और कलाकारों की नाईं वे भी इन्सानियत से कुछ न्यून हैं। एक ओर तो वे ऐसी योजनाओं के लिए पागल रहते हैं, जिनसे कि सारा समाज उनके प्रयोग करने का एक विशाल क्षेत्र बन जाय। दूसरी ओर वे कभी भी ऐसा संगठन नहीं कर पाते, जिससे कि वे अपने आविष्कारों का दुरुपयोग न होने दें। जब उनसे कहा जाता है कि उन्होंने कितने ही विनाशमय आविष्कार किए हैं, तो वे अपने–आपको शुद्ध वैज्ञानिक कहकर किनारा कर जाते हैं। उनमें परम्परा के प्रति कुछ भी श्रद्धा नहीं रहती। वे सोच ही नहीं पाते कि हमारी आज की सभ्यता संस्कृति में अतीत से चली आई परम्परा का कितना हाथ है। समाज मशीन नहीं है, जिसे तोड़–फोड़कर नित नया बना लिया जाए। यदि पुराने युग के समस्त मकान गिराकर केवल आराम की दृष्टि से मशीननुमा घर बना डाले जाएँ, तो हम क्या खो देंगे, इसका उन्हें कुछ पता ही नहीं।

हिटलर की जर्मनी में वैज्ञानिकों ने जो–जो कुकर्म किए, वे हमें याद रखने चाहिएँ। यहूदियों के हत्या–काण्ड में उनका विज्ञान काम आया और

आदमियों पर उन्होंने पैशाचिक प्रयोग किए। युद्ध के बाद जर्मन वैज्ञानिकों के प्रयोगों का अध्ययन करने मेरा एक मित्र जर्मनी गया था। जो उसे सबसे बुरी बात लगी, वह यह थी कि जर्मन वैज्ञानिकों को जो मनुष्य प्रयोग करने के लिए दिए जाते थे, उन पर वे नृशंस प्रयोग करने से नहीं चूकते थे। बहुत बार तो वे प्रयोग बिल्कुल आवश्यक नहीं थे, केवल अपने मन-बहलावे के लिए ही उन्होंने आदमियों को यन्त्रणा दी। मेरी बात का यह मतलब नहीं है कि और देशों के वैज्ञानिक भी ऐसा ही कर सकते हैं। मैं तो केवल यह बात समझना चाहता हूँ कि विज्ञान में अपने-आप में कोई ऐसी प्रेरणा नहीं जो कि नृशंस काम करने से वैज्ञानिक को रोक सके। यदि नृशंस्ता के विरुद्ध वैज्ञानिक की आत्मा जागती है, तो कोई अन्य मानवीय प्रेरणा पाकर। आधुनिक विज्ञान ने कोई दलील उपस्थित नहीं की कि राष्ट्रों को एक-दूसरे का विनाश करने के लिए विज्ञान का उपयोग नहीं करना चाहिए। विज्ञान तो केवल एक अस्त्र है, जो अपने-आप में बुरा-अच्छा कुछ नहीं। यदि किसी को विज्ञान द्वारा कल्याण की साधना करनी है, तो उसके सामने एक वैज्ञानिक समाज-व्यवस्था के आदर्श से उच्चतर आदर्श होना आवश्यक है। वैसा आदर्श लिए बिना, केवल विज्ञान द्वारा सामाजिक प्रगति को बढ़ाने के लिए एक तानाशाही की कामना करना, विज्ञान का दुरुपयोग ही कहलाएगा। रूस में भी राजनीतिज्ञ ही विज्ञान को राह दिखाते हैं।

जब हाल्डेन, बर्नेल और जोलियत्-क्यूरी को कम्युनिज्म अपनाते देखता हूँ तो मुझे उनके विश्वास में किसी आदर्श की गन्ध नहीं मिलती। उनका विज्ञान में अन्ध-विश्वास ही उन्हें ऐसी प्रेरणा देता है। जब वैज्ञानिक विज्ञान को राजनीतिज्ञों के हाथ में सौंपने के लिए तैयार हो जाते हैं, तो मुझे एक नैतिके अन्धेपन का आभास मिलता है। सो भी ऐसे राजनीतिज्ञ जो अपने राजनीतिक प्रतिपक्षियों को जेल में डालते हैं और जिन्हें वैज्ञानिकों से वैज्ञानिक मामलों पर मतभेद हो जाने पर उनका दमन करने में भी आनाकानी नहीं होती। रूस में यदि वैज्ञानिक ऐसी वैज्ञानिक बातें कहे जो कि प्रचलित राजनीतिक मतामत के विरुद्ध पड़ती हैं, तो वैज्ञानिक की खैर नहीं।

१९३०–४० के दिनों में जब मैंने अपने कम्युनिस्ट साथियों को देखा तो मुझे उनके साहस पर श्रद्धा हुई और उनके काम में मुझे स्वार्थ की गंध नहीं मिली। जिस आदर्श में उनका विश्वास था, उसके लिए उन्होंने खूब बलिदान किया था और–और भी बलिदान करने के लिए वे तत्पर थे। फिर भी मुझे ऐसा लगा जैसे उनके समस्त गुण उनके दुर्गुणों की सेवा में लगे हों और उनके व्यक्त्त्वि नष्ट होते मैंने आँखों से देखे। वो गरीबों को लड़ाना चाहते थे, उनको प्रेमभाव सिखाने की आदत नहीं थी। सत्य मानो एक गुलाम था जिनके लिए कम्युनिस्ट पार्टी के चन्द लीडरों का हुक्म बजाना ही परम कर्त्तव्य था। वे घृणा को क्रियाशीलता की प्रधान प्रेरणा मानते थे। वे भाषा के प्रचलित शब्दों को दूसरे मायनों में उपयोग करके धाँधली फैलाते थे। उनके कोष में 'शान्ति' का अर्थ 'युद्ध' हो सकता था और 'युद्ध' का अर्थ 'शान्ति'। 'एकता' का मतलब था 'बगल में छुरी' और वे 'सोशलिज्म' को 'फासिज्म' कहकर पुकारते थे। कम्युनिस्टों के लिए यदि संयम की आवश्यकता होती थी, तो केवल पार्टी की सेवा के लिए। अन्यथा अहंकार, ईर्ष्या, गद्दारी इत्यादि को अपने व्यक्तित्व से दूर करने का उनमें कोई प्रयत्न मैंने नहीं देखा। यही नहीं, यदि ये दुर्गुण भी पार्टी के काम आ सकते थे तो ये तुरन्त गुण बन जाते थे। प्राय: मैंने देखा कि जिन कम्युनिस्टों में इन्सानियत और हमदर्दी होती थी, वे कमजोर कम्युनिस्ट रहते थे। इन कमजोरियों को रखने वाले कम्युनिस्ट स्वयं यह बात जानते भी थे। मुझे ऐसा लगा कि कम्युनिस्टों को चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : —

(१) बुद्धिवादी लोग जो अमूर्त सिद्धान्तों की बात करते रहते हैं। उनको जैसे हाड़–मांस के इन्सान से कोई सम्बन्ध ही नहीं। वे जानते हैं कि कम्युनिस्ट क्या–क्या क्रूर तरीकों से काम करते हैं, किन्तु उस क्रूरता को 'अनिवार्य' कहकर मन समझा लेते हैं।

(२) वे लोग जो रूस और अपने कम्युनिस्ट बन्धुओं की क्रूरता के विषय में कुछ नहीं जानते और जो एक काल्पनिक कम्युनिज्म का ध्यान करके आत्मतृप्त रहते हैं।

(३) मजदूर लोग जिनके पास खाने के लिए उनकी बेड़ियों के सिवाय कुछ नहीं, जो पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध लड़ते हैं और जिनके लिए रोटी की कीमत आजादी से अधिक है।

(४) पुलिस, राजनीतिक, कमीसार, दलाल, गुप्तचर इत्यादि।

ये अन्तिम कम्युनिस्ट ही पूरे तौर पर कम्युनिज्म के कारागारों और झूठे मुकदमों का रहस्य जानते हैं।

जब मैंने कम्युनिस्ट पार्टी में नाम लिखाया तो मुझे आशा थी कि मुझे कम्युनिस्टों की कार्यवाही के विषय में पूरा ज्ञान हो जाएगा, कि मैं पूंजीवाद के तरीकों से कम्युनिस्टों के तरीकों की तुलना कर सकूंगा, और इस प्रकार साधनों और साध्यों के सही सम्बन्ध के विषय में मेरी आँखें खुलेंगी। मुझे यह नहीं मालूम था कि स्पेन और रूस के कम्युनिस्टों की करतूतों को सुनकर अन्य देशों के कम्युनिस्ट उन्हें मानने से इन्कार कर देंगे। उन करतूतों के विषय में दूसरे कम्युनिस्ट जानकारी ही नहीं रखते, यह तो मैंने कभी भी नहीं सोचा था। यह तो मैं पहले ही बता चुका हूँ कि किस प्रकार चैमर्ज को रूस के मुकदमों में कोई दिलचस्पी नहीं थी और किस प्रकार स्पेन में मेरे साहित्यिक बन्धुओं ने अपने विश्वास के विपरीत बातें सुनने से साफ इन्कार कर दिया था। एक समय आया, जब कि मेरे पास कम्युनिस्टों की करतूत सम्बन्धी दो ऐसे प्रमाण जुट गए, जिनको पार्टी के लोगे झुठला नहीं सकते थे और जिनका उत्तरदायित्व लेना उनके लिये अनिवार्य था। अमेरिका की एक महिला लेखिका ने जिसके पति एक रूसी सज्जन थे, मुझे एक कहानी बताई। वे जब मास्कों में थे, तो एक दिन भोर में पुलिस उनके घर आई ओर उसके पति को पकड़ ले गई। उस बेचारी को कुछ नहीं मालूम था कि उसके पति ने क्या किया था। वह स्वयं कम्युनिस्ट थी। अमेरिका और ब्रिटेन के कतिपय माने हुए बुद्धिवादियों ने उस अभागे पुरुष में दिलचस्पी दिखाई और बात रूस के बाहर सबको मालूम हो गई। कामिटर्न को अनेकों पत्र लिखे गए। पहले-पहले तो उन पत्रों की पहुँच मिली और कहा गया कि जाँच-पड़ताल चल रही है। उसके बाद पहुँच आनी भी बन्द हो गई। दूसरी कहानी मेरे मित्र

व से सम्बन्ध रखती है जो अन्तर्राष्ट्रीय दस्ते में काम करता था। व एक प्रमुख राजनीतिज्ञ का भानजा था। उस की मां का हठ देखकर मामा ने दस्ते के प्रमुखों से याचना की थी कि उसको युद्ध पर न जाने दिया जाए। मैं जब स्पेन गया तो एक भूल कर बैठा। मैंने उसे कह दिया कि उसके मामा ने ऐसा-ऐसा किया है। व बहादुर आदमी था। उसको बहुत क्रोध आया। व दस्ता छोड़ कर भाग निकला और जब पकड़ा गया तो उसने याचना की कि दण्ड के रूप में उसे युद्ध पर भेजा जाए। उसकी बात मान ली गई। मोराटा के युद्ध में व लड़ा। इसके पूर्व जब व कुछ दिन के लिए जेल में था तो एक छोटी-सी कोठरी में अन्य कई कैदियों के साथ उसको रक्खा गया था। जब मैंने इस ओर उसका ध्यान आकर्षित किया तो व बोला—"अरे इसमें क्या बात है? वहाँ तो कुछ ऐसे लोग भी आए जो उस कोठरी को मैदान मानते थे। उन बेचारों को तो कभी-कभी एक आलमारी जितनी कोठरी में दो दो दिन बिताने पड़े थे।" व को कारागार की उस बेदर्दी से कोई दुःख नहीं हुआ और न ही प्रजातन्त्र के प्रति उसका मत बदला। एक प्रकार से अपने कारावास में उसको मजा-सा आता था।

लन्दन के कम्युनिस्ट लेखकों की एक छोटी-सी बैठक में मैंने ये कहानियाँ सुनाते हुए कहा—"मैं जानता हूं कि आप इन कहानियों पर विश्वास नहीं करेंगे, किन्तु मुझे यह मालूम है कि ये कहानियाँ तो प्रतिदिन कम्युनिस्ट शासन में घटती हैं। इसलिए यदि आप इन कहानियों पर विश्वास नहीं करते तो मैं समझूँगा कि सत्य जानने की कोशिश ही आप लोग नहीं करना चाहते। किन्तु यह सब आपको जानना चाहिए। आप यह सब जानते हैं या नहीं और आप यह सब स्वीकार करते हैं या अस्वीकार, यह मेरे लिए आज महत्त्व का प्रश्न है। यदि आप यह सब नहीं जानते अथवा मानने से इन्कार करते हैं, तो मेरा जी ऐसी पार्टी में रहने को नहीं चाहता जिसके सदस्यों को पार्टी की करतूतों का ही ज्ञान नहीं। किन्तु यदि आप इन बातों को सत्य मान कर दलील देंगे कि जनता के सामने यह सब छुपाना आवश्यक है, तो मैं समझूंगा कि आप लोग गम्भीर हैं और शायद आपके दृष्टिकोण से भी सहमत हो जाऊं।"

मैंने बोलना समाप्त किया तो एक लेखक खड़ा होकर बोला— "कामरेड स्पैन्डर की बूर्जुआ मनोवृत्ति को इस प्रकार के किस्से गढ़े बिना सन्तोष ही नहीं होता।"

दूसरा कहने लगा—"यदि हम मान भी लें कि ये सब किस्से सत्य हैं तो भी यह समझने की बात है कि कामरेड स्पैन्डर क्यों ऐसी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देते है। शायद सच्ची समस्याओं से भाग कर पीछा छुड़ाने के लिए ये बहाने खोज रहे हैं।"

तीसरे ने, जो मुझसे कुछ सहानूभुति रखता था, कहा—"देखो स्टीफन तुम तो स्वयं कह रहे थे कि तुम्हारा मित्र व, जिसने यह बात तुम्हें बताई, स्वयं जेल में था। उसके मन में जरूर वैमनस्य रहा होगा। इसलिए उसकी कही बातों के कोई मायने नहीं होते।"

उनको यह बताना फिजूल था कि उसके मन में कोई कड़वाहट नहीं थी और इसीलिए और कई किस्सों में से मैंने उसका किस्सा ही सच्चा मानकर चुना था। उनके तर्क के अनुसार ही मैं भी कह सकता था कि फासिज्म के कारनामों को देखते हुए फासिस्टों के गुनाहों की याद दिलाना बेईमानी है और फासिस्टों के विरुद्ध हमको उन लोगों की बातें नहीं माननी चाहिएँ, जिनको फासिस्टों ने मारा-पीटा है; क्योंकि ऐसे लोगों के मन में फासिस्टों के विरुद्ध कड़वाहट होने के कारण उनकी गवाही की कोई कीमत नहीं रहती। किन्तु यह सब तर्क करना बेकार था। उन लोगों में यह मान्यता ही नहीं थी कि जिस आदर्श के लिए वे लड़ रहे हैं, उसके झण्डे तले यदि गुनाह हों, तो उनको जवाब देना पडेंगा।

मुझे यह जानने की उत्कण्ठा होने लगी कि कम्युनिज्म के विषय में कम्युनिस्ट कितना जानते हैं। अभी भी वह उत्कण्ठा बाकी है। एक कम्युनिस्ट दूसरे से कभी नहीं कहता कि रूस में गुलाम-कैम्प है। यदि कोई कम्युनिस्ट इस ओर संकेत भी कर दे, तो उसे या तो फासिस्ट कहा जाएगा कहा जाएगा कि वह व्यर्थ की बातों में सिर खपाता है। सोचा करता हूँ कि

क्या कभी किसी कॉमिन्टर्न अथवा कॉमिन्फोर्म के अधिकारी ने हैरी पोलिट को कोई ऐसी बात बताई है जो कि मिथ्या प्रचार न हो। कम्युनिस्टों को कम्युनिस्ट देशों के विषय में इतनी अल्प जानकारी होती है कि गैर–कम्युनिस्ट कभी कल्पना ही नहीं कर सकते। फिर भी कम्युनिस्ट सिद्धान्त के अन्तर्गत तानाशाही के जो असूल हैं, वे तो कम्युनिस्टों से छुपे नहीं। १९४७ में हंगरी के कम्युनिस्ट उप–प्रधान मन्त्री राकोसी से मेरी बातें हुई थीं। उसने जो बातें मुझसे कहीं, उनका सार यह था कि ब्रिटिश लेबर सरकार फासिस्ट है। जब मैंने कारण पूछा, तो बोला—"दो सबूत हैं। एक तो उन्होंने ब्रिटिश फौज के समस्त उच्च पदों पर सोशलिस्टों को नहीं नियुक्त किया, दूसरे उन्होंने स्कॉटलैंड यार्ड पर अपना अधिकार नहीं जमाया।"

इस कम्युनिस्ट दृष्टिकोण को समझने की जरूरत है। आज। शायद बारह साल पहले यह दृष्टिकोण हमारे सम्मुख इतना स्पष्ट नहीं हो पाया था। १९४६ की सरदी के दिनों में मैं पराग[१] में बेनेस[२] से मिला था। बेनेस का विचार था कि क्रूर तरीकों से काम लिए बिना शायद रूस के शासक क्रान्ति को पूरा नहीं कर सकते थे। लेकिन बेनेस ने भगवान को धन्यवाद देते हुए कहा कि स्वयं उसके लिए ऐसे क्रूर तरीकों से काम लेने का अवसर कभी नहीं आया। उसे आशा थी कि वैसा अवसर कभी आएगा भी नहीं।

यह प्रबन्ध लिखते समय इस बात का मुझे ध्यान रहा है कि कम्युनिज्म के विरुद्ध आलोचना करने से पूँजीवाद के दुर्गुणों की मार्जना नहीं हो जाती। मुझे इतने सालों तक जो कडुए अनुभव हुए हैं, उनके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि दोनों ही व्यवस्थाओं में दमन, अन्याय, स्वाधीनता का विनाश और अनेक ऐसी ही बुरी बातें हैं। पूँजीवाद चूंकि बहुत दिन पहले पाँव जमा चुका है, इसलिए वह साहित्य और कला की स्वाधीनता दे सकता है तथा राजनैतिक–दलों को भी वाद–विवाद का अवसर मिल जाता है। लेकिन

---

१ चेकोस्लोवाकिया की राजधानी। २. चेकोस्लोवाकिया के उदारवादी राष्ट्रपति, जिनको कम्युनिस्टों के हाथों मरना पड़ा।

अमेरिका के पूँजीवाद को देखकर विश्वास होता है कि युद्ध, शोषण और संसार के विनाश के अतिरिक्त हम पूँजीवाद से कोई आशा नहीं रख सकते। कम्युनिज्म यदि सारे संसार पर छा जाए और उत्पादन के साधनों को समाज की सम्पत्ति बना डाले, तो शायद ऐसी व्यवस्था बन सके, जिसके भीतर आर्थिक विषमताएँ न हों। फिर भी उस वर्गहीन-समाज में संस्कृति की रक्षा के लिए एक और बात की आवश्यकता पड़ेगी। तानाशाही का विनाश।

मार्क्स और कम्युनिस्ट बुद्धिवादी मान बैठे हैं कि तानाशाही का विलोप अनिवार्य है और ठीक समय पर अपने-आप हो जाएगा। वे मानते हैं कि पूंजीवाद का विनाश कुछ ऐसे नियमों को अनुसार होता है, जिनके अंकुर स्वयं पूँजीवाद के भीतर विद्यमान हैं। और मजदूरों द्वारा सत्ता पर अधिकार भी वे प्राय: इन्हीं नियमों के अनुसार मानते हैं। उनका विश्वास है कि जब पूंजीवाद का नाश होने पर उन नियमों के अंकुर नष्ट हो जाँएगे, तो तानाशाही भी अपने-आप मिट जाएगी। जब मजदूरों के शत्रु ही न रह जाँएगे, तो वे तानाशाही का क्या करेंगे। यदि यह तर्क सत्य है, तो कम्युनिज्म के विरुद्ध हमारे समस्त अभियोग व्यर्थ हैं। कुछ काल के लिए जो दु:ख-दर्द उठाना पड़ता है, उसके विरुद्ध शिकायत के क्या मायनी? जिस संसार में समस्त राष्ट्र एक-दूसरे के साथ भ्रातृ-भाव से रह सकेंगे, उसके लिए कुछ दु:ख-दर्द सह लेना क्या बड़ी बात है। किन्तु यदि तानाशाही का विनाश होना अवश्यम्भावी नहीं, तो हमारे सारे अभियोगों में सार है। फिर आज जो दु:ख-दर्द तानाशाही के कारण हो रहे हैं, वे कल भी होंगे, परसों भी—चिर दिन तक होते रहेंगे।

पिछले तीस वर्षों के इतिहास से हमने एक सबक सीखा है। आधुनिक युग में तानाशाही की स्थापना होने पर उसको मिटाना बहुत कठिन है। स्टालिन, हिटलर, मुसोलिनी तथा फ्रैंको को कभी भी देश के भीतर से विद्रोह का सामना नहीं करना पड़ा है। यदि तानाशाही का विनाश कहीं सम्भव हुआ है, तो वहीं—जहाँ कि दूसरे देशों ने युद्ध द्वारा उसकी कमर तोड़ दी है। किन्तु युद्ध से उनके देशों का सम्पूर्ण विनाश भी हो जाता है। इसलिए

यह मानना पड़ेगा कि एक संसारव्यापी तानाशाही को हटाना तो असम्भव हो जाएगा। और रूस में जो कुछ हुआ है, उसके आधार पर यह भी नहीं माना जा सकता कि कम्युनिज्म अथवा किसी भी समाज-व्यवस्था में तानाशाह, नौकरशाही और पुलिस इत्यादि कभी भी अपने-आप सत्ता का त्याग करेंगे। हमें कम्युनिस्ट-राज्य की भावी रूप-रेखा समझने के लिए आज के कम्युनिस्ट देशों में कमीसारों और तानाशाहों का अध्ययन करना चाहिए।

१९३०-४० में मैंने कम्युनिस्ट लेखकों में एक खास आदत देखी थी। आज पूर्वीय युरोप के देशों में लेखकों के संघ बने हैं, जो कि कवियों और उपन्यासकारों को यह बताते रहते हैं कि उन्हें क्या लिखना और अनुभव करना चाहिए। उन दिनों कम्युनिस्ट लेखक जब समाज और कला की समस्याओं पर चर्चा के लिए एकत्र होते थे, तो एक ही बात कहते थे—साहित्य में मार्क्सवादी सिद्धान्तों की पुष्टि होनी चाहिए। उन सिद्धान्तों के अनुसार मजदूर-वर्ग श्रेष्ठ-वर्ग है और क्रान्ति अनिवार्य है। अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों की उनके निकट कोई कीमत ही नहीं थी और एक बौद्धिक वितण्डावाद में वे फँसे रहते थे। अनुभूति की बात वे यदि कभी करते थे, तो बुद्धि द्वारा निर्मित किसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए ही। अपने-आप में अनुभूति को थोथी मानते थे। वे लेखक मार्क्सवाद पर कितना ही सच्चा विश्वास क्यों न रखते हों, उनके इस मनोभाव का साहित्य पर एक असर पड़ना आवश्यक था। जो लोग अच्छे मार्क्सवादी पण्डित थे, वे अच्छे साहित्यकार भी बन बैठे—चाहे उनको लिखना आता हो या नहीं। सिद्धान्त के पण्डित ही साहित्य के आलोचक भी हो गए और वे किसी भी लेखक के राजनैतिक मतामत को सामने रखकर उसके द्वारा लिखे साहित्य का विश्लेषण करने लगे। एक बार हैम्पस्टैड साहित्य-गोष्ठी में बोलने वाले एक कम्युनिस्ट कवि की बातें मैंने सुनीं। कीट्स् की वर्षगाँठ का अवसर था। कवि बोला कि कीट्स चाहे मार्क्सवादी नहीं था, तो भी हमें यह याद रखना चाहिए कि वह एक अश्वपाल का पुत्र था। इसके सिवाय उसे तपेदिक था, जिसकी उस समय की सरकार ने कोई परवाह नहीं की। इसलिए कीट्स् को

हम पूंजीवाद का शिकार तो कह ही सकते हैं। उसी कवि को मैंने कहते सुना था कि जॉयस के उपन्यासों में व्यक्तिवादी बूर्जुआ संसार में नष्ट–भ्रष्ट होते हुए विचारों और भाषा की गन्ध मिलती है। १९४१ में वर्जीनिया वुल्फ ने जब आत्म–हत्या की, तो उन्हीं कवि महाशय ने उनको मृत्यु–वरण के लिए बधाई दी थी और कहा था कि दूसरे बूर्जुआ लेखकों को भी वुल्फ का अनुकरण करना चाहिए।

इन साधारण लेखकों की तोतारटन्त को सुनते–सुनते मुझे ग्लानि होने लगी। इनकी बातों का मतलब था कि एक राजनैतिक सिद्धान्त को मानने वाला इतने ऊँचे आसन पर बैठ जाए कि तमाम साहित्यिक महारथियों को उसका उपदेश पाकर कलम घिसनी पड़े। इसी प्रकार मुझे मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना पद्धति से भी नफरत हुई। उस आलोचना का मतलब था कि समस्त लेखक जाने–अनजाने ऐसी कल्पनाएं करते रहते हैं, जिनसे कि सत्ताशील वर्ग के स्वार्थों की पुष्टि हो सके। मुझे ऐसा लगता है कि यद्यपि दाँते और शेक्सपीयर जैसे कवि एक अंश में अपने युग के राजनैतिक विचारक थे, तो भी उनकी अनुभूतियों में कुछ ऐसी बातें मिलतीं हैं, जो मनुष्य–समाज के साधारण स्वार्थों के बहुत परे चली जाती हैं। समाज चाहे तो उस मनीषियों की अनुभूतियों को जीवन में चरितार्थ कर सकता है। वे अनुभूतियां किसी एक युग के लिए नहीं बल्कि सदा सर्वदा के लिए सत्य होती हैं। इस प्रकार समाज का कल्याण और उत्थान हो सकता है। उन अनुभूतियों को किसी सामाजिक अभीप्सा का प्रतीक मानना भयानक भूल है। मेरे लिए कवियों के विश्वास पवित्र सत्य हैं। जीवन के गूढ़तम रहस्यों की झांकी कवि हमें करा सकते हैं। कवि के विश्वास को मैं समझ न पाऊँ, किन्तु उसको एक सामाजिक घटना–प्रवाह बता देने की धृष्ठता मैं नहीं कर सकता। यदि कला हमें कुछ सिखाती है तो यही कि सारा मनुष्य सामाजिक चारदीवारी में समाकर नहीं रह सकता। कला से बहुत बार समाज को सीखना पड़ता है कि अपने बन्धनों को किस प्रकार ढीला किया जाए। यह मानना ही पड़ेगा कि कला एक ऐसी अनुभूति की वाहक है जो कलाकार के अतिरिक्त और किसी को नहीं होती और जिसे

कलाकार दूसरों को कराना चाहता है। अन्यथा कला भी हमारी अन्य सामाजिक आवश्यकताओं जैसी आवश्यकता बन कर रह जाएगी। कवि और कलाकार को सामाजिक सिद्धान्तों तथा घटनाओं का श्रेष्ठ परीक्षक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार राजनैतिक पण्डितों को कला के पथप्रदर्शक बनने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। किन्तु मैंने देखा कि कम्युनिस्ट कला को एक कटघरे में बाँधना चाहते हैं।

१९३०–४० के दिनों में एक नाटकसंघवालों ने मेरे एक नाटक की आलोचना के लिए एक सभा बुलाई। नाटक रंगमंच पर खेला जा चुका था। एक सजधज वाली कम्युनिस्ट महिला ने खड़ी होकर मेरे नाटक को बुरा–भला कहा। उसने कहा कि नाटक को देखकर उसे और उसके साथी कम्युनिस्टों को घोर निराशा हुई है। उन्होंने आशा की थी कि नाटक में पूँजीपतियों का फासिस्ट स्वरूप, उदारवादियों की दुर्बलताएं तथा कम्युनिस्टों की सचाई की ओर ध्यान आकर्षित किया जाएगा। किन्तु नाटक में इसके विपरीत उदारवाद का समर्थन किया गया था। अन्तिम अंक में तो एक रहस्यवाद की छाप भी थी। महिला कहने लगी कि समाज अपने लेखक से उदारवाद अथवा रहस्यवाद सीखने की आशा नहीं करता, समाज चाहता है संघर्षशील कम्युनिज्म का पाठ पढ़ना। इत्यादि, इत्यादि। यही हैरी पौलिट का भी मत था। जब भी वे मुझे मिलते, कहते थे—“वर्ड्‌ स्वर्थ, बायरन और शैले की नाईं तुम भी मजदूरों के लिए गीत क्यों नहीं लिखते?” मैं भला क्या उत्तर देता। इङ्गलैण्ड के इन पुराने रोमाण्टिक कवियों की मिट्टी पलीद करना मैं नहीं चाहता था, अन्यथा विवाद करने पर तुल जाता। कुछ लोग शायद सोचें कि वह महिला और हैरी पौलिट तो भद्दे से उदाहरण हैं। मैं कहना चाहता हूं कि स्टालिन का दृष्टिकोण उससे भी भद्दा है। हाँ, उसके कहने का ढंग जरूर अधिक जोरदार है। बहुत बार भद्दी बात को भी तरीके से कहकर जोरदार बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए चेकोस्लोवाकिया की बात कहूँगा। १९४७ में वहाँ के एक बड़े विश्वविद्यालय में रूस के एक कम्युनिस्ट प्रोफेसर रूसी भाषा पढ़ाते थे। उस समय सोवियत् यूनियने के लेखक संघ ने कुछ

रूसी लेखकों को खूब बुरा–भला कहा। प्रोफेसर ने लेखक संघ का समर्थन करते हुए कहा कि रूस को अच्छे लेखकों की जरूरत नहीं। बोले—"माना कि ये सब हमारे श्रेष्ठ लेखक हैं। परन्तु हमें अच्छे लेखक महंगे पड़ते हैं। हमारे श्रेष्ठ कवि ऐसी कविताएं करते हैं कि जनता में जीवन के प्रति अश्रद्धा उमड़ती है और लोग आत्महत्या करना चाहने लगते हैं। लेकिन हम तो जनता से काम कराना चाहते हैं, इतना काम जितना कि उन्होंने पहले कभी नहीं किया। इसलिए हम कवियों को यह कहने की इजाजत नहीं दे सकते कि जनता असन्तुष्ट है।"

बस मैं इन तमाम बातों को भुलाकर मुख्य बात को ही लेना चाहता हूं। यदि हिंसा, गुलाम–मजदूर कैम्प, विज्ञान और कला के ऊपर अत्याचार द्वारा अन्ततः एक वर्गहीन समाज की स्थापना सम्भव हो तो मैं उनका विरोध नहीं करूँगा। यदि कम्युनिज्म में एक न्यायपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समाज व्यवस्था गढ़ने की क्षमता है तो उसके विपरीत समस्त आरोप बे–मायनी हो जाएंगे। किन्तु मेरी धारणा है कि आज की कम्युनिस्ट पार्टियों में एक अच्छा समाज गढ़ने की क्षमता बिल्कुल नहीं है। प्रस्तुत समाज को और पीछे हटाने में शायद वे सफल हो जाएं। इसका कारण यह है कि एक मुट्ठी भर लोगों के हाथ में समस्त सत्ता इकट्ठी हो जाती है और इन थोड़े से लोगों के कामों की कोई आलोचना नहीं कर सकता। यदि वे कोई अत्याचार करना चाहें तो उससे बचने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उनमें अधिकतर बर्बरता, बदले की भावना, ईर्ष्या, लोभ और सत्ता की आकांक्षा ही देखी जाती है। और चूंकि मैं कम्युनिस्ट संघठन को वर्गहीन समाज का स्रष्टा मानने को तैयार नहीं, बल्कि एक घृणित नौकरशाही की भूमिका मानता हूं, इसलिए मैं अपनी विवेक–बुद्धि उस संघठन की भेंट चढ़ाना नहीं चाहता। चाहे मैं कितना ही अकिंचन हूँ और कम्युनिस्ट कितना ही सत्ताशील, मेरी बात में अन्तर नहीं पड़ता।

कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर सत्ता का अभूतपूर्व रूप से केन्द्रीकरण हो गया है। राज्य की बागडोर संभालते ही कम्युनिस्ट पार्टी और सब पार्टियों को मिटा देती है। इस प्रकार अन्ततः सारी सत्ता सिमट कर दो चार लोगों के हाथों

में आ जाती है, और समाज के समस्त काम उन्हीं के राजनैतिक नियन्त्रण पर चलने लगते है। कला का राजनैतिक नियन्त्रण अन्त में कला का ध्वंस कर डालता है। चाहे पुलिस से घिरा तानाशाह अटल बना रहे, कला के ध्वंस से अनेक लोगों के लिए घोर यन्त्रणा की परिस्थिति उपस्थित होना भी अनिवार्य है। रूस में तो कला का आमूल उच्छेद हो चुका है। यह बात तो स्वयं कम्युनिस्टों ने भी बहुत बार मानी है। १९४५ में इल्या आयरनबुर्ग ने पेरिस में मुझसे कहा था कि चित्रकारी की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में रूस भाग नहीं ले सकता, क्योंकि रूस के पास अच्छे चित्र ही नहीं है। उसने यह भी माना कि अच्छे उपन्यास आजकल अमेरिका में ही लिखे जा रहे हैं। रूस का संगीत ही उसने श्रेष्ठ बतलाया। एक हंगेरियन कम्युनिस्ट ने तो यह भी कहा कि रूसियों ने साहित्य और चित्रकारी को तो नष्ट कर डाला है और अब संगीत के विनाश की तैयारी कर रहे हैं।

कलाकार समाज का सबसे अधिक चेतनाशील व्यक्ति होता है। वह पक्के तौर पर यह नहीं जता सकता कि सारी मानव जाति के लिए क्या-क्या आवश्यक है, किन्तु व्यक्तियों की भावना और अनुभूति की समझ रखने के कारण वह उनके दु:खसुख की बात खूब समझता है। कलाकार व्यक्तिवादी होता है इसका यह अर्थ नहीं कि वह केवल अपने लिए ही कला की सृष्टि करता है। इस बात का यहीं मतलब है कि वह अपनी अनुभूति को ऐसे स्तर से आँकता और लिखता है जिसका कि सम्बन्ध बहुत लोगों की अनुभूति से होता है। किन्तु उन अनुभूतियों का जनता की सामाजिक जरूरतों से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। कला और साहित्य किसी युग के ठोस व्यक्ति के साक्षी होते हैं। व्यक्ति को ठोक पीट, कूट पीस कर सरकारी फार्म के कॉलम भरने का मसाला बना डालने की कोशिश करना एक बात है और कला का सृजन दूसरी बात। कला के माध्यम से विभिन्न व्यक्ति अपनी एकता और अनेकता की चेतना पाते हैं। कला का गला घोटने का मतलब मानव जाति की आत्मचेतना का द्वार रुद्ध कर डालना है। यह विश्वास करना कठिन है कि कोई सरकार कलाकार और साहित्यकार की स्वाधीनता छीनकर

जनता के जीवन में सुखे जुटा सकती है। सरकारी राजनैतिक पक्ष के विरुद्ध भी हो तो भी कलाकारों को अपनी अनुभूतियों के निवेदन की स्वाधीनता तो मिलनी ही चाहिए। कला का स्थान यदि राजनीति ले लेगी तो जीवन यन्त्रवत् और खोखला हो जाएगा। कला का उन्मूलन करना वास्तव में एक प्रकार का पागलपन है, जैसे कि किसी व्यक्ति के कानों को बहरा करके उसे मन को अच्छे लगनेवाले स्वर सुनने से रोका जाए और बदले में उसे माइक्रोफोन दिए जाएं, जिनकी सहायता से वह सरकारी प्रचार का स्वर ही सुन सके। फिर भी इसी स्वाधीनता को लोग एक नारे के बदले में बेचने के लिए तत्पर हो जाते हैं। नारा कहता है कि स्वाधीनता का असली अर्थ है परिस्थितियों के बन्धनों को समझ कर स्वीकार कर लेना। और जब परिस्थितियों का परिचय देना सरकार का दायित्व बन जाए तो एक अमूर्त, सामूहिक मानव की बुद्धि-कल्पित आवश्यकताएँ सब जीते-जागते व्यक्तियों की आवश्यकताएँ बन कर रह जाएंगी। कला की स्वीधीनता का सही मतलब है कि प्रत्येक मानव-प्राणी एक व्यक्ति भी है। कला कोई राजनैतिक तत्व नहीं, फिर भी उसका राजनीति पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि कला द्वारा ही हम राजनीतिक स्वाधीनता की परिभाषा को उत्तरोत्तर अधिक व्यापक बनाना सीखते हैं। इस व्यापकता के कारण ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम जीवन की नई-नई झाकियाँ देखते हैं और समाज के राजनीतिक आदर्शों की परिभाषाओं को भी व्यापकतर बनाते चलते हैं।

मेरा कोई विपक्षी आलोचक कह सकता है कि इस निबन्ध में मैंने कम्युनिज्म का विश्लेषण करने की बजाय आत्मविश्लेषण ही अधिक किया है। मैं मानता हूं। मैंने कम्युनिज्म की पृष्ठभूमिका में आत्मविश्लेषण किया है। मैं कम्युनिज्म का विश्लेषण करने जैसे निरर्थक काम में समय बरबाद करना नहीं चाहता। कम्युनिज्म का विश्वास है कि समाज-परिवर्तन करने के लिए मनुष्यों को परिवर्तन करने वाली मशीनें बनाना पड़ेगा। जो आज की समाज-व्यवस्था से मेरी तरह असन्तुष्ट हैं, वे इस विश्वास को अस्वीकार नहीं कर सकते, केवल इसके प्रति अपना दृष्टिकोण बता सकते हैं। मैंने वही किया

है। आत्मिवश्लेषण के सिवाय कोई किनारा ही नहीं। अपने आत्मविश्लेण की सीढ़ियों पर एक दृष्टि डालता हूं तो निम्नलिखित मंजिलें मिलती हैं।

हैरी पौलिट के साथ मेरी मुलाकात से मेरा आत्मविश्लेषण आरम्भ हुआ। उसने कहा कि पूँजीवाद से घोर घृणा करना आवश्यक है। मुझे अपने भीतर ऐसी घृणा की कोई प्रेरणा नहीं मिली।

मुझमें एक सामाजिक और नैतिक आत्मग्लानि की भावना ने सिर उठाया। मुझे ऐसा लगने लगा कि मुझे प्रस्तुत संघर्ष में पक्ष लेने का फैसला करना चाहिए। मुझे यह भी प्रेरणा मिली कि मजदूर आन्दोलन के साथ सहयोग करके मुझे अपने अतिशय व्यक्तिवाद को घटाना चाहिए।

आज मुझे स्पष्ट दीख पड़ता है कि एक बार पक्ष ले लेने पर मुझे कम्युनिस्ट पार्टी में भरती होने की जरूरत नहीं थी। जो भी सामाजिक न्याय और स्वाधीनता में विश्वास रखते थे और जो अपने आदर्शों की सिद्धि के लिए आवश्यक साधनों को समझ कर सच बोलने के लिए तैयार थे, उन्हीं का पक्ष मैंने लिया था। यदि राजनीतिज्ञ लोग खुले तौर पर ईमानदारी के साथ अपना मत नहीं बता सकते तो बुद्धिवादी को चाहिए कि सबसे कम बेइमान राजनीतिज्ञ का पक्ष ले। राजनीतिज्ञ की सहायता करते समय बुद्धिवादी को उसकी आलोचना भी करते रहना चाहिए। हिंसा और झूठ का भण्डाफोड़ अत्यन्त आवश्यक है।

उदारवादी व्यक्तियों ने १९३०–४० के जमाने में एक नैतिक अन्तर्द्वन्द झेला था। द्वन्द का विषय था साधन और साध्य का सम्बन्ध। एक तर्क था कि सत्ता प्राप्त करने के लिए बुरे साधन भी अपनाने चाहिएँ। किन्तु उन बुरे कामों को करते समय यदि करनेवालों पर उंगली उठाई जाती थी तो वे बिगड़ने लगते थे। एक लेखक और बुद्धिवादी के नाते इस धांधली का किनारा खोजना मेरा कर्त्तव्य बन गया। आरम्भ में तो मुझसे कुछ भूलें हुईं। मेरे भीतर जो कुछ मूल्यवान था उसी के लिए मैंने अपने–आप को टोंचा । एक ओर तो मुझे समाज की वेदना हिला देती थी। किन्तु सभी ओर से मैं अपने भीतर एक ऐसे व्यक्तित्व का आभास पाता था जो किसी भी सामाजिक आन्दोलन में

मर–मिटने के लिए तैयार नहीं था। उस व्यक्तित्व में सबके लिए करुणा और मैत्रीभाव था। इसीलिए मैं आसानी से पक्ष नहीं ले सकता था। इसी बात को लेकर मैंने अपने–आप को कोसा। फिर मुझे ऐसा लगा कि करुणा, मैत्रीभाव और व्यक्तित्व स्वाधीनता के आदर्शों की प्रेरणा ने ही मुझे कम्युनिस्ट बनाया है। कम्युनिस्ट कहने लगे कि ये सब भावनाएं बूर्जुआ हैं और पार्टी में भरती होने के बाद इन सबको कुचल देना चाहिए। बात मेरी समझ में नहीं आई।

आज मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि बिना कोई पक्ष लिए जो कुछ मुझे ठीक जंचता है उसी का समर्थन मुझे करना चाहिए। आज संसार में दो पक्ष हैं, किन्तु मैं जिस सुलझाव को संसार की उलझनों का एकमात्र सुलझाव मानता हूँ, उसको कोई–सा पक्ष नहीं मानता। मेरा सुलझाव सीधा सा है। जो लोग और जो राष्ट्र स्वाधीनता के प्रेमी हैं उन्हें चाहिए कि संसार के दीन–दुखी जनगण के लिए कुछ ठोस काम करें। जनगण आज स्वाधीनता की बजाय रोटी के लिए अधिक तरसता है। उनकी भूख को मिटा कर उन्हें उस स्तर तक उठा लेना जहाँ कि वे स्वाधीनता की कीमत समझने लगें, हमारा कर्त्तव्य है। संसार के जो मुट्ठी भर लोग स्वाधीनता के प्रेमी हैं, उनको अपने स्वार्थ जनगण के स्वार्थों के साथ जोड़ने होंगे। और आज जनगण का सबसे बड़ा स्वार्थ है रोटी। यह मेल नहीं हुआ तो स्वाधीनता का लोप होने में मुझे सन्देह नहीं।